अपरोक्षानुभूति

प्रवचन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

अपरोक्षानुभूति-प्रवचन

(श्रीविद्यारण्य स्वामी कृत 'दीपिका' व्याख्या सहित)



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460



संन्यास जयन्ती 18 फरवरी 1992
तृतीय संस्करण 18 फरवरी 1997
चतुर्थ संस्करण 31 जुलाई 2000
पंचम संस्करण 29 मार्च 2002
षष्ठ संस्करण 25 जून 2007
सप्तम संस्करण : फरवरी 2012

अष्टम संस्करण 500
महाशिवरात्रि 2018



मूल्य रु. 120/-



मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन (0542) 2392337

द्वितीय संस्करण :

प्रकाशकीय

अपरोक्षानुभूति-प्रवचन पुस्तककी माँग वर्षोंसे थी, हमें दुःख है कि हम इसका द्वितीय संस्करण शीघ्र प्रकाशित कर आपकी सेवामें प्रस्तुत न कर सके।

इसका प्रथम संस्करण स्वर्गीया श्रीमती राजकिशोरीजीकी पुण्य स्मृतिमें श्रीरामकिशोर शरण, श्रीनवलकिशोर शरण, श्रीराजकिशोर शरण, श्रीनिर्मल शरणने प्रकाशित करवाया था। वे इस कार्यके लिए धन्यवादार्ह हैं।

हम अपने अन्य प्रकाशन जो अप्राप्य हो गये हैं, यथाशीघ्र पुनर्मुद्रणके लिए सचेष्ट हैं।

अपने सहयोगसे अनुगृहीत कीजिये।

प्रकाशक
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई / वृन्दावन

सातवाँ संस्करण

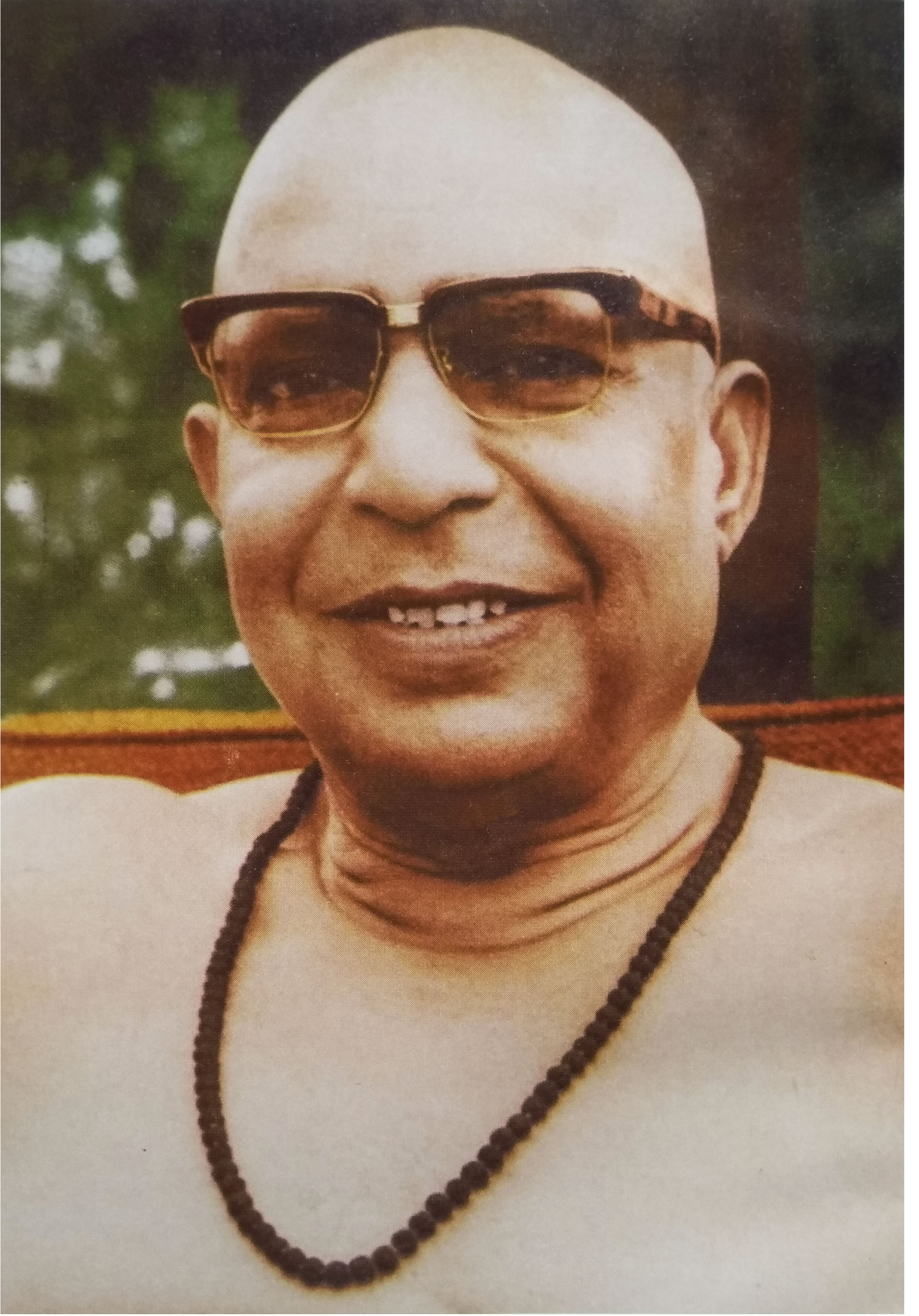
प्रकाशकीय

पूज्य महाराजश्रीके 'आनन्द महोत्सव' पर अनेक ग्रन्थ जनता जनार्दन द्वारा खरीद लिये गये। फलस्वरूप 40 से अधिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हो गये।

पुनर्प्रकाशनका कार्य परमपूज्य महन्तश्री स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके निर्देशनमें द्रुत गतिसे हो रहा है। अगले 3 माहमें सभी ग्रन्थ उपलब्ध हो सकें, ऐसा प्रयास है।

इसी श्रृंखलामें प्रस्तुत पुस्तिकाका सप्तम संस्करणका प्रकाशन किया जा रहा है।

–सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी



श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत-

अपरोक्षानुभूति

(श्रीविद्यारण्य स्वामी कृत 'दीपिका' व्याख्या सहित)

अनुक्रम

●

मङ्गलाचरण

● **संगति**

ग्रन्थकर्ताओंका विश्वास रहा है कि मंगलाचरण करके यदि ग्रन्थका प्रारम्भ किया जाय तो ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त होता है। भगवान् शंकराचार्यजीने भी इस मर्यादाका पालन करते हुए अपने ग्रन्थके आरम्भमें यह मंगलाचरण किया है। ●

श्रीहरिं परमानन्दमुपदेष्टारमीश्वरम्।
व्यापकं सर्वलोकानां कारणं तं नमाम्यहम्॥ 1॥

★ श्रीगणेशाय नमः ★

स्वप्रकाशश्च हेतुर्यः परमात्मा चिदात्मकः।
अपरोक्षानुभूत्याख्यः सोऽहमस्मि परं सुखम्॥ 1॥
ईशगुर्वात्मभेदाद्यः सकलव्यवहारभूः।
औपाधिकः स्वचिन्मात्रः सोऽपरोक्षानुभूतिकः॥ 2॥
तदेवमनुसन्धाय निर्विघ्नां स्वेष्टदेवताम्।
अपरोक्षानुभूत्याख्यामाचार्योक्तिं प्रकाशये॥ 3॥
यद्यपीयं स्वतः स्पष्टा तथापि स्वात्मसिद्धये।
यत्नोऽयं सोऽपि संक्षेपात् क्रियतेऽनर्थनाशनः॥ 4॥
क्वाहमुल्काकरः क्वायं सूर्यस्तेजोनिधिः किल।
तथापि भक्तिमान् कः किं न कुर्यात् स्वहिताप्तये॥ 5॥

तत्राचार्याः स्वेष्टपरदेवताऽनुसन्धानलक्षणं मङ्गलं निर्विघ्न-ग्रन्थसमाप्तये स्वमनसि कृत्वा शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादौ निबध्नन्ति-श्रीहरिमिति॥ अहं तं नमामीत्यन्वयः। अत्रैयं प्रक्रिया—पदार्थो द्विविधः—आत्माऽनात्मा चेति। तत्रात्मा द्विविधः—ईश्वरो जीवश्चेति। एतावपि द्विविधौ शुद्धाऽशुद्धभेदात्। तत्राऽशुद्धौ मायाऽविद्योपाधित्वेन भेदव्यवहारहेतू,शुद्धौ त्वभेदव्यवहार-हेतू। तथाऽनात्मापि त्रिविधः कारणसूक्ष्मस्थूलभेदात्। एतदेव शरीरत्रयमिति व्यवह्रियते। एवं चिज्जडरूपवैलक्षण्यात्तमः-प्रकाशयोरिव विभक्तयोरुभयोरात्मानात्मनोरविवेक एव बन्धकारणम्। तयोर्विवेकस्तु मोक्षकारणमिति दिक्। तत्र तावदहंशब्देन देहत्रयविशिष्टत्वेनाशुद्धो जीवः अस्यैवाऽकृष्टत्वात् तं नमामि, तं मायातत्कार्यहन्तृत्वेऽपि तदाश्रयभूतत्वेन सर्वकारणं वेदान्तप्रसिद्धमीश्वरम्, एतस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वात् नमामि नमस्करोमि स्वात्मत्वेनानुसन्दधामीत्यर्थः। तस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वेनानुसन्धानयोग्यत्वमाह—श्रीहरिमिति। श्रियं दधानमित्यर्थः। यद्वा—स्वाश्रयतया श्रियते स्वीक्रियते प्रलयसुषुप्त्यादौ सर्वभूतैरिति श्रीर्जीवत्वो-पाधिभूताऽविद्या तां हरत्यात्मज्ञानप्रदानेन नाशयतीति श्रीहरिस्तम्। यद्वा—स एव सर्वाधिष्ठानतया श्रीरित्युच्यते। श्रीरेव हरिस्तम्। ननु किमनेनाऽविद्यातत्कार्यहरणे-नेत्याशङ्क्य परमपुरुषार्थप्राप्तिर्भवतीति सूचयितुं तस्य परमानन्दरूपतामाह—परमानन्दमिति। परमोऽविनाशित्वनिरतिशयत्वाभ्यामुत्कृष्ट आनन्दः सुख-विशेषस्तद्रूपमित्यर्थः। तर्हि वैषयिकसुखवज्जडः स्यादित्यत आह-उपदेष्टारमिति। आचार्यद्वारात्मसुखोपदेशकं चिद्रूपमित्यर्थः। ननु केवलानन्दस्य कथमुपदेष्टृत्वमित्यत आह—ईश्वरमिति। ईष्टेऽसावीश्वरः विचित्रशक्तित्वात्सर्वसमर्थस्तं नमामीत्यन्वयः। एवमपि परिच्छिन्नत्वात् घटादिवदनात्मत्वं स्यादित्यत आह—व्यापकमिति। स्वसत्ताप्रकाशाभ्यां नामरूपे व्याप्नोति स व्यापकस्तं परिच्छेदकस्य देश-कालादेर्मायिकत्वादनन्तमित्यर्थः। ननु व्याप्यव्यापकभावेनानत्वमसिद्धमित्यत आह-सर्वलोकानां कारणमिति। अभिन्ननिमित्तोपादानमित्यर्थः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आत्मनात्मानमभिसंविवेश' इत्यादिश्रुतेः॥ 1॥

सर्वसमर्थ, व्यापक और समस्त लोकोंके कारण परमानन्द-स्वरूप श्रीहरिके उपदेष्टाको मैं नमस्कार करता हूँ॥ 1॥

इस मंगलाचरणमें ईश्वर और सद्गुरुको एक माना गया है—'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म।'

उपदेष्टारम्—उपदेष्टा हैं सद्गुरु, और उपदेश है परमानन्दस्वरूप श्रीहरिके सम्बन्धमें। अत: श्लोकमें आये सभी विशेषण 'श्रीहरिम्' तथा 'ईश्वरम्' इन दोनों पदोंके हैं। इस प्रकार दोनों एक हैं, अभिन्न हैं, क्योंकि सर्वव्यापक तथा विश्वप्रपञ्चके कारण दो नहीं हो सकते।

'उप' उपसर्गपूर्वक 'दिश्' धातुसे 'तृन्' प्रत्यय मानकर यह अर्थ किया गया है। श्री विद्यारण्यस्वामीने अपनी 'दीपिका'में 'तृच्' प्रत्यय मानकर 'उपदेष्टारम्'को 'श्रीहरिम्'का विशेषण मानते हुए 'उपदेष्टारम्'का अर्थ लिखा है—'आचार्यद्वारात्मसुखोपदेशकम्' अर्थात् आचार्यद्वारा आत्मसुखके उपदेशक। किन्तु इससे भी श्रीहरि और उपदेष्टा (सद्गुरु)की अभिन्नताका ही बोध होता है क्योंकि आचार्यके शरीरमें समवस्थित होकर उपदेश देनेवाले श्रीहरिसे आचार्य (सद्गुरु)को भिन्न कैसे माना जा सकता है!

तमहं नमामि—'उन (सद्गुरुरूपी श्रीहरि)को मैं नमस्कार करता हूँ।' 'नमामि' अर्थात् अपने अहंकारका परित्याग करता हूँ। मेरी सत्ता, मेरा ज्ञान और मेरा आनन्द उनकी सत्ता, ज्ञान तथा आनन्दसे पृथक् नहीं है।

सद्गुरुको नमस्कारका अर्थ यह है कि मैं उनकी बतलायी हुई पद्धतिसे आचरण एवं विवेक-विचार करूँगा तथा उन्हींकी बतलायी हुई पद्धतिसे विवेकमें स्थित होऊँगा।



● संगति

ग्रन्थ हाथमें आते ही पाठकको स्वाभाविक रूपसे यह जिज्ञासा होती है कि यह ग्रन्थ किसके लिए लिखा गया है, इसमें क्या विषय है, इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषयसे क्या सम्बन्ध है और यह क्यों लिखा गया? यही अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन अनुबन्ध-चतुष्टय कहे जाते हैं। उपयोगिता तथा मर्यादा-पालनकी दृष्टिसे अनुबन्ध-चतुष्टय दर्शाते हुए ग्रन्थकार अब अपने ग्रन्थका नामकरण कर रहे हैं। ●

अपरोक्षानुभूतिर्वै प्रोच्यते मोक्षसिद्धये।
सद्भिरेव प्रयत्नेन वीक्षणीया मुहुर्मुहुः ॥ 2 ॥

इदानीं प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽनुबन्धचतुष्टयं दर्शयन् स्वचिकीर्षितं प्रतिजानीते— अपरोक्षेति। वै इत्यव्ययेन विद्वदनुभवं प्रमाणयति। तथाचायमर्थः— विद्वदनुभवप्रसिद्धा या तत्त्वमस्यादिमहावाक्यश्रवणजा प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषया अपरोक्षानुभूतिः=अक्षाणामिन्द्रियाणां परमतीतं न भवतीत्यपरोक्षमिन्द्रियाधिष्ठान-तत्प्रकाशत्वाभ्यां नित्यप्रत्यक्षस्वप्रकाशात्मतत्त्वं तस्यानुभूतिर्वृत्त्यारूढाखण्डता। यद्वा-अपरोक्षा चासावनुभूतिश्चेत्यपरोक्षानुभूतिर्विद्याऽपरपर्यायो ब्रह्मसाक्षात्कारः। तत्साधनग्रन्थोऽप्युपनिषच्छब्दवदपरोक्षानुभूतिशब्देनोपचर्यते । झटित्यवलोकन-मात्रेणैवोत्तमाधिकारिणां ब्रह्मात्मसाक्षात्कारकारणं ग्रन्थविषय इत्यर्थः। अनेन नित्यापरोक्षब्रह्मात्मतत्त्वविशेषो यो दर्शितः स प्रोच्यते=प्रकर्षेण तत्तदाशङ्कानिरा-करणपूर्वकं सिद्धान्तरहस्यप्रदर्शनरूपेणोच्यते, कथ्यत इत्यर्थः। अस्माभिः पूर्वाचार्यैरित्यर्थादध्याहारः। ननु प्रायः 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति न्यायान्नारम्भणीयो ग्रन्थ इत्याशङ्क्य प्रयोजनमाह-मोक्षसिद्धय इति। मोक्षोनाम स्वाविद्याकल्पितानात्मदेहाद्यात्मत्वाभिमानरूपबन्धनिवृत्तिद्वारा स्वस्वरूपावस्थानं तस्य सिद्धिः प्राप्तिस्तदर्थम्। अनेन सर्वानर्थनिवृत्तिद्वारा परमानन्दावाप्तिरूपं प्रयोजनं दर्शितम्। किं लक्षणाऽपरोक्षाऽनुभूतिः? सद्भिः=साधुभिर्नित्यानित्यवस्तुविवेकादि साधनचतुष्टयसंपन्नैर्मुमुक्षुभिरित्यर्थः। एवशब्दान्नान्यैः कर्मोपासनाधिकारिभिरिति भावः। मुहुर्मुहुर्नैरन्तर्यदीर्घकालाभ्यासप्रयत्नेन स्नानभिक्षादावप्यनादरं कृत्वेत्यर्थः। वीक्षणीया=गुरुमुखादवगत्य विचारणीया। अनेन मुमुक्षुरधिकारी दर्शितः।

एतेनैवार्थात् पूर्वकाण्डोत्तरकाण्डयो साध्यसाधनभावः सम्बन्धश्च दर्शितो भवतीति बोद्धव्यम्॥ 2॥

विद्वानोंके अनुभव-द्वारा प्रमाणित यह 'अपरोक्षानुभूति' मोक्षकी सिद्धिके लिए कही जा रही है। सज्जनोंके द्वारा यह प्रयत्नपूर्वक बार-बार देखने-पढ़ने योग्य है॥ 2॥

अनुभव दो प्रकारका होता है—1. प्रत्यक्ष, 2. परोक्ष।

'घड़ी सामने रखी है'—यह प्रत्यक्ष अनुभव है। रूपका प्रत्यक्ष नेत्रोंसे रसका जिह्वासे, गन्धका नासिकासे, स्पर्शका त्वचासे तथा शब्दका प्रत्यक्ष कर्णोंसे होता है। 'अक्ष' का अर्थ है इन्द्रियाँ, और 'प्रति' का अर्थ है प्रत्येक। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय-द्वारा होनेवाला एक-एक विषयका ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

परोक्ष अनुभव इन्द्रियोंसे नहीं अपितु अनुमानसे होता है। जैसे किसी सज्जनको कुछ समय पहले घरपर देखा है किन्तु बाहर जाते नहीं देखा अतः अनुमानसे जान लिया कि वे घरपर ही हैं।

परोक्षज्ञान दो प्रकारका होता है—1.अपने विषयमें, 2.अन्यके विषयमें।

अपने अथवा दूसरेके विषयके ज्ञान तभी तक परोक्ष रहता है जबतक हम अपना या दूसरेका साक्षात्कार नहीं कर लेते।

परोक्षज्ञान अनुमानसे होता है और अनुमान प्रत्यक्षका अनुगामी होता है। घरमें आग जलते देखा तो यह भी देख लिया कि आग जलनेसे धुआँ होता है। अब पर्वतपर धुआँ दिखलाई पड़ा तो अनुमान कर लिया कि अवश्य वहाँ कहीं आग जल रही है। जंगलमें चले जायँ तो वहाँ आग प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ जायगी। इस प्रकार प्रत्यक्षमें-से अनुमान निकलता है। अनुमान प्रत्यङ्मूलक एवं प्रत्यक्षफलक होता है।

यह अनुमान तीन प्रकारसे होता है—1. कार्यको देखकर कारणका अनुमान, जैसे धुएँको देखकर अग्निका अनुमान। 2. कारणको देखकर कार्यका अनुमान, जैसे घटा देखकर वर्षा होनेका अनुमान। 3. सृष्टिमें सामान्यतः देखे जानेवाले सम्बन्धोंका अनुमान, जैसे गाय और बछड़ा साथ हों तो यह अनुमान कि गाय बछड़ेकी माँ है।

अनुमानज्ञानका बहुत बड़ा उपयोग है। वैज्ञानिक यन्त्र चाहे जितने

विकसित हो जायँ, उनके द्वारा प्रत्यक्षज्ञान हम उन्हीं वस्तुओंका कर सकेंगे जो इन्द्रियगम्य हैं। पञ्चतन्मात्राएँ, अहंकार महत्तत्त्व और प्रकृति—इनका ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता क्योंकि जिन इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है उनसे ये सूक्ष्म हैं, अन्तरंग हैं। इन तत्त्वोंके होनेका अनुमान मात्र होता है। यदि हम अभ्यास करके अन्तरमें लौट जायँ तो इनका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। योगाभ्याससे पञ्चतन्मात्राओं तथा अहंकार-तत्त्व, महत्तत्त्वका भी प्रत्यक्ष होता है।

परोक्षका प्रत्यक्ष अभ्यास अथवा उपासनासे होता है। सामान्य रूपमें स्थूल पदार्थोंका प्रत्यक्ष और सूक्ष्म पदार्थोंका अनुमान होता है। योगाभ्याससे प्रकृति और ईश्वरको छोड़कर अन्य सूक्ष्म तत्त्वोंका भी प्रत्यक्ष हो सकता है। ईश्वरका प्रत्यक्ष भक्तिके बिना नहीं होता। अभ्यास करते-करते चित्तवृत्तिका निरोध होनेके अनन्तर जब द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है तब उसे प्रकृतिके समग्र तत्त्वोंका ज्ञान हो जाता है।

प्रकृति और ईश्वर ये दोनों कभी परोक्ष नहीं होते। ये सदा अपरोक्ष रहते हैं;किन्तु विवेक एवं अभ्यासके बिना इनका अपरोक्ष नहीं होता।

अब भी अपना स्वरूप शेष रह जाता है। अपना स्वरूप नित्य अपरोक्ष है। घड़ीकी भाँति इसका प्रत्यक्ष कभी नहीं होगा। कैसी भी भक्तिकी जाय; श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव आदिके समान इसका दर्शन नहीं होगा। दूरदर्शक और सूक्ष्मदर्शक यन्त्र चाहें जितने शक्तिशाली हो जायँ, उनके द्वारा अपना आपा नहीं देखा जा सकेगा। योगकी समाधिमें भी यह साक्षिभास्य नहीं होगा।

यन्त्रसे हम अत्यन्त सूक्ष्मको जान सकते हैं, भक्ति-मिश्रित अभ्याससे ईश्वरका ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं, योगके द्वारा हम प्रकृतिको जान सकते हैं किन्तु अपना आपा इस प्रकार नहीं देखा जाना जा सकता। इसके लिए उपदेशकी आवश्यकता पड़ती है।

आगम अर्थात् गुरु एवं शास्त्रकी परम्परासे चले आते ज्ञानके बिना देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, स्वयंप्रकाश, सबके साक्षी आत्माकी अद्वितीयता नहीं जानी जा सकती।

स्थूलदृष्टि प्रत्यक्ष है, सूक्ष्मदृष्टि अभ्यासयुक्त अनुमान अथवा भक्तियुक्त अनुमानसे प्राप्य है। किन्तु तत्त्वदृष्टि उपनिषद् एवं वेदान्तसे ही प्राप्य है। इसी

दृष्टिको अपरोक्षानुभूति कहते हैं। यह तर्क-वितर्कका विषय नहीं है जिनको आत्मसाक्षात्कारकी सच्ची इच्छा नहीं है उन्हें थोड़ा-बहुत सुन-जान लेनेसे ही यह प्राप्त नहीं हो सकती।

एक महापुरुष बहुत सिद्ध थे। उनकी अवस्था सौ वर्षकी हो गयी थी। विख्यात था कि उनका कमण्डलु और लँगोटी सिद्ध हैं। उनमें अकल्पित प्रभाव है। जब महात्माका शरीर जर्जर हो गया तो प्रश्न उठा कि उत्तराधिकारमें उनका कमण्डलु और लँगोटी किसे मिलेंगे?

शिष्यों एवं सेवकोंकी गोष्ठी आयोजित हुई। उसमें निश्चय हुआ कि सब लोग गुरुजीके सम्बन्धमें एक-एक गाथा लिखें। जिसकी गाथा सर्वश्रेष्ठ होगी वही कमण्डलु एवं कौपीनका अधिकारी माना जायगा।

जो गाथाएँ लिखी गयी उनमें-से जो श्रेष्ठ मानी गयी वह यह थी— 'हमारे सद्गुरु कल्पवृक्ष हैं। सद्गुरु ही परमेश्वर हैं। उनसे ही सब धर्म और सम्प्रदाय निकले हैं।'

यह गाथा बहुत प्रसिद्ध हुई। सब इसे गाने लगे एक दिन एक बच्चा यह गाथा गाते हुए वनमें गया। वहाँ उसे एक व्यक्ति मिला जो धान कूट रहा था। 20-25 वर्ष पूर्व जब वह उन सिद्ध महात्माके समीप अपने कल्याणका उपाय पूछने आया था तो महात्माने कहा था—'तुम धान कूटो और उससे यहाँ दर्शन करने आनेवालोंके लिए चावल निकाला करो।' तभीसे वह चावल कूटनेमें लगा था। बालकके द्वारा गायी हुई गाथा सुनकर उसने बालकको समीप बुलाया और पूछा—'तुम यह क्या गाते हो?'

बालकने गाथा सुना दी और यह भी सुना दिया कि गाथा क्यों तथा कैसे लिखी गयी? यह सब सुनकर उस व्यक्तिने कहा—'हम भी एक गाथा लिखवाते हैं, लिखो।'

बालक हँसा, किन्तु गाथा लिखनेको राजी हो गया। उसने लिखवाया— 'न कोई चिन्तामणि है, न कोई कल्पवृक्ष। न कोई धर्मधारा है, न सम्प्रदाय। अपना आत्मा ही परमार्थ है। आत्माके अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न किया जाय। न कोई गुरु है न शिष्य, न 'मैं' न 'तू', एक अखण्ड वस्तु है।'

उस बालकने यह गाथा जाकर उस सिद्ध महात्माको सुनायी। उन्होंने

चावल कूटनेवालेको बुलवाया और अपना कमण्डलु-कौपीन उसे देकर कहा—'जाओ, विचरण करो!'

वह बोला—'जाना-आना कहाँ है!'

महात्मा—'तुम्हारा अनुभव पवित्र है।'

वह—'पवित्रता-अपवित्रता क्या!'

महात्मा बोले—'तुम्हारा अनुभव यथार्थ है।'

उसने कहा—'यथार्थ-अयथार्थ तो कुछ है ही नहीं।'

प्रत्यक्षानुभूतिका नाम संसार है। परोक्षानुभूतिका नाम स्वर्ग है। आना-जाना, पवित्र-अपवित्र, यथार्थ-अयथार्थ यही तक है। अपरोक्षानुभूतिका नाम आत्मा है। वेदान्तके द्वारा यह आत्माका ब्रह्मत्व ही जाना जाता है।

वेदान्तके बिना आप अपनेको देह अथवा लोक-लोकान्तरमें आने-जानेवाला जीव जान सकते हैं, विवेकके द्वारा आत्माको द्रष्टा या साक्षी भी जान सकते हैं; किन्तु आत्मा अद्वितीय ब्रह्म है, यह तथ्य आप वेदान्तके बिना नहीं जान सकते। अतः आत्माके ब्रह्मत्वका बोध करानेके लिए यह अपरोक्षानुभूति प्रकरण प्रारम्भ किया गया है।

अपरोक्षका अर्थ है साक्षात् और अनुभूतिका अर्थ है अपना आपा। इस प्रकार अपरोक्षानुभूति शब्दका अर्थ है—अपने आपका साक्षात्। इस ग्रन्थके द्वारा अपने आपकी अद्वितीयताका साक्षात् बोध कराया गया है।

वाराणसीमें एक वयोवृद्ध विद्वान् हैं। माना जाता है कि उनके जैसा भारतीय शास्त्रोंका ज्ञाता विश्वमें दूसरा कोई नहीं है। उनसे एक व्यक्तिने पूछा—'ब्रह्म भी तो बुद्धिसे ही जाना जाता है, तब बुद्धिसे परे क्या है?'

वे बोले—'बुद्धिसे परे अनुभव है।'

बुद्धि तो सैकड़ों प्रकारकी होती है। कभी सोती है तो कभी जागती है। किन्तु अनुभव एक है। जो सबके पीछे रहकर सबको प्रकाशित करे उसका नाम है अनुभूति। न वह परोक्ष है, न प्रत्यक्ष, वह अनुभूति अपरोक्ष है।

प्रोच्यते मोक्षसिद्धये—ऐसी अपरोक्ष अनुभूतिका वर्णन मोक्षकी सिद्धिके लिए किया जा रहा है।

पहले जब किसीको मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा होती थी तो वह त्याग करके वैराग्यवान होकर महात्माओंके समीप जाता था और नम्र बनकर उनसे

प्रश्न करता था। अब तो महात्मा आते हैं, सभाएँ करके, पर्चे छपवाकर घोषणा करते हैं—'संसारमें लगे लोगों, आओ! हम तुम्हें मोक्षका मार्ग बतलाते हैं।'

इस प्रकार जब ऐसे लोगोंको मोक्षका मार्ग बतलाया जाता है, जो मोक्ष चाहते ही नहीं हैं, तो उपदेष्टा और उपदेश दोनों मूल्यहीन हो जाते हैं।

मेरे बाबा (पितामह) ने बचपनमें मुझे एक कहानी सुनायी थी कि एक बार दो दैत्य परस्पर झगड़ पड़े। दोनोंके मतमें उनकी अपनी स्त्री सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। संयोगवश एक ब्राह्मण उधरसे आ निकले। दोनों निर्णय कराने उनके समीप दौड़े गये!

पहुँचते ही एक बोला—'ब्राह्मण देवता! हमारा झगड़ा निबटा दीजिये। प्रश्न यह है कि हम दोनोंमें किसकी पत्नी अधिक सुन्दर है। मेरी पत्नीके सौन्दर्यकी कहीं तुलना नहीं है किन्तु यह मानता ही नहीं है। उसे असुन्दर या कम सुन्दर कहनेवालेको मैं कच्चा ही खा लूँगा।'

दूसरेने कहा—'श्रेष्ठ सुन्दरी मेरी पत्नी है। उसे जो कम सुन्दर कहेगा उसे मैं अभी मुँहमें डाल लूँगा।'

ब्राह्मण चतुर था। उसने कहा—'भाई, मेरी सम्मति है कि संसारमें कोई स्त्री सुन्दर होती ही नहीं। जिस पुरुषका जिस स्त्रीसे प्रेम हो जाता है उसे वही सुन्दर लगती है।'

मोक्षकी बात भी ऐसी ही है। मोक्षमें आयास-प्रयास-अभ्यास कुछ नहीं है। उसमें तो अनन्त प्रकाश, अनन्त जीवन और अनन्त आनन्द है। पर है, उसीके लिए जो मोक्षको चाहता है। जो मोक्ष चाहता ही नहीं उससे मोक्षकी चर्चा तो मात्र अरण्यरोदन है।

मोक्ष नहीं चाहता है जिसे संसारके भोगोंमें पराधीनता प्रतीत होती है, जिसे भोगोंमें रोग दिखायी देते हैं, जिसे ज्ञात हो गया है कि मन एवं इन्द्रियोंकी शक्ति बहुत सीमित है, जिसके मनमें संसारकी वस्तुओं, व्यक्तियों तथा स्थितियोंके प्रति वैराग्य हो गया है, जिसे इनमें दुःख दिखायी देता है और जो इनसे छूटना चाहता है।

अष्टावक्रगीतामें कहा गया है—

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका। (3.8)

—आश्चर्यकी बात है कि मोक्ष चाहनेवालेको मोक्ष ही अर्थात् मोक्षदायी बातोंसे ही डर लगता है!

एक बाबाजीका शिष्य मर गया। वे रोने लगे—'हाय! मेरी शिष्य अब नहीं रहा। बड़ी सेवा करता था।'

एक संसारी पुरुषका मित्र मर गया तो वह रोने लगा—'हाय-हाय! एक मित्र कम हो गया।'

दोनोंमें अन्तर क्या है? या तो तुम्हें छोड़कर वह मरता या उसे छोड़कर तुम मरते! आत्मा तो अविनाशी है, परिपूर्ण है, अद्वितीय है। इसमें विनाशी, अपूर्ण एवं अपनेसे भिन्न प्रतीत होती वस्तुएँ एक दिन छूटेंगी ही। एक दिन तो इस स्वार्थ-सम्बन्धका भण्डा फूटना ही था, आज ही यह हो गया तो इसमें दुःखकी क्या बात है! इस अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय अपने स्वरूपकी ही अनुभूतिको अपरोक्षानुभूति कहते हैं। यह अनुभूति आपको हो जाय तो आप संसारके दुःखोंसे जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जायेंगे।

सद्भिरेव प्रयत्नेन वीक्षणीया मुहुर्मुहः—'वीक्षणीया' पर दृष्टि डालनेकी आवश्यकता है। वीक्षणका अर्थ है भली प्रकार ईक्षण। यह देखना कि यह अनुभव कैसा है, कौन-सा है, जो कभी परोक्ष नहीं होता।

यह पुस्तक प्रत्यक्ष है। इसे यही छोड़कर हम चले जायँ तो यह परोक्ष हो जायगी। ध्यानमें आयी मूर्ति मानस-प्रत्यक्ष होती है; किन्तु ध्यान छोड़ दें तो वह परोक्ष हो जायगी। 'मैं नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा हूँ' यह वृत्ति प्रत्यक्ष नहीं होती, निद्रामें इसका भी लोप हो जाता है। किन्तु जिससे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंकी प्रतीति होती है, उसका नाम अनुभूति है। अतः अपना स्वरूपभूत ज्ञान कभी परोक्ष नहीं होता।

सुषुप्तावस्थाका ज्ञान कैसे होता है? इन्द्रियोंके द्वारा सुषुप्तिको नहीं देखा जा सकता, मन अथवा बुद्धिसे नहीं जाना जा सकता। ये तो उस समय रहते ही नहीं। जिस अनुभवस्वरूप आत्मासे सुषुप्तिका पता लगता है वह अनुभवस्वरूप आत्मा अपरोक्ष है, मोक्षस्वरूप है, उसमें देश-काल-वस्तु नहीं हैं। यह आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है।

'सद्भिरेव'—जो सद्भावसम्पन्न हैं, सद्गुणी हैं, सत्में स्थित हैं, ऐसे अधिकारियोंको चाहिए कि वे बुराइयों अथवा दुर्गुणोंसे मुक्त होकर सत्स्वरूप परमात्मामें स्थित होनेकी लालसाको प्रयत्नपूर्वक बार-बार देखें, बार-बार इस अवस्थाका ध्यान-चिन्तन करें। ●

साधनका वर्णन

● **संगति**

वेदान्तका जितनी युक्तियोंसे जैसा प्रतिपादन श्रीशङ्कराचार्यजीने किया है वैसा आजतक किसीने नहीं किया। प्राच्य प्रतीच्य सभी विद्वानोंको यह बात स्वीकृत है। भगवान् शङ्कराचार्य किसी साधनका विरोध नहीं अपितु समर्थन ही करते हैं। यहाँ वे तत्त्वज्ञानके लिए आवश्यक अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनोंका निरूपण कर रहे हैं। ●

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं च भवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥ 3॥

ननु कार्यस्य कारणाधीनत्वात् पूर्वोक्तसाधनचतुष्टयस्य किं कारणमित्याशङ्क्याह—स्ववर्णेति। अत्र स्वशब्देन मुख्यगौणमिथ्याभेदेन त्रिविधेषु साक्षिपुत्रादिदेहादिलक्षणेष्वात्मसु मध्ये मिथ्यात्मायोग्यत्वाद् गृह्यते। तस्य देहादेर्ब्राह्मणादिवर्णब्रह्मचर्याद्याश्रमप्रयुक्तेन धर्मेण ब्रह्मार्पणकृतकर्मानुष्ठान-जन्येनापूर्वेण पूर्वमीमांसाप्रसिद्धेन भाविफलाधारभूतेन पुण्यादिशब्दवाच्येनेत्यर्थः। तथा तपसा कृच्छ्रत्वाच्चान्द्रायणादिना प्रायश्चित्तेनेत्यर्थः। पुनः हरितोषणाद्-भगवत्प्रीतिकरात्सर्वभूतदयालक्षणात् कर्मविशेषात्। एतैस्त्रिभिः साधनैः वैराग्यादिचतुष्टयरूपं साधनं मोक्षसाधको धर्मविशेषः पुंसां प्रभवेत्। सम्भावनायां लिङ्। यद्वैवमन्वयः—स्ववर्णाश्रमधर्मरूपेण तपसा कृत्वा यद्धरितोषणं तस्मादिति। यद्यपि साधनचतुष्टयविवेकादि क्रमेण हेतुहेतुमद्भावस्तथापि वैराग्यस्यासाधारण-कारणतां द्योतयितुमादौ ग्रहणं कृतमिति बोद्धव्यम्॥ 3॥

अपने वर्णाश्रम-धर्मका यथावत् पालन करनेसे, तपस्यासे और भगवान्‌को भक्तिद्वारा सन्तुष्ट करनेसे पुरुषको वैराग्यादि साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति होती है॥ 3॥

इसमें धर्म, तप और भगवच्चिन्तन ये तीन साधन बतलाये गये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये वर्ण, और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास ये आश्रम हैं। इनमें जो जहाँ है वहाँकी मर्यादाका पालन करे। जब हम शरीरको 'मैं' करके बैठे हैं और समझते हैं कि अमुक मेरे पिता, अमुक मेरी माता, अमुक मेरी पत्नी, अमुक मेरा पुत्र, अमुक मेरे भाई या मित्र-स्वजन तथा

अमुक मेरे शत्रु हैं, तो शरीरको मर्यादामें रखना पड़ता है। इसी मर्यादाका नाम वर्ण-धर्म तथा आश्रम-धर्म है।

वर्ण-धर्मको समझनेमें भ्रम नहीं होना चाहिए। यज्ञ कराना, दान देना, वेदाध्यन करना यह ब्राह्मणका धर्म है। किन्तु यज्ञ करना, दान लेना, विद्या पढ़ाना ये उसकी जीविकाके साधन हैं, धर्म नहीं। अपनी ममतास्पद वस्तु किसीको दे देनेका अर्थ है अपनी ममताके घेरेको छोटा करना। यह मर्यादा है कि घेरा बनाओ और उसे यथा-सम्भव छोटा करो। धर्म अन्तःकरणकी पवित्रताके लिए होता है।

'मनमें आवेगा सो करेंगे' ऐसा निश्चय करनेवाला बुरे काम करने लगेगा, 'मनमें आवेगा सो भोगेंगे' ऐसा सोचनेवाला निषिद्ध भोग भोगने लगेगा, 'मनमें आवेगा सो बोलेंगे' यह माननेवाला पागलोंका-सा प्रलाप करने लगेगा। जैसे करने, भोगने और बोलनेमें मर्यादा चाहिए वैसे ही संग्रह करनेमें भी कोई चाहे जो उठाकर घरमें भरने लगे तो घर कूड़ा-कबाड़से भर जायगा। इस प्रकार करने, भोगने, बोलने और संग्रहमें मर्यादाका ही नाम वर्णाश्रम धर्म है।

'मर्त्यैराद्रियत इति मर्यादा'—जो मनुष्यों द्वारा आदृत हो वह मर्यादा। यह मर्यादा मनुष्यमात्रके लिए आवश्यक है, भले ही वह रसिया, अमेरिका, एशिया या अफ्रीकामें उत्पन्न हुआ हो। जिसके जीवनमें मर्यादा नहीं है वह तो वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। मर्यादाहीन तो पशु होता है।

धर्मका अर्थ है नियन्त्रणमें रखनेवाली शक्ति। मार्गमें चलते समय मनमें आया—'इस व्यक्तिकी घड़ी बहुत अच्छी है, छीन लें।' मनको रोक दिया—'यह काम ठीक नहीं।' इस रोकनेकी शक्तिका नाम धर्म है। विषयोंकी ओर आकृष्ट होते मनको रोक लेनेकी जो शक्ति मनुष्यमें है वही धर्म है। जिसमें यह शक्ति जितनी अधिक है वह उतना ही अधिक धर्मात्मा है।

तपका अर्थ है लक्ष्य-प्राप्तिके लिए कष्ट सहनका स्वभाव। हम सत्संग तो करना चाहें, किन्तु घरसे कहीं जाना न चाहें, भीड़में बैठना न चाहें तो इसका अर्थ यह होगा कि सचमुच हममें सत्संगकी इच्छा नहीं है। यदि कोई लक्ष्यप्राप्तिके लिए कष्ट सहनेको ही प्रस्तुत नहीं है तो उसका वह लक्ष्य कैसा! रुपया कमानेके लिए मनुष्यको कितने कष्ट, कितनी विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं!

हरितोषणात्—दुःख तीन प्रकारके होते हैं—1. आधिभौतिक दुःख, जैसे

रोटी-कपड़ेका अभाव। ये दुःख प्रयत्न करनेपर मिट जाते हैं। 2. आधिदैविक दुःख, जैसे देशमें अकाल पड़ना, महामारी आना। ये दुःख तपसे निवृत्त होते हैं। 3. आध्यात्मिक दुःख, जैसे मनमें कोई कष्ट या बेचैनी होना। ये उपयुक्त मानसिक प्रयत्नसे दूर होते हैं।

जैसे अपने नेत्रोंको देखनेके लिए दर्पण लेना पड़ता है वैसे ही सबको देखनेवाले जीवके समीप जो दिखानेवाला बैठा है उस ईश्वरसे सम्बन्ध जुड़ जाय, वह मुस्करा दे तो हमारा सब दुःख मिट जाय, वह बोल दे तो हममें बुद्धि आ जाय, वह सुन्दर, स्वस्थ दिखायी दे जाय तो हम सुन्दर, स्वस्थ हो जायँ!

हृदयमें बैठा ईश्वर सन्तुष्ट हो जाय तो **वैराग्यादिचतुष्टयम्**—वैराग्यादि (ष० त०, वैराग्यका आदि—विवेक) अर्थात् विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षाकी प्राप्ति होने लगेगी। अपनेको मर्यादामें रखकर अर्थात् अपनी वासनाको रोकनेकी शक्ति अर्जित करके अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए आवश्यक कष्ट सहने और अपने हृदयेश्वरका प्रसाद प्राप्त कर लेनेपर ये साधन-चतुष्टय स्वतः प्राप्त होंगे।

कोई भी वस्तु पानेके लिए आवश्यक साधन चाहिए। कहीं जाना हो तो मार्गव्यय तो चाहिये ही। मार्गका ज्ञान भी होना चाहिए और मार्गमें कोई बाधा हो तो उसके निवारणका उपाय भी सुविदित होना चाहिए। बिना साधनके कोई सिद्धि मिलती नहीं। तत्त्वज्ञानके लिए अन्तःकरणकी शुद्धि चाहिए और अन्तःकरण शुद्ध होगा साधन-चतुष्टयसे। इस साधन-चतुष्टय या विवेक-वैराग्यादि सात्त्विक सम्पत्तिका उदय कैसे हो, इसके लिए उपाय बतलाया—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।

अपने धर्मका पालन करो। शोधमें लगा हुआ कोई वैज्ञानिक किसीकी आसक्ति अथवा किसीके द्वेषमें पड़ जाय तो उसका शोधकार्य कैसे चलेगा? वह अपने राग-द्वेषके विषयोंका चिन्तन करेगा या शोधके विषयका? भौतिक शोधका चिन्तन भी राग-द्वेषयुक्त चित्तसे सम्भव नहीं है।

जैसे भौतिक सिद्धिके लिए दूसरी ओरसे मन हटाना आवश्यक है वैसे ही परमार्थ-पथपर चलनेके लिए भी देहका राग, देहका द्वेष, देहका मोह छोड़ना आवश्यक है।

शौच, लघुशंका, चाय या भोजनकी आवश्यकता होनेपर भी कोई शोध

करने प्रयोगशालामें बैठे तो क्या चित्तवृत्ति शोधमें लगेगी? इसीलिए नियम यह बनाया गया है कि किसी गम्भीर विचारमें लगनेसे पहले अपना नित्यकर्म ठीक-ठीक कर लेना तथा हानि-लाभके विषयमें भी मनको कुछ सम कर लेना चाहिए।

हरितोषणात्—अपना काम हम किसके लिए कर रहे हैं? '**कस्मै देवाय हविषा विधेम?**' हमारा यह प्रयत्न ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए है। सबके हृदयमें विराजमान, सबके मूल कारण तथा सबमें व्याप्त परमात्माको सन्तुष्ट करनेके लिए कोई काम करेंगे तो राग-द्वेषयुक्त होकर करेंगे।

एक सज्जनने मुझसे कहा—'हिन्दूधर्ममें क्या खायँ, क्या न खायँ'का ऐसा झगड़ा है कि इसे समझ पाना ही बड़ा कठिन है। हिन्दू लोग पृथिवीसे उत्पन्न लहसुन-प्याजको तो अशुद्ध मानते हैं किन्तु मधुमक्खीके वमन शहदको शुद्ध मानते हैं!'

मैंने उनसे कहा—'बात इतनी कठिन नहीं है जितनी आप समझते हैं। कोई वस्तु आपको मिले तो सोचें कि यह भगवान्‌को भोग लगाने योग्य है या नहीं। जिस वस्तुका भोग न लग सकता हो वह आपके खाने योग्य नहीं है।'

कर्म वही करने योग्य है जिसके प्रति यह विश्वास हो कि इसे करनेसे सर्वान्तर्यामी ईश्वर हमपर प्रसन्न होगा।

धर्मका रहस्य कर्ताकी बुद्धिमें होता है, क्रिया अथवा वस्तुमें नहीं। जो कुछ करनेको रोका गया है वही करने जाते हो तो वासनाके वशीभूत होकर ही करने चले जाते हो। अपने मनके दास बने हुए तुम उस समय अपने विवेकका अनादर कर देते हो।

अन्तःकरणमें सत्संस्कार डालनेवाले कर्तृत्वसे धर्म तथा अन्तःकरणमें असत्संस्कार डालनेवाले कर्तृत्वसे अधर्म उत्पन्न होता है।

जो कष्ट सहनेको प्रस्तुत नहीं है वह लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए उत्सुक नहीं माना जा सकता। जो व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ छोड़नेको उद्यत नहीं है वह परमार्थके पथपर आगे नहीं बढ़ सकता। स्वधर्म-पालन, कष्टसहिष्णुता और भगवान्‌की सन्तुष्टि—इनसे जीवनमें एक ऐसी स्वच्छता आती है जो ईश्वरकी प्राप्तिमें बड़ी सहायक होती है।



वैराग्यका स्वरूप

● **संगति**

एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। उनसे लोग कहते हैं—'हम आपका बतलाया साधन-ध्यान तो करेंगे; किन्तु क्या ईश्वरको मानना आवश्यक है?'

वे कहते हैं—'कोई आवश्यक नहीं है।'

कुछ लोग उनसे यह भी पूछते हैं—'क्या मांस-मदिरा अवश्य छोड़ देना पड़ेगा?'

वे कहते हैं—'कुछ मत छोड़ो!'

भला ऐसी साधना करके तुम क्या सिद्धि चाहते हो? न कर्ममें संयम, न ईश्वरमें आस्था! ऐसा साधन करके चाहते क्या हो?

'हम ध्यान करने बैठे तो थोड़ी देरको चित्त शान्त हो जाय।'

बस! यह विश्राम तो तुम्हें निद्रामें भी प्राप्त हो जाता है। इसके लिए साधना क्यों करना चाहते हो? जीवनमें साधनाकी आवश्यकता तो उन्हें होती है जो ईश्वरकी प्राप्ति चाहते हैं, आत्मतत्त्वका ज्ञान चाहते हैं। जब तुम कहीं जाना चाहते हो तो जहाँ ठहरे हो उस स्थान और वहाँकी सुख-सुविधाका मोह तो छोड़ना ही पड़ता है। इसी प्रकार परमार्थके पथपर चलनेके लिए संसारका राग छोड़ ही देना पड़ता है। इसीलिए पहले वैराग्यका स्वरूप बतलाते हैं। ●

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वैराग्यं विषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्॥ 4॥

कीदृशं तद्वैराग्यादिचतुष्टयमित्याकाङ्क्षायां तत्स्वयमेव व्याचष्टे—'ब्रह्मादीत्यारभ्य वक्तव्या सा मुमुक्षुता इत्यन्तेन' श्लोकषट्कात्मकेन ग्रन्थेन। तत्रादौ वैराग्यस्य लक्षणमाह—ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्विति। ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु सत्य-लोकादिमर्त्यलोकान्तेषु भोगसाधनेषु अनु—कर्मजन्यत्वेनानित्यत्त्वं लक्षीकृत्ये-त्यर्थः। वैराग्यम्-इच्छाराहित्यम्। तत्र दृष्टान्तमाह-यथैवेति। यथैव काकविष्ठायां

वैराग्यम्। गर्दभादिविष्ठायामपि कदाचित् कस्यचित् ज्वरशान्त्यर्थं ग्रहणेच्छा भवति अतः काकविष्ठायां ग्रहणम्। उपलक्षणमेतत् वान्त्यादीनाम्। विषयेष्विच्छानुदये वैराग्यस्य हेतुगर्भितं विशेषणमाह—तदिति। हि यस्मात् तद्वैराग्यं निर्मलं रागादिमलरहितम्॥ 4॥

ब्रह्मासे लेकर तृणतक सब विषयोंमें वैराग्य होना चाहिए। जैसी हेय बुद्धि काकविष्ठामें है वैसी समस्त विषयोंमें हो जाय तो वह वैराग्य निर्मल होता है॥ 4॥

ब्रह्माके पदसे लेकर तृणपर्यन्त विषयोंमें जिसे वैराग्य है वह वैराग्यवान् है। वैराग्यका अर्थ घृणा नहीं है। द्वेषका नाम भी वैराग्य नहीं है। घृणामें वस्तुको निकृष्ट समझा जाता है। द्वेष होनेपर चित्तमें जलन होती है। किसी वस्तुसे इतना लगाव न हो कि उसके पीछे हम ईश्वर तथा अपनी आत्माको भी भूल जायँ, इसीका नाम वैराग्य है।

संसारके विषयोंसे राग करेंगे तो उनमें फँसेंगे। किसीसे द्वेष करेंगे तो जलेंगे। जो मनको बाँध ले उसे विषय कहते हैं। हम विषयोंसे बँधें क्यों! मार्गमें कौएकी बीट पड़ी हो और हम चले जा रहे हों तो क्या करेंगे? उससे राग करेंगे या द्वेष? उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़कर चलते बनेंगे। इसी प्रकार अपनी दृष्टि संसारकी ओरसे हटाकर परमात्मामें लगा लेनेका नाम वैराग्य है। विषयका राग या द्वेष ही अन्तःकरणका मल है तथा वैराग्य अन्तःकरणको निर्मल करता है? जिसने संसारसे दृष्टि हटा ली है उसे निश्चय ही निर्मल करनेवाला वैराग्य प्राप्त है।



वस्तु विवेक

● **संगति**

वैराग्यकी प्राप्ति विवेकके अधीन है और विवेक यानी यथार्थ निर्णयके लिए राग-द्वेषरहित अन्तःकरण अपेक्षित है। ज्ञानके लिए प्रथम आवश्यकता सदसद्विवेककी है और विवेकका ठीक उदय राग-द्वेषरहित चित्तमें ही सम्भव है। अतः वैराग्यका प्रतिपादन करनेके अनन्तर अब वस्तु-विवेक बतलाते हैं। ●

नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम्।
एवं यो निश्चयः सम्यग्विवेको वस्तुनः स वै॥ 5॥

इदानीं वैराग्यकारणं विवेकं लक्षयति—नित्यमित्यादि। वै प्रसिद्धं सः वस्तुनः पदार्थस्य विवेको विवेचनविशेषो ज्ञेयः। सः क इत्यत आह—एवमिति। य एवं प्रकारेण सम्यक् संशयादिशून्यो निश्चयः। एवं कथमित्यत आह—नित्यमिति। हीति विद्वदनुभवप्रसिद्धमात्मस्वरूपं नित्यमविनाशि अबाध्यं सत्यमित्यर्थः। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इति श्रुतेः। दृश्य-मनात्मस्वरूपं तद्विपरीतगं तदात्मस्वरूपं तस्माद्विपरीतत्वेन गच्छति प्राप्नोति व्यवहारभूमिमिति तथाविधं विनाशि बाध्यमित्यर्थः। अत्रेदमनुमानमपि सूचितं भवति—'आत्मस्वरूपं नित्यं द्रष्टृत्वात्, यन्न नित्यं तन्न द्रष्टृ-, यथा घटादीति; केवलव्यतिरेकी हेतुः। तथाऽनात्मस्वरूपमनित्यं दृश्यत्वात्, यन्नानित्यं तन्न दृश्यं, यथात्मस्वरूपमित्ययमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः'॥ 5॥

आत्मा स्वरूपसे नित्य हैं और दृश्य (चराचर जगत्) उससे विपरीत जानेवाला अर्थात् अनित्य है। इस प्रकारका जो सम्यक निश्चय है वही निश्चित रूपसे वस्तुका विवेक है॥ 5॥

'विवेचनं विवेकः'—जहाँ जो वस्तु अन्यसे मिल गयी हो, वहाँसे उसे पृथक् कर लेना विवेचन है। हमारा 'मैं' 'यह' से मिल गया है। सूर्य 'यह' है। सूर्यको देखनेवाला 'मैं' हूँ। जो 'यह' है वह 'मैं' नहीं और जो 'मैं' है वह 'यह' नहीं। इस पार्थक्यका नाम विवेक है।

अब शरीरकी ओर देखें। इसमें अस्थि, चर्म, मेद, मांस, स्नायु, रक्त, मल, मूत्रादि जो-जो 'यह' प्रतीत होता है वह 'मैं' नहीं हूँ।

दृश्य वह है जो 'यह' के रूपमें प्रतीत होता है। आत्मस्वरूप 'मैं' वह हूँ जिसको 'यह' प्रतीत होता है। जो प्रतीत होता है वह जड़ है। जिसको प्रतीत होता है वह चेतन है। आत्मस्वरूप 'मैं' नित्य हूँ। दृश्य 'यह' अनित्य है। आपके घर कितने वस्त्र, बर्तन, घड़ियाँ, आभूषण आदि आये और चले गये। वे सब अनित्य थे पर आप तो जैसेके-तैसे हैं, (उनकी अपेक्षा) नित्य हैं।

इस शरीरमें कितनी वस्तुएँ आती-जाती रहती है। आप जो रोटी खाते हैं, उसीसे शरीरके हड्डी-मांस-मज्जा-रक्त-मल-मूत्र आदि सब बनते हैं। ये सब अनित्य हैं। सबेरेका बना भोजन शामको बासी हो जाता है। उस सड़नेवाले भोजनसे जो द्रव्य बनेंगे वे सड़नेवाले तो होंगे ही, किन्तु इनका जो द्रष्टा है, वह नित्य है।

'जो दृश्य है वह अनात्मा है और मैं आत्मा हूँ' यह वस्तुका विवेक, वस्तुको भेदनेकी पद्धति है।

वस्तु—जो बसे वह वस्तु, अर्थात् जो सदा रहे। ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी आदि सब धर्म एवं धर्माचार्य यह मानते हैं कि शरीरकी मृत्युके पश्चात् भी आत्मा रहता है। अतः आत्मा शरीरसे पृथक् है, यह विवेक सबको अभीष्ट है।

अपने आपको देह समझना अविवेक है, मूर्खता है। देहसे अपनेको पृथक् समझना विवेक है।



शम-दमका स्वरूप

● **संगति**

धर्म, तपस्या और हरितोषणसे साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति बतलायी गयी। साधन-चतुष्टय है—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा। इनमें-से वैराग्य और विवेकका निरूपण करके अब षट्सम्पत्तिका निरूपण करते हैं। 1. शम, 2. दम, 3. उपरति, 4. तितिक्षा, 5. श्रद्धा और 6. समाधान, इनका नाम षट्सम्पत्ति है। इनमें-से शम-दमका निरूपण किया जा रहा है।

सदैव वासनात्यागः शमोऽयमिति शब्दितः।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते॥ 6॥

तदेवं वैराग्यकारणं विवेकं व्याख्याय वैराग्यकार्यं शमादिषट्क लक्षयति— सदैवेत्यादित्रिभिः श्लोकैः। सदैव सर्वस्मिन्नपि काले वासनात्यागः पूर्वसंस्कारापेक्षयाऽयं शम इति शब्दितः। अन्तःकरणनिग्रहः शमशब्दार्थः। बाह्यवृत्तीनां श्रोत्रवागादीनां निग्रहो निषिद्धप्रवृत्तितिरस्कारो दम इति शब्देनाभिधीयते कथ्यते॥ 6॥

सदा ही वासनाका त्याग करते रहना शम कहा जाता है और बाहरी वृत्तियोंके दमनका नाम दम है॥ 6॥

मनमें कामादिको न आने देना शम है। मनुष्यमें अपने मनके विपरीत सहनेकी शक्ति चाहिए। एक महात्माका कहना है—'जिनके मनमें कोई भाव आता ही नहीं वे तो पत्थरके समान हैं।'

क्रोध आवे किन्तु उस समय गाली न दी जाय, तिरस्कार न किया जाय। मनमें आये क्रोधको क्रियान्वित न होने देना मनुष्यका लक्षण है।

श्रीशङ्कराचार्यजीके ग्रन्थ 'सर्वदर्शनसंग्रह' में वर्णन है कि वातप्रकृति व्यक्तिको काम, पित्तप्रकृति व्यक्तिको क्रोध और कफप्रकृति व्यक्तिको लोभ अधिक होता है। जिनका मन रोगी है वह बेचारा योगी क्या होगा? अतः वासनाका त्याग आवश्यक है।

आत्मस्वरूपकी तीन विशेषताएँ है—

1.उसमें किसीके अनिष्टकी कारणता नहीं है। अतः तुम न अपना अनभल करो, न दूसरेका। तुम आनन्दस्वरूप हो। तुम्हारे अपने जीवनमें वह रस, वह सौन्दर्य, वह माधुर्य है कि इसमें दूसरे किसीका अनिष्ट है ही नहीं।

2. तुम वह ज्ञान-प्रकाश हो कि उसमें अन्धकार है ही नहीं। अतः न तुम्हारे कारण कोई ठगा जाता और न तुम किसीसे ठगे जा सकते। यदि तुम किसीसे ठगे जाते हो तो अज्ञानी हो। यदि तुम दूसरे किसीको ठगते हो तो अज्ञानका दान करते हो। यदि तुम्हारे पास अज्ञान न होता तो वह तुम दूसरेको देते कैसे? तुममें तो ज्ञान-ही-ज्ञान है।

3. तुम अमृत हो। न तुम स्वयं मरते, न दूसरेको मारते। तुम मृत्युदाता नहीं, तुम स्वयं अमृत हो। दूसरे भी तुमसे अमृतत्व ही प्राप्त करते हैं।

तुम ऐसे रस हो जो कभी फीका नहीं पड़ता। तुम ऐसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द हो जिससे कभी जी ऊबता नहीं। तुम ऐसे स्वर हो जो कभी बेसुरा नहीं होता। जब तुम वासनाके वशवर्ती होकर भाग-दौड़ मचाते हो तो अपनेको दरिद्र बना लेते हो। अपने भीतर तुम्हें अभाव दिखायी देता है, तभी तो तुम उसे पूरा करने बाहर दौड़ते हो। यही अपने भीतर बैठे ईश्वरका तिरस्कार है।

घड़ा चाहे जैसा हो—छोटा या बड़ा, टेढ़ा या सीधा, मिट्टीकी ही अभिव्यक्ति है। ऐसे ही प्राणी कोई भी हो, ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति है। उस ईश्वरको पहचानना आवश्यक कर्तव्य है। तुम दूसरेका सुख-सौन्दर्य देखते हो, अपने भीतर क्यों नहीं देखते? अपनेमें अभावकी भ्रान्ति ही विपरीत बोध है। वासनात्याग—आनन्दके लिए, प्रकाशके लिए, जीवनके लिए अन्यकी आवश्यकताका त्याग है। शान्ति तो तुम्हारा स्वरूप है।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज एक पद कहा करते थे जिसका अर्थ है—'वासना बिसार दो। यही सबसे बड़ा पाप है।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ तहँ, सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहुँ न लोक लजै॥

अपने ज्ञानमें जिसकी गन्ध बस जाय उसका नाम वासना। बहुत पहले एक पुस्तक पढ़ी थी 'ज्ञान-वैराग्य-प्रकाश'। उसमें एक दृष्टान्त है—

एक त्यागी विरक्त सन्त भिक्षाटन करते, विचरण करते थे। एक दिन एक बुढ़ियाके यहाँ भिक्षा करने गये तो वृद्धाने कढ़ी-भात खिलाया। सन्तको कढ़ी बहुत स्वादिष्ट लगी। अब तो बार-बार उन्हें कढ़ीका ही स्मरण आने लगा। मनको बहुत रोका किन्तु वह स्वाद भूले ही नहीं। एक वर्ष बीतनेपर भी जब मन नहीं माना तो वे उसी स्थानपर उस बुढ़ियाके यहाँ जा पहुँचे। उस दिन तो बुढ़ियाने कढ़ी बनायी नहीं थी। सन्तने कहा—'माता, हम तुम्हारे यहाँ कढ़ी-भात खाने आये हैं।'

बुढ़िया बोली—'मेरे अहोभाग्य! कल मैं कढ़ी-भात बनाऊँगी।'

महात्मा—मेरे साथ और कई साधु हैं। वे अदृश्य आवेंगे। एक कमरेमें सबके लिए कढ़ी-भात बनाकर रख देना।'

दूसरे दिन महात्माजी उस भोजनके कमरेमें गये और उन्होंने द्वार बन्द कर लिया। भोजन करने बैठे। पेट भर गया तो अपने मनमें बोले—'तुमने इस कढ़ीके लिए मुझे एक वर्ष तङ्ग किया है। अब तो यह सब तुम्हें खाना ही पड़ेगा।' फिर भी खाना बन्द नहीं किया। कई बार वमन हुआ। मनकी यह अवस्था हो गयी कि कढ़ीके नामसे ही मिचली आने लगी उन्हें।

अनेक साधु फलके मौसममें यात्रा करके वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ वह फल बहुत होता है। ऐसे ही एक साधु फल खानेके लिए यात्रा कर रहे थे। गंगा-किनारे एक स्थानपर उन्होंने देखा कि एक साधु आधा गंगाजीमें और आधा भूमिपर पड़ा है। उसके शरीरपर मक्खियाँ भिनभिना रही है। उन्होंने उससे कहा—'बाबा, इन मक्खियोंको उड़ा क्यों नहीं देते?'

साधु लेटे-लेटे ही बोला—'मेरे तो शरीरपर बाहर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं; किन्तु तुम्हारे तो मनमें फल खानेकी वासनाकी मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। तुम उनको दूर करनेकी चिन्ता करो।'

जिसके हृदयमें जितनी कम वासना होगी उसे उतनी अधिक शान्ति मिलेगी। बहुत धन होने या बहुत पढ़नेसे वासना नहीं जाती। एक समाचार छपा था—'अमेरिकामें एक महिला 35 हजार मूल्यका कोट पहने दूकानमें गयी और वहाँ 20 रुपयेकी वस्तु चुराते पकड़ी गयी। बड़े-बड़े धनी लोग ताँगे-रिक्शेवालोंसे दो-दो आनेके लिए झगड़ते देखे जाते हैं।

दुःखका निर्माण ईश्वर, प्रकृति या मायाने नहीं किया है। दुःखका सृजन

तो तुम्हारी वासना करती है। दुःख जीवकी सृष्टि है। ममतामें-से दुःख उत्पन्न होता है। केवल पाँच मिनटके लिए वासना-त्याग करके देखो कि तुम्हें कैसी शान्ति प्राप्त होती है। इससे शक्ति और विवेक आता है। मनको रोकनेकी शक्ति, प्रज्ञा-शक्ति, निरोधशक्ति, ये सब शान्तिसे उत्पन्न होती है।

एक सज्जन कहते हैं—'मुझे ऐसे तो क्रोध नहीं आता पर कोई अन्याय करता है तो क्रोध आ जाता है।'

इसका अर्थ यह है कि तुम्हारे क्रोधमें सामनेवालेका अन्याय कारण है। अन्याय करे वह और क्रोध आवे तुम्हें! क्रोधका बीज तो तुम्हारे ही हृदयमें था। कोई अनुचित काम न करें तो अकारण किसीको क्रोध नहीं आता। तुम तो साधक हो। सहिष्णुता तुममें नहीं तो दूसरेमें कैसे होगी? तुमने ऐसी-ऐसी मान्यताएं बना ली हैं कि—'ऐसा हो तो ठीक और ऐसा हो तो ठीक नहीं।' जब यह वासना मिटेगी तो शान्ति स्वतः आ जायगी।'

एक सज्जनने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा—'वैराग्य आना तो बहुत कठिन है। शान्ति पाना भी कठिन है। यह जीवनमें कैसे आवे?'

बाबा बोले—'तब क्या ईश्वर वैराग्य करेगा?'

यह वासना-त्याग, शान्ति, धर्माचरण आदि ईश्वरके करनेके धर्म नहीं, ये तो जीवके पालन करनेके धर्म हैं।

किसी वस्तुको चाहने मात्रसे ही कोई उसे प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं हो जाता। कोई रोगी हलवा-पूड़ी खाना चाहे तो वह इसको खानेका अधिकारी नहीं है। खानेसे तो उसका रोग बढ़ जायगा। संसारके मनुष्य वासनाधिक्यके रोगी हैं। रोगका कारण, यही है कि वे जीवनसे तृप्त नहीं हैं, वासनाओंसे तृप्ति चाहते हैं। जितनेसे पेट भरे और शीत मिटे उतना भोजन-वस्त्र उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाता। भोजन-वस्त्रके अभावका दुःख बहुतोंको नहीं है। उन्हें तो दुःख वासनाके तृप्त न होनेका है।

मैं एक सेठके घर गया। उनके यहाँ पन्द्रह रसोइये थे। मैंने पूछा—'इतने रसोई बनानेवाले क्यों?'

सेठ बोले—'कोई लड़का उड़दकी दाल चाहता है तो कोई अरहरकी। कोई जलेवी खाना चाहता है तो कोई पकौड़ियाँ। परिवार बड़ा है और सबकी रुचि भिन्न-भिन्न है।'

जिसे ईश्वरकी ओर चलना है वह यदि ऐसे वासना-कंकीर्ण मार्गपर जायगा तो भटक जायगा। अपने विषयमें स्वयं जाँच करनी चाहिए कि हम प्रसन्न कब होते हैं? वासनापूर्तिके रससे प्रसन्न होते हैं या वासना मिटा देनेका अवसर पाकर प्रसन्नताका अनुभव करते हैं? जिसे वासनाकी पूर्तिमें रस आता है वह संसारकी ओर जा रहा है। यदि वासना-निवृत्तिमें रस आता है तो वह ईश्वरकी ओर जा रहा है। उसके हृदयमें शान्ति अधिक है।

वासना-निवृत्ति दो प्रकारकी होती है निरालम्ब और सालम्ब। सालम्ब वासना-निवृत्तिके लिए अपनी बुद्धि भगवान्‌में लगानी चाहिए—

शमो मन्निष्ठता बुद्धेः।

बुद्धिकी निष्ठा भगवान्‌में होना शम है। यदि हम ईश्वरका विश्वास छोड़ देंगे तो हमारा जीवन निराश्रित हो जायगा, एक महान् आश्रयसे वंचित हो जायगा। जिसमें ईश्वरके प्रति विश्वास है उसे बड़े-से-बड़े दुःखके समय भी अपने विश्वाससे आश्वासन मिल जाता है। 'ईश्वरपर विश्वास करके टिकनेवाला मनुष्य दुर्बलमना है'—यह कहना नासमझी है। यह तो बड़े बलवान् मनका काम है।

वासना-त्यागकी एक पद्धति है बुद्धिकी ईश्वरमें निष्ठा। दूसरा उपाय है संसारके विषयमें महत्त्व-बुद्धिका त्याग।

जिन्हें ईश्वरपर आस्था नहीं है उनके लिए वासना-त्यागका मार्ग यह है:

अपनी वासना-पूर्तिको सस्ती मत बनाओ। एक व्यक्तिके मनमें आया 'गुड़ खायें।' वह साधक था। जहाँ गुड़ बनता था वहाँ गया। वहाँ गन्ना पेरनेके लिए बैल हाँकने लगा। दिनभर काम करनेपर जो मजदूरी मिली, उससे उसने गुड़ खरीदा। अब हाथमें गुड़ लेकर अपनेसे बोला—'फिर गुड़ खाना चाहोगे तो दिनभर बैलोंके पीछे घूमना पड़ेगा।'

इस प्रकार अपने कर्मको, अपने भोगको, अपने संग्रहको, अपनी वाणीको सस्ता मत बनाओ। जितने अधिक श्रमसे तुम्हारा संकल्प पूरा होगा, उसकी पूर्तिमें उतना अधिक सुख मिलेगा। पहले लोग श्री बद्रीनाथकी यात्रा पैदल करते थे। ऋषिकेशसे चलनेपर आने-जानेमें एक महीना लग जाता था। तब बद्रीनाथ-दर्शनका मनमें बड़ा गौरव होता था। अब तो मोटरसे जाते हैं और वहाँ घण्टे-दो-घण्टे रहकर लौट आते हैं।

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।

कष्ट उठाकर कोई फल प्राप्त करनेसे उसमें आनन्द आता है। बिना कष्ट उठाये वही फल मिल जाय तो वह नीरस लगेगा। सस्ता भोग भोगते समय भोगमें ही त्रुटि दिखायी देती है। वासना-निवृत्तिसे सुखी होनेका मार्ग निरापद मार्ग है।

सृष्टिके प्रारम्भमें एक बार देवता, दैत्य और मनुष्य तीनोंके ही प्रतिनिधि ब्रह्मलोक गये। उन्होंने लोकस्रष्टा ब्रह्माजीसे प्रार्थना की—'हमें कर्तव्यका उपदेश करें।'

ब्रह्माजी बोले—'द द द।'

तीनों सन्तुष्ट हो गये। ब्रह्माने देवताओंसे पूछा—'तुमने मेरी बात समझी?'

देवता—'समझ ली भगवन्!'

ब्रह्मा—'क्या समझी?'

देवता—'हम देवता बहुत भोग-परायण हैं। स्वर्गके सुख-भोगमें ही लगे रहते हैं। आपने कहा—द द द अर्थात् दमन करो! इन्द्रियोंका दमन करो! दमन करो!

ब्रह्मा—'तुम लोगोंने मेरी बात ठीक समझी।'

देवता प्रणाम करके वहाँसे लौट आये तो लोकस्रष्टाने दैत्योंसे पूछा—'तुमने मेरा उपदेश समझा!'

दैत्य—'समझ लिया प्रभु!'

ब्रह्मा—'क्या समझा?'

दैत्य—'हम दैत्य लोग स्वभावसे निष्ठुर हैं। दूसरोंको मारने-सतानेमें हमें सुख मिलता है। आपने कहा—द द द अर्थात् दया करो! दया करो! दूसरे सब प्राणियोंपर दया करो!

ब्रह्मा—'तुम लोगोंने भी मेरा उपदेश सर्वथा ठीक ग्रहण किया है।

दैत्य भी पितामहको प्रणाम करके लौट गये तो ब्रह्माने मनुष्योंसे पूछा—'तुमने मेरी बात समझी?'

मनुष्य—'ठीक-ठीक समझ ली स्वामी!'

ब्रह्मा—'क्या समझमें आया?'

मनुष्य—'हम मनुष्य बहुत लोभी हैं। हमें अपना घर भरनेकी ही धुन बनी रहती है। हम देखते ही नहीं कि हमारे संग्रहका कोई उपयोग भी है या नहीं और उस संग्रहके कारण कितनोंको अभावका कष्ट सहना पड़ता है। आपने आज्ञा दी—द द द अर्थात् दान करो! दान करो! दीन-दुखियोंको दान करो।'

ब्रह्मा—'तुम लोगोंने भी मेरी बातका मर्म ठीक ही ग्रहण किया है।'

उपदेश एक ही था किन्तु तीनोंने अपने-अपने अधिकार एवं भावके अनुसार उसका अर्थ ग्रहण किया। इस दमन, दया तथा दानके उपदेशमें वासनाका त्याग ही प्रधान उद्देश्य है, यही शम है।

निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते।

दमका अर्थ है दबाना। इन्द्रियोंका कोई स्वभाव बनाकर उसमें फँसो मत। जो स्वभाव डालोगे वही तुम्हारे कष्टका कारण बनेगा। अतः इन्द्रियोंको अपने वशमें रखो।

वाह्य-विषयोंकी वृत्तिको रोककर रखना चाहिए। लोग कहते है—'मैं बेटेके लिए कमाकर छोड़ जाना चाहता हूँ।' इसका अर्थ है कि बेटा न भाग्यवान् है, न योग्य है और न उसपर ईश्वरकी कृपा ही होगी। पुत्रको पहले ही भाग्यहीन, अयोग्य, ईश्वर-कृपा-वञ्चित मान लिया गया। जिस धनका सदुपयोग हम नहीं कर सके उसका सदुपयोग पुत्र करेगा, यह आशा दुराशा ही तो है। अतः बाह्यवृत्तियोंको नियन्त्रित रखना चाहिए। यही दम है।



उपरति और तितिक्षाका स्वरूप

● **संगति**

वासना त्याग दी, यह शम हो गया किन्तु भोगोंका व्यर्थ संग्रह एवं भोग भी तो त्यागा जाना चाहिए। विषयोंकी ओरसे हम बाह्य-वृत्तिको दबाये रहेंगे यह दम होगा; किन्तु बहुत शीत या उष्णता, अत्याधिक अनुकूलता या प्रतिकूलता तो आकर वृत्तिको इधर-उधर करेंगी ही। तब क्या करें? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार उपरति और तितिक्षाका वर्णन कर रहे हैं। ●

विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता॥ 7॥

विषयेभ्य इति। हीति प्रसिद्धेभ्यो बन्धकेभ्यः शब्दादिभ्यो या परावृत्तिः निवृत्तिः अनित्यत्वादिदोषदर्शनेन ग्रहणानिच्छा सा उपरतिरुच्यते। कीदृशी सेत्यत आह—परमेति। परम् उत्कृष्टमात्मज्ञानं यस्याः सकाशाज्जायते सा परमा, आत्मज्ञानसाधनभूतेत्यर्थः। अनया सर्वकर्मसंन्यासो लक्ष्यते। किञ्च सहनमिति सर्वदुःखानां सर्वदुःखसाधनानां शीतोष्णादिद्वन्द्वानां यत्सहनं प्रतीकारानिच्छा सा शुभा सुखरूपा तितिक्षा मता विदुषामित्यर्थः॥ 7॥

विषयोंसे वृत्तिका पराङ्मुख हो जाना परम उपरति है और सभी दुःख सहन कर लेनेको शुभ तितिक्षा मानना चाहिए॥ 7॥

मनुष्यको आत्मबोध प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो उसे चाहिए कि वह इन्द्रियोंका दास न बने, वृत्तियोंको बाह्य विषयोंमें न उलझने दें और बहुत काम करनेका अभ्यास घटावे। ऐसा किये बिना उसका काम नहीं चलेगा। बाह्य वस्तु एवं बाह्य व्यापारसे हटकर मन आत्मामें स्थिर नहीं होगा तो आत्माका ज्ञान होगा कैसे!

एक महात्मा कहा करते थे—'आराम चाहते हो तो रामसे प्रेम करो।' आराम मिलेगा रामके आनेपर। राम तब आवेंगे जब तुम उपराम होगे। अतः सांसारिक विषयोंसे मनको उपराम करो।

जो आये हुए दुःखको सहनेकी शक्ति नहीं रखता वह किसी काममें कभी सफल नहीं होता। कोई भी ऐसा काम नहीं है जो बिना थोड़ा दुःख सहे हो सके।



श्रद्धा और समाधानका स्वरूप

● **संगति**

एक सज्जन विज्ञान पढ़ रहे थे। वे अपने विषयका कोई विशेष नियम समझना तो चाहते थे पर किसीसे जाकर पूछना उन्हें हीन कार्य लगता था। बुद्धि अच्छी थी और परिश्रमसे लगे थे। अतः वह नियम उन्होंने स्वयं समझ लिया, किन्तु ऐसा करनेमें उनको दो वर्ष लग गये। एक दिन एक मित्रने कहा—'तुम जिस नियमकी बात करते हो उसका पता तो बहुत पहले लग चुका है। विज्ञानके शिक्षकसे इसे तुम चन्द मिनटोंमें समझ सकते थे।'

'जिससे पहले पता लगाया वह भी तो अन्ततः मनुष्य ही था। हम भी उसीके समान पता लगावेंगे।' निश्चय ही ऐसा हो सकता है किन्तु तब कुछ घण्टोंके स्थानपर कुछ महीने या वर्ष उतने ज्ञानके लिए लग जायेंगे जितना ज्ञान दूसरेकी सहायतासे घण्टोंमें प्राप्त किया जा सकता था। यह मनुष्यका अहंकार है जिसके कारण वह किसीके सामने सिर नहीं झुकाना चाहता, फलतः दूसरोंके अनुभवका लाभ प्राप्त करनेसे वञ्चित रह जाता है।

किसीने आजतक यह दावा नहीं किया कि 'मैं क्षण-क्षण और कण-कण सृष्टि छान चुका, ईश्वर कहीं नहीं है।' जिसकी खोज अभीतक अपूर्ण है उसके विषयमें यदि कोई कहता है कि 'वह है ही नहीं' तो वह अपनी अन्धश्रद्धाकी ही अभिव्यक्ति करता है। समझनेकी बात है कि आपका ही अहंकार सृष्टिमें सबसे बड़ा नहीं है। संसारमें आप ही सबसे बड़े बुद्धिमान् नहीं हैं। अनजाना मार्ग है और अनमिले साजनसे मिलना है। आप उसे ढूँढ़ने निकले हैं। कोई मार्ग-दर्शक न हो तो आप भटक जा सकते हैं।

'भटक जायँगे तो क्या होगा?' जो ऐसा कहता है उसके कहनेका तात्पर्य ही यह है कि वह अपने लक्ष्यको शीघ्र पानेकी उत्सुक नहीं है। जो शीघ्र लक्ष्यप्राप्तिके लिए उत्सुक है वह श्रम करने, कष्ट सहने और स्वयं पूछकर मार्ग-दर्शन प्राप्त करनेको भी अवश्य उत्सुक होगा। ●

निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता।
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्ष्ये समाधानमिति स्मृतम्॥ ८॥

निगमेति। निगमाचार्यवाक्येषु—वेदगुरुवचनेषु, यद्वा उपनिषद्व्याख्यात्रुपदेशेषु भक्तिर्भजनं विश्वास इत्यर्थः। सा श्रद्धेति विश्रुता वेदान्तप्रसिद्धा। तु पुनः सल्लक्ष्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिलक्ष्ये प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि चित्तैकाग्र्यं तदेकजिज्ञासेत्यर्थः, तत्समाधानमिति स्मृतम्॥ ८॥

वेद-शास्त्र तथा आचार्यके वाक्योंमें भक्ति ही श्रद्धाके नामसे प्रसिद्ध है। उस लक्ष्यमें चित्तकी एकाग्रताको समाधान कहा गया है॥ ८॥

जैसे पुराने खण्डहरोंके मार्ग-दर्शक (गाइड) होते हैं और वे यात्रियोंको बतलाते है—'यहाँ बादशाह बैठता था। यहाँ दरबार लगता था। यहाँ बेगमोंका स्नानागार था....आदि' वैसे ही हम लोग प्राचीन पद्धतिके गाइड हैं। हम उस पद्धतिकी व्याख्या करते हैं।

जितने आचार्य हुए हैं उन्होंने एक पद्धतिकी प्रधानता अपने जीवनमें रखकर उसीके अनुसार लोगोंका मार्ग-दर्शन किया है।

मैंने पर्याप्त पैदल यात्रा की है। चलते-चलते मार्गमें थक जाता तो जो भी मार्गमें मिलता उसीसे पूछता—'वह स्थान कितनी दूर है?' वह व्यक्ति जो कुछ बतलाता उसे सच मानकर मैं आगे बढ़ता। जहाँ मार्गमें सन्देह होता, मिलनेवालोंसे मार्ग पूछता।

इसी प्रकार जिसके मनमें ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा है वह अहंकारके वशमें नहीं होता। अपनी ही बुद्धिपर वह निर्भर नहीं रहता। जो बुद्धिसे परे है, बुद्धिका द्रष्टा है, उसे बुद्धि नहीं जान सकती। तुम भले ही वेदोंका या श्रीशंकराचार्यका नाम न लो, किन्तु जो तुमसे ऐसा करनेको कहेगा उसका नाम तुम रटने लगोगे। निगम उस तत्त्वके प्रतिपादनका एक संविधान है और जो उस वस्तुको हमारे जीवनमें प्रतिष्ठित करता है, उसका नाम होता है आचार्य। इस निगम और आचार्यके प्रति भक्तिको श्रद्धा कहते हैं।

श्रद्धा इति विश्रुता—श्रद्धा प्रसिद्ध है। आप मार्गपर चल रहे हैं। एक स्थानसे दो-तीन मार्ग निकले हैं। शंका हो गयी कि कौन-सा मार्ग अपने लक्ष्यको जाता है। कोई सूचना-पट्ट लगा नहीं है। सूचना-पट्ट लगा हो तो आप उसपर विश्वास कर लें, वह नहीं लगा है तो किसीसे पूछ ही लें।

बतानेवालेकी बातपर शंका करेंगे तो आगे जाना सम्भव होगा? अनजाने मार्गपर जानेके लिए मार्ग-निर्देशक गुरुकी आवश्यकता होती है।

बहुतसे लोग मानचित्रके आधारपर यात्रा करते हैं। इन मानचित्रोंके ही समान ग्रन्थ भी हैं।

वेदमें श्रद्धाका बहुत वर्णन है। मनुष्यको अपने माता-पिताका ज्ञान भी श्रद्धाके बिना नहीं हो सकता। हम नहीं जानते कि हम किसके पेटसे निकले? माताकी बातपर विश्वास करके ही पिताको जाना जाता है। डाक्टरपर पहले विश्वास होता है तब दवा ली जाती है।

श्रद्धया सत्यमाप्यते—श्रद्धासे सत्य मिलता है। मुझे एक मित्रने बतलाया—'सबसे गया-बीता वकील वह है जो यह नहीं जानता कि प्रतिपक्षी वकील क्या-क्या प्रमाण तथा युक्तियाँ दे सकता है? इसी प्रकार अपनी श्रद्धाके पक्षमें भी प्रमाण एवं युक्तियाँ ढूँढनी चाहिए।

इस हाथको उठानेकी क्रियाके कर्ता हम हैं। हमारे हाथसे जो कर्म हुए उनसे होनेवाले पाप-पुण्य हमें होते हैं। जब इस देहमें हम कर्ता हैं तो पूरे विश्वमें रहकर भी कोई कर्ता अवश्य है। नेत्र बन्द करके विचार किया जाय तो इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अच्छा, मान लिया ईश्वर है किन्तु उसे ढूँढ़ा कहाँ-जाय, बाहर या भीतर? यदि आप कहते हैं—'वह अपने भीतर ही मिलेगा' तो आपको वह आधा ही मिलेगा। वह यदि बाहर मिलेगा तब भी आधा ही मिलेगा। बाहर और भीतर दोनों एक होगा तब पूर्ण होगा।

योगी कहते हैं—'ईश्वर अपने भीतर ही होता है। हम जागते हुए ही चित्तवृत्तिको सुषुप्तिकी स्थितिमें पहुँचा दें तो ईश्वर मिल जायगा।'

उपासक कहते हैं—'इस सृष्टिके निर्माताको बाहर देख लिया तो ईश्वर मिल गया।'

'वेदान्ती कहता है—'जो बाहर-भीतर एक है,जिसमें दूसरा है ही नहीं वह ईश्वर है।'

'ईश्वरसे संसार पृथक् नहीं है' यह सत्य श्रद्धासे प्राप्त होता है। नेत्रकी पुतलियाँ स्थिर कर लेनेपर मन स्थिर हो जाता है। निद्रामें प्रतिदिन मन स्थिर होता है। मनकी यही स्थिरता पाने तो आप परमार्थ-पथपर नहीं चले हैं!

परमार्थके मार्गमें अखण्ड चैतन्यका साक्षात्कार होता है और वह होता है मार्गपर, मार्ग-निर्देशकपर श्रद्धा होनेसे।

चित्तैकाग्र्यं तु तल्लक्ष्ये समाधनमिति स्मृतम्।

लक्ष्यमें चित्तकी एकाग्रता होनी चाहिए। एक मनुष्य स्टेशन गया। उसने टिकट बाँटनेवालेके सामने रुपये रखे। टिकट देनेवालेने पूछा—'कहाँका टिकट दें?'

वह बोला—'जहाँका जी चाहे दे दीजिए।'

अब उसे कहाँका टिकट दिया जाय? यह तो लक्ष्यहीनता है। तुम यही नहीं जानते कि पहुँचना कहाँ चाहते हो। क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हें शान्ति चाहिए, दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति चाहिए, जो—**न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः** जो स्वर्ग-नरक तथा नाना योनियोंमें घूमते-भटकते हुए नहीं मिलता जिसे प्रारब्ध दे नहीं सकता, जो इन्द्रियों तथा मनसे प्राप्य नहीं है तथा जो परिच्छिन्न एवं विनाशी नहीं है। वही तो लक्ष्य है। कबीरदास, स्वामी रामतीर्थ, दत्तात्रेय, ऋषभदेव आदि सन्तोंने इसी लक्ष्यको प्राप्त किया है। पाना तो हम चाहते हैं वह वस्तु जिसे शंकराचार्यने, तुलसीदासने प्राप्त किया; किन्तु उस मार्गपर हम चलना नहीं चाहते जिसपर शंकराचार्य या तुलसीदास चलें।

'सल्लक्ष्ये' का अर्थ है—'सतां लक्ष्ये'। लक्ष्य वह है जो सत्पुरुषोंका लक्ष्य रहा है। क्या किसी सन्तने वासनापूर्तिके मार्गसे परमार्थ प्राप्त किया है?

लौकिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए भी अन्यका सहारा लेना आवश्यक होता है। तुम तो अद्वय, अविच्छिन्न ब्रह्मको पाना चाहते हो। उसके साधनमें यदि तुम्हारी रुचि ही न हो तो तुम उसे कैसे पा सकते हो!

व्यवहारमें बच्चेको सुधारनेके लिए उसपर क्रोध करना, उसे ताड़ना देना भी उचित होता है। विहित भोगका सेवन भी उचित होता है; किन्तु जब हम परमार्थके मार्गमें लगते हैं तब इसका भी त्याग करना पड़ता है।

दुःखका आना तो रोका नहीं जा सकता। दुःख तो वायु, वर्षा, गर्मी या सर्दी तथा रोग-बुढ़ापा आदि अनेक कारणोंसे आता है। उसे सहन करनेका अभ्यास बनाना, तथा सन्तोंने दुःख-निवृत्तिका जो मार्ग निकाला है उसमें मनको स्थापित करना चाहिए।

मैंने एक महापुरुषसे पूछा—'ईश्वर कैसे मिले?'

वे बोले—'कैसे! कैसे! कैसे! इस लालसाको बढ़ाओ!'

पहले अपने लक्ष्यको पहचानिये। आपका लक्ष्य तो परम सत्य है। वहाँ कालकी दाल नहीं गलती, दिशाका निर्देश नहीं चलता, वहाँ वस्तुकी पहुँच नहीं है।

अचिन्तनं चिन्तम्—उस लक्ष्यके लिए अचिन्तन ही चिन्तन है। उसके विषयमें चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है चित्तका निर्विषय हो जाना। देश, काल, वस्तु कुछ भी मत सोचो, यही ब्रह्म-चिन्तन है।

आप शान्ति चाहते हैं न? किस प्रकारकी शान्ति चाहते हैं? भूखा प्राणी भोजन करके शान्ति चाहता है, एक व्यक्ति विवाह करके शान्ति चाहता है। वह अपने प्रयत्नमें असफल होनेपर निराश होकर कुछ वर्षोंमें शान्त हो जाता है। आपको ऐसी ही शान्ति चाहिए क्या?

इच्छाकी पूर्ति और इच्छाकी निवृत्ति, दोनोंका नाम शान्ति नहीं है क्योंकि इनमें इच्छाका बीज विद्यमान रहता है। फिर तो दूसरी इच्छा भी उत्पन्न हो सकती है!

जब आप देखेंगे कि परमात्माके अतिरिक्त अब कोई वस्तु नहीं है, इच्छामें भी वही है और अनिच्छामें भी वही, तब आपको शान्ति प्राप्त हो जायगी।

अवस्थाविशेषका नाम परमार्थ नहीं है। पीठकी रीढ़ सीधी करके, नेत्र स्थिर करके, मनको एकाग्र कर चित्तवृत्तियोंका निरोध कर लें तब परमार्थ सिद्ध होगा, यह तो परमार्थको सीमित कर देना है।

अपने चित्तको एकाग्र करो। एक अग्र अर्थात् नोकवाला, नुकीले बाणके समान लक्ष्यवेध करनेवाला चित्त बनाओ। इस एकाग्रतासे किये गये लक्ष्यवेधको ही समाधान कहते हैं।



मुमुक्षाका स्वरूप

● **संगति**

चित्तको एकाग्र करना है, पर जब उससे वृत्ति-निरोधरूप समाधि नहीं प्राप्त करनी हो तो उस एकाग्रताका लक्ष्य क्या है? वह लक्ष्य है मोक्षकी तीव्रेच्छा। यही बतला रहे हैं। ●

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कथं में स्यात्कदा विधे।
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता॥ ९॥

एवं शमदिषट्कमभिधायैतत्कार्यभूतां मुमुक्षुतामाह—संसारबन्धेति। इति या सुदृढा बुद्धिः सा मुमुक्षुता वक्तव्येत्यन्वयः। सा केत्यत आह-संसारेरित। भो विधे मद्दैव, यद्वा सर्वकर्तवि-धातर्ब्रह्मन्! में मम संसारबन्धनिर्मुक्तिर्नानायोनिसंबन्धनिवृत्तिः कदा कस्मिन् काले कथं केन प्रकारेण भवेदित्येवंरूपा बुद्धि-मुमुक्षुतेत्यर्थः॥ 9॥

संसारके बन्धनसे मेरा छुटकारा कैसे, कब होगा— यह जो सुदृढ़ इच्छा है, इसे मुमुक्षा कहना चाहिए॥ 9॥

संसारी पुरुषको भय रहतका है कि कोई मेरा धन, स्त्री या पुत्र न छीन ले। एक महात्माने कहा—'तुम्हारे पास पाँच रुपये हैं। मैं उन्हें ठग लूँ तो तुम्हें दुःख होगा या नहीं? तुमको मुझपर अविश्वास होगा या नहीं?'

जिज्ञासु—'होगा।'

महात्मा—'तुम तो सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्चसे मुक्त होकर अविनाशी परिपूर्ण अद्वितीय परमात्माको प्राप्त करने आये हो। ब्रह्मलोक तकसे विरक्त होकर आनेकी बात सोचते-करते हो। तब क्या ये पाँच रुपये तुम्हारे त्यागे हुए प्रपञ्चसे बाहर है? तुम स्वयं इनका त्याग नहीं कर सकते थे, किसीने इनको तुमसे छुड़ा दिया तो उसने क्या बुरा किया?'

यह बात साधकके लिए है, संसारमें व्यवहार करनेके लिए नहीं।

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।

आश्चर्यकी बात है कि मोक्ष चाहनेवालेको मोक्षसे—छुटकारेसे ही डर लगता है। तुम सम्पूर्ण संसारका त्याग करने आये थे किन्तु पाँच रुपये चले जानेसे तुम्हें दुःख हो गया तो ढोंगी तुम हो या वह रुपया लेनेवाला?

एक मनुष्य खेतमें शौच जाता था। उसके गुरुने कहा—'आश्रमके खेतोंमें ही जाया करो। इससे खेतमें खाद हो जायगी।'

वह सोचने लगा—'गुरुजी बड़े लोभी हैं।'

अरे, जो वस्तु त्यागनी ही है वह यदि गुरु-सेवामें लग जाय तो इसमें क्या दोष आगया!

विधे—भाग्य, कर्म अथवा सृष्टि-निर्माता ब्रह्मा। 'विधे' के स्थानपर कहीं 'विभो' भी पाठ है। 'विभो' का अर्थ है—व्यापक, समर्थ। शिष्य गुरुसे कहता है—'हे विभो! हे समर्थ! मुझे इस संसारके बन्धनसे मुक्ति कब मिलेगी? कैसे मिलेगी?'

सच्ची मुमुक्षा उसीके हृदयमें होती है जिसे संसार बन्धनरूप, दुःखरूप, मृत्युरूप भासता है।

काममें बन्धन अभीष्ट होता है। उसमें पति-पत्नीकी गाँठ (प्रीति) बँधी रहनी चाहिए। अर्थ और धर्ममें इनके साथ बँधकर रहना पड़ता है। तुम यदि अनन्त स्वातन्त्र्य-प्राप्तिके जो साधन हैं उन्हें करना होगा, अपनाना होगा।



प्रसंगकी समाप्ति

● **संगति**

ये अबतक कहे गये चारों साधन—विवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा समाधानरूप षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षा, ये बहिरंग साधन हैं। बहिरंग साधन न हों तो अन्तरंग साधनका कोई अर्थ नहीं। इन साधनोंसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। जो साधन निद्रामें आपका साथ नहीं देता वह प्रलय और मृत्युमें भी साथ नहीं देगा। मनकी कोई स्थिति मृत्यु अथवा प्रलयमें नहीं टिक पावेगी। अतः जो नित्य सिद्ध स्वरूप है उसके ज्ञानके लिए ही प्रयत्न किया जाना चाहिए। ●

उक्तसाधनयुक्तेन विचारः पुरुषेण हि।
कर्त्तव्यो ज्ञानसिद्ध्यर्थमात्मनः शुभमिच्छता॥ 10॥

इदं साधनचतुष्टयं यदर्थमुपन्यस्तं तदिदानीं दर्शयति—उक्तेति। उक्तानि—ब्रह्मादीत्यारभ्य वक्तव्या सा मुमुक्षुतेत्यन्तग्रन्थसन्दर्भेण वर्णितानि यानि वैराग्यादिसाधनानि। ज्ञानोपकरणानि तैर्युक्तेन पुरुषेणाधिकारिणा देहवता मनुष्योत्तमेन हीति विद्वत्प्रसिद्धत्वेन वक्ष्यमाणलक्षणः। यद्वा हीत्यव्ययमेवार्थेऽन्यनिषेधार्थ इत्यर्थः। विचारो विवेकः कर्तव्य आवर्तयितव्यः। किमर्थमित्यत आह—ज्ञानसिद्ध्यर्थमिति। आत्मनो ज्ञानसिद्ध्यर्थं ब्रह्मात्मैक्यबोधोद्भवनाय। नन्वात्मज्ञानसिद्ध्या कः पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य मोक्षाख्यं चतुर्थपुरुषार्थरूपं फलं द्योतयन् पुरुषार्थं विशिनष्टि—शुभमिति। शुभं परमानन्दरूपत्वेन मङ्गलं मोक्षसुखमित्यर्थः। इच्छता प्रार्थयता। आत्मनः शुभमिति वान्वयः॥ 10॥

अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऊपर कहे गये साधनोंसे सम्पन्न होकर ज्ञानकी सिद्धिके लिए निश्चय ही विचार करना चाहिए॥ 10॥

अपने स्वरूपका ज्ञान ही परम कल्याण है। जितने भी दुःख हैं सब आविद्यक हैं। अविद्यासे अज्ञानके कारण ही संसारमें बन्धनकी भ्रान्ति होती है। भ्रान्तिका निवारण ज्ञानसे होता है। अतः ज्ञानकी सिद्धिके लिए विचार किया जाना चाहिए। स्मरण रहे, राजस-तामस बुद्धिमें विचार भी राजस-तामस ही आते हैं। अतः पहले बुद्धिको विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षाके द्वारा शुद्ध तथा परमार्थोन्मुखी करके तब विचार करना चाहिए। ●

विचारकी महत्ता

● **संगति**

विचार ही क्यों करना चाहिए, समाधि क्यों नहीं लगानी चाहिए? चित्तवृत्तिका निरोध करना हो तो समाधि लगा सकते हैं; किन्तु ज्ञानसिद्ध्यर्थ तो विचार ही करना आवश्यक है, यही बात कही जा रही है। ●

नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित्॥ 11॥

ननु ज्ञानसिद्ध्यर्थं विचार एव कर्तव्य इति नियमः कुतः क्रियत इत्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह—नोत्पद्यत इति। विचारेण विना अन्यसाधनैः कर्मोपासनालक्षणैः ज्ञानं नोत्पद्यते। तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा क्वचित्कस्मिंश्चिद्देशे सूर्यादिप्रकाशेन विना पदार्थभानं घटादिवस्तुप्रकाशो न भवति। हीति सर्वजन-प्रसिद्धम्। अतो नियमः क्रियत इति भावः॥ 11॥

विचारके बिना दूसरे किन्हीं भी साधनोंसे ज्ञान वैसे ही नहीं उत्पन्न होता जैसे प्रकाशके बिना पदार्थका भान कभी नहीं होता॥ 11॥

जैसे प्रकाशके बिना कुछ भी दिखायी पड़ना शक्य नहीं है, वैसे ही विचारके बिना ज्ञान होना शक्य नहीं है। विचार क्या है? एक चार अर्थात् चलना यह है कि आप हृदयसे नेत्रोंमें आये और नेत्रोंसे पुष्पतक गये, तब यह ज्ञात हुआ कि यह अमुक पुष्प है। वह कौन-सी वस्तु है जिसने पुष्पको पहचान लिया? क्या वह नेत्रमें है? नहीं। तब विपरीत चलिये। जिस क्रमसे पुष्पको देखने गये थे उससे विपरीत क्रमसे पुष्पको पहचाननेवालेको जाननेके लिए लौटिये। यह विपरीत चार वि+चार=विचार है।

नेत्र खुले रहें किन्तु मनका नेत्रोंसे संयोग न हो तो सामने पड़े पुष्पकी पहचान नहीं हो पाती। अतः पहचान करनेवालेको ढूँढ़नेके लिए नेत्रोंसे मनतक आइये। इस प्रकार वृत्तिका अन्तर्मुख प्रवाह विचार है। बाह्यवस्तुओंको देखनेके बदले अपने अन्तःकी वस्तुओंको देखना विचार है।

हम दिनमें कई बार दुःखी और कई बार सुखी होते हैं। सोचना यह है कि यह दुःख कहीं बाहरसे आता है या भीतर ही उत्पन्न होता है? दुःख सर्प, बिच्छू या अन्य किसी पदार्थमें नहीं रहता, यह तो मनका धर्म है। हम सोचते हैं 'ऐसा न हो तो हम सुखी रहेंगे' किन्तु यह नहीं समझते कि ऐसा होना न होना हमारे वशमें नहीं है। रात-दिन न हों, सर्दी-गर्मी न पड़े तब हम सुखी होंगे; ऐसा चाहते रहें तो हम कभी सुखी नहीं हो सकेंगे। वस्तुकी धारा रोकी नहीं जा सकती। बचपन, जवानी, बुढ़ापा, मृत्यु इन्हें भला कोई रोक पाया है! संसारमें बहुत-सी घटनाओंका होना निश्चित है। यह सब समझकर जब निश्चय करना है कि हम कितना ठीक कारणसे अथवा कितना अकारण अथवा अनुचित कारणसे दुखी होते हैं।

दुखी होना असत्यप्रतिसाधन है। जिस रोगकी कोई दवा ही नहीं है उसे सोच-सोचकर दुखी होना केवल नासमझी है।

यह प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धिका दोष है जिसे हम दुःख कहते हैं। शरीरको लेकर देखा जाय तो यह शरीर मैं नहीं हूँ। अतः हम दुःखको जितना वास्तविक समझते हैं उतना वास्तविक वह नहीं है। शरीरके जन्म-मरण, रोग-बुढ़ापा आदिका दुःख अज्ञानजन्य है।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

प्रतिदिन सहस्रों शोकके और सैकड़ों भयके निमित्त मूर्खको प्राप्त होते हैं, विचारवान्को नहीं। यह महाभारतकी गायत्री है। महाभारतमें इसे बहुत महत्त्व प्राप्त है।

विचारमें दुःख-निवारणकी बड़ी शक्ति है। अंगूर उत्पन्न होता है पकता है और फिर सड़ जाता है। यदि अंगूर अपनेको बीज-संस्कारयुक्त मानता है तो सड़ जाना उसकी मृत्यु है; किन्तु यदि वह अपनेको मिट्टी समझ ले तो कभी मरेगा ही नहीं। इसी प्रकार शरीर शिशु, बालक, युवा, वृद्ध होता

है और मर जाता है; किन्तु हम तो अमर हैं; शरीरको भी मिट्टी समझ लें तो वह भी अमर है। केवल बीजत्व जलता-मरता है, पञ्चभूत तो बना ही रहता है।

इसी प्रकार दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति चाहनेपर विचारका ही सहारा लेना पड़ेगा। ऐसा किये बिना किसी भी दूसरे साधनसे दुःख मिट नहीं सकता। संस्कार या दुर्वासना-परम्पराके कारण हम बहुत-सी अनर्गल बातें मानने लगे हैं। 'गतानुगतिको लोकः'—समाजके लोग तो भेड़ोंके समान एक दूसरेके पीछे चलनेवाले हैं। किन्तु हमने क्या सोच-विचारकर अपनेको जीव मान लिया है? पापी, पुण्यात्मा, सुखी, दुखी, लोक-लोकान्तरोंमें जानेवाला आदि क्या हमने अपनेको विचारपूर्वक माना है? इन मान्यताओंका आधार केवल अज्ञान है। इस अज्ञानको दूर करनेके लिए विचार करना आवश्यक है।



विचारका स्वरूप

● **संगति**

मुमुक्षु साधकको क्या तथा कैसा विचार करना चाहिए, यह बात अब अगले पाँच श्लोकोंमें बतला रहे हैं। ●

कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्ताऽस्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः॥ 12॥

तर्हि स विचारः कीदृश इत्यत आह—कोऽहमिति। अहं कर्ता सुखीत्यादि व्यवह्रियमाणः कः किंस्वरूपः तथा इदं जगत् स्थावरजङ्गमात्मकं कथं कस्माज्जातम्। किमधिष्ठानमित्यर्थः। तथाऽस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य जगतः कर्त्तोत्पादकः को विद्यते। वै इति विकल्पं द्योतयति। किं जीवदृष्टं कर्तृ किं वेश्वरः किं वान्यदेव किञ्चिदिति विकल्पः। किञ्चेह जगति उपादानं घटस्य मृद्वत् किमस्ति? अयमात्मा जगत्कारणविषयः ईदृश एवंस्वरूपो विचारः। स एव ज्ञानसाधनमित्यर्थः॥ 12॥

वह विचार इस प्रकारका है— मैं कौन हूँ, यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ, इसका कर्ता कौन है और इस जगत्‌का उपादान क्या है?॥ 12॥

हमें दुःख, मृत्यु एवं जड़तासे छुटकारा दिलानेवाला वह विचार कैसा है?

कोऽहम्—मैं कौन हूँ? स्वयं यह विचार न हो सके तो किसीसे सहायता लेकर विचार करना चाहिए।

एक सज्जन एक महात्माके समीप जाकर बोले—'मैं बहुत दुखी हूँ, क्या करूँ!'

महात्माने कहा—'तुम्हारे वस्त्र तो सुन्दर तथा स्वच्छ हैं। रात्रिमें तुमको ठीक निद्रा आयी थी?'

वे—'निद्रा तो ठीक आयी थी।'

महात्मा—'शामको भरपेट भोजन किया था?'

वे—'किया था।'

महात्मा—'तुमको वस्त्रका अभाव है नहीं। भोजन भी ठीक मिला। कोई चिन्ता होती तो निद्रा कैसे आती। फिर तुम दुखी क्यों हो?—*'परमानन्द स्वरूप तू, नहिं तोमें दुख लेस।'*

वे—'मुझे सम्बन्धियोंके वियोग तथा अपनी मृत्युका भय लगता है। मैं अज्ञानी हूँ।'

महात्मा—'मैं दुखी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, यह तुम्हारे चित्तकी केवल स्फुरणा है। तुम इनके साक्षी हो। तुमने अपने अज्ञानको, अपने दुःखको देखा है, अतः तुम इनके द्रष्टा होनेके कारण इनसे पृथक् हो। तुम तो चित्तकी इन स्फुरणाओंके प्रकाशक हो।'

जो सुखी और दुखी दिखायी देता है वह तुम नहीं हो, तुम तो वह हो जिसे यह दिखायी देता है। इस प्रकार विचार करो—'कोऽहम्?' मैं गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, मनुष्य-देवता, युवा-वृद्ध, सोता-जागता आदि हूँ—ये सब चित्तकी लहरें हैं। इनमें जो एकरस है वह अपना स्वरूप है। देश, काल और वस्तुमें परिवर्तन होता रहता है; किन्तु इनका जो साक्षी है वह इनसे परे है। वह अखण्ड ब्रह्म है।

कथमिदं जातम्—यह शरीर जिसे अज्ञानसे 'मैं' मान लिया जाता है, संसारका ही एक अंश है। यह संसार कहाँसे उत्पन्न हुआ? सोते समय यह अज्ञानमें लीन हो जाता है और जागनेपर अज्ञानसे निकल आता है। इस अज्ञानके पीछे जो चेतन बैठा है उसीमें सृष्टिका उदय-विलय अज्ञानसे होता है, उस चेतनामें अज्ञान है ही नहीं।

को वा कर्ताऽस्य—इस संसारका कर्ता या सञ्चालक कौन है? जो वस्तु अज्ञानसे भासती है वह है ही नहीं। जो है ही नहीं, केवल प्रतीत होती है, उसके कर्ताकी बात भी कल्पना ही है।

उपादानं किमस्तीह—इस सृष्टिका उपादान क्या है?

यदुपादाय कार्यं निर्मीयते तदुपादानम्।

जिसको लेकर कुछ बनाया जाता है वह बनाये हुए पदार्थका उपादान होता है। जैसे सूतसे कपड़ा बनाते हैं तो कपड़ेका उपादान सूत अथवा घड़ेका मिट्टी।

घड़ेमें जो भार है वह उसके आकारका है या घट नामका? भार तो उपादान मिट्टीका है। घड़ेके आकारमें जितनी मिट्टी है उतनी मिट्टी घड़ेका उपादान है।

ऐसे ही संसारका उपादान क्या है?

आप कहेंगे—'पता नहीं।'

बस, यह अज्ञान ही इस सृष्टिका उपादान है। सृष्टिके उपादान भी तुम्हीं हो और इसके कर्ता भी तुम्हीं हो।

घड़ेमें मिट्टी है अथवा मिट्टीमें घड़ा है? घड़ेमें मिट्टी नहीं है। घड़ेका नाम-रूप मिट्टीमें कल्पित है। इसी प्रकार देश-काल-वस्तु अखण्ड चेतनमें कल्पित हैं, वह देश-काल-वस्तुमें नहीं है। इस प्रकारका चिन्तन विचार कहा जाता है।

● संगति

मैं कौन हूँ, संसार कैसे उत्पन्न हुआ, इसका कर्ता कौन है और उपादान क्या है? यह विचार करते समय सबसे पहले 'कोऽहं'—मैं कौन हूँ, इस प्रश्नपर विचार करना है। यह विचार कैसे किया जाय, यह बतला रहे हैं। ●

नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा।
एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः॥ 13॥

ननु 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' इति बार्हस्पत्यसूत्राद्देहाकारेण परिणतानि पृथिव्यादिचत्वारि भूतान्येवात्मेति चार्वाका वदन्ति। स एव कर्ता सुखीत्यादिसर्वव्यवहारमूलमिति सर्वजनप्रसिद्धौ सत्यामात्मविषयो विचारो न स्यादित्यत आह—नाहमिति। अहमहंशब्दप्रत्यालम्बनः प्रत्यगात्मा भूतगणो यो देहः स न भवामि, तस्य घटादिवद् दृश्यत्वादित्यर्थः। 'तर्हीन्द्रियगणस्त्वं स्या' इति चार्वाकैकदेशिमतमुत्थाप्य दूषयति—नाहं चेति। च पुनरक्षगणः= श्रोत्रादीन्द्रियसङ्घातोऽप्यहं न भवामि। तथेतिपदेन देहवदिन्द्रियगणस्यापि भूतविकारत्वं दर्शितम्। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' इत्यादिश्रुतिरुभयत्र प्रमाणम्। ननु यदि देहद्वयं त्वं नासि तर्हि शून्यमेव स्यादित्याशङ्क्याह—एतदिति। एतद्विलक्षणः=एताभ्यां स्थूलसूक्ष्मदेहाभ्यां विपरीतधर्मकोऽस्मि। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिश्रुतेः। कश्चिदिति जात्यादि-रहितत्वान्मनोवाचामगोचरत्वं दर्शितम्। अयमीदृशः स विचार इति व्याख्या-तार्थश्चतुर्थः पादः श्लोकचतुष्टयेऽपि बोद्धव्यः॥ 13॥

वह विचार इस प्रकारका है कि न तो मैं पञ्चभूत और उनसे बना शरीर हूँ, न इन्द्रिय ही। मैं तो इनसे विलक्षण ही कोई हूँ॥ 13॥

नाहं भूतगणः—मैं न भूत हूँ, न भूतगण। काल और देश अनन्त हैं। उसमें ब्रह्माण्डकी सीमित आयु तथा ब्रह्माण्डका सीमित विस्तार कितना है? कुछ नहीं। अतः उस परब्रह्म परमात्मामें न देश है, न काल है, न वस्तु है। 'मैं नहीं हूँ' या 'ज्ञान नहीं है' यह अनुभव किसीको नहीं हो सकता। मैं ही अनन्त देश एवं कालका वह अधिष्ठान हूँ जिसमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका कोई स्थान नहीं है।

नाहं भूतगणः—जिसका वर्तमान न पकड़ा जा सके वह भूत। आपसे समय पूछा गया। तत्काल आपने घड़ी देखी किन्तु जबतक आप मुखसे बोलना प्रारम्भ करते हैं तबतक तो सेकेण्डका कितना ही भाग बीत जाता है।

मैं देह बनकर बैठता हूँ तब पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे तथा भूत-भविष्य-वर्तमानकी कल्पना बनती है। तब तो मैं ही 'यह-वह, पूर्व-पश्चिम तथा भूत-भविष्य' का निर्माता हूँ। देह तो पञ्चभूतोंका उपचय है। हड्डी-मांस-मेद-स्नायु-रक्त-मल-मूत्रकी राशिका नाम देह है। न तुम इस देहमें रक्त, न मांस, न हड्डी, न स्नायु। अर्थात् तुम यह देह नहीं हो!

जो वस्तु अपनी नहीं है उसे अपनी मानना दुःखका कारण होता है। किसी दूसरेकी घड़ी-छड़ी, कपड़ा-मकान, खेत-दूकान आदि अपनी मान लोगे तो उससे लड़ाई होगी। मैं देहको 'मैं' मानकर दुःखी हो रहा हूँ, यह संसर्गाध्यास है। जीवनमें अनेक बार भ्रम होता है कि यह वस्तु मेरी है। उसके कारण दुःखी भी हो लेते हैं। पीछे पता लगता है कि वह अपनी नहीं है।

देह मेरा क्यों हैं? क्या इसलिए कि वह मेरी वस्तुओंसे बना है, जैसे हमारे आटेसे बनी रोटी हमारी होती है? अच्छा, तब देहका उपादान क्या तुम्हारा है? देहमें जो मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश है वह क्या तुम्हारा है? यदि ये तुम्हारे नहीं है तो देह ही कैसे तुम्हारी है?

तुम तो इस देहको ही नहीं, इसकी पूँछ—नाम-रूप, पुत्र-परिवारादि—को भी मेरा मानते हो! यदि लकवा हो जाय तो प्राण रहते हाथ-पैर उठाये नहीं उठते। यह अपने देहपर अपना कैसा स्वामित्व है!

अपने श्रमसे देह बनता तो क्या कोई सर्प, बिच्छू या कीड़ा बनना चाहता? देह तुम्हारे अपने श्रमसे भी नहीं बनी है, तब तुम्हारी कैसे है?

कोई पदार्थ अपने पदार्थसे बना हो, अपने श्रमसे बना हो, अपने धनसे बना या खरीदा गया हो, शत्रुसे जीता गया हो तो अपना होता है। किसीने तुम्हें देह दानमें दी नहीं, पैतृक सम्पत्तिके समान वह 'दाय' में मिली नहीं, शत्रुको जीतकर उसे पाया नहीं, इस देहमें तुम दत्तक आये नहीं। इस प्रकार विचार करनेपर देहमें 'मैं-मेरा' किसी भी विधानसे सिद्ध नहीं होता। यह तो मूर्खतापूर्ण स्वतन्त्रता है कि तुम देहको 'मैं-मेरी' मानकर दुखी हो रहे हो।

नाहमक्षः—मैं नेत्र, कान, जीभ, या त्वचा आदिमें-से कोई इन्द्रिय नहीं हूँ, न इन्द्रियोंका समुदाय हूँ। इन इन्द्रियोंके साथ मेरा माना हुआ सम्बन्ध है। मैं एक हूँ और ये पाँच या दस हैं। ये तो यन्त्र हैं।

जो न अपनेको जाने, न दूसरेको, वह जड़ है अथवा जो न स्वयंप्रकाश, न परप्रकाश, वह जड़। जो अपनेको जाने और दूसरेको भी जाने वह स्वयंप्रकाश चेतन है। मेरा 'अहं' इन्द्रियसमूह नहीं है। ये अनेक हैं और मैं एक। ये दृश्य हैं, मैं द्रष्टा हूँ। ये जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। इनके सो जानेपर भी मैं जागता रहता हूँ।

आप पूछ सकते हैं—'हमें इस प्रकार अपनेको देह तथा इन्द्रियोंसे विलक्षण ढूँढ़नेसे क्या लाभ है?'

जो वस्तु 'मैं-मेरा' नहीं है उसे 'मैं-मेरा' मानकर तुम बहुत दुखी हो रहे हो। अपनेको ढूँढ़ो तो दुःख मिट जाय। सब सुख-दुःख मनकी गड़बड़ीसे ही होते हैं, मन ठीक हो जाय तो तुम तो आनन्दस्वरूप हो।

समझके अनुसार मनमें पाने-त्यागनेकी इच्छा होती है। मनसे समझ बड़ी है। समझसे बड़ा अनुभव है अतः मनको ठीक रखनेके लिए अच्छी समझ चाहिए।

आप सड़कपर चले जा रहे हैं। कोई दुर्घटना भी हो जाती है तो आप उधर ध्यान दिये बिना बढ़ जाते हैं। आगे पता लगे कि आपका कोई सम्बन्धी दुर्घटनाग्रस्त हो गया है तो आप लौटकर उसे देखेंगे और दुखी भी होंगे। यह दुःख दुर्घटनासे नहीं आया। यह तो आया ममतासे।

मैं जब घरसे वाराणसी आता था तो अनेक बार कचौड़ीगलीमें पूड़ी-कचौड़ी खाने बैठता था। मणिकर्णिकाघाट (श्मशान) जानेके लिए उसी गलीसे लोग 'राम-नाम सत्य है' कहते मुर्दे ले जाया करते हैं। हम खाते रहते

और मुर्दे जाते। कभी किसी शवके साथ कोई परिचित दिखायी दे जाता तो पूछ लेते कि कौन मर गया है? यदि किसी सम्बन्धीका नाम निकल आता तो भोजन छूट जाता और उसके साथ श्मशान जाना पड़ता।

महात्मा गाँधीजीकी मृत्युका समाचार मिला तो बहुत दुःख हुआ; क्योंकि जो काम वे कर रहे थे उसमें बहुत महत्त्वबुद्धि थी। इस प्रकार दुःख अपने मनसे निकलता है।

आप यदि दूधको चौकोर बनाना चाहते हैं तो दूधको ही जमाना पड़ेगा। जहाँ जो आकार बनता है उसमें वह होता नहीं है। जहाँ मन रहता है वहीं दुःख रहता है। दुःख मनका आकार है। दुःखका बीज मनमें है। आनन्दके पवित्र हाथों दुःखका निर्माण नहीं होता। प्रकृति दुःखका निर्माण नहीं करती। जहाँ ईश्वरके मतसे हमारा मत नहीं मिलता वहाँ दुःख होता है। जहाँ हम प्रकृतिके परिणामको स्वीकार नहीं करते वहाँ दुःख होता है। जहाँ हम वस्तुको 'मैं-मेरी' मानकर त्यागना नहीं चाहते या अन्यकी वस्तुको अपनी बनाना चाहते हैं वहाँ दुःख होता है। दुःख मनका विरोधाभास है। वस्तुविज्ञान एवं आत्मविज्ञानकी ठीक-ठीक संगति हमारी बुद्धिमें न होनेसे दुःख होता है।

काशीजीमें एक लक्खी चबूतरा है। एक सेठने अपना मकान गलीमें एक हाथ बढ़ा लिया। इसे लेकर मुकदमा चला और उस समय वह प्रीवीकौन्सिल तक गया। चबूतरा तो रह गया किन्तु सेठ उजड़ गया। उस समय जब रुपया आजसे बहुत मँहगा या, लाखों रुपये मुकदमेमें लग गये। सेठको किसने उजाड़ा? उसके 'अहं' ने।

सुख-दुःख ही नहीं, पाप-पुण्य भी तभी होता है जब आप 'मैं-मेरे' के चक्करमें पड़ जाते हैं। 'मैं-मेरा' परिच्छिन्न न हो तो आप ईश्वरसे एक हो जायँ। तब आप सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आना-जाना सबसे परे होंगे।

मैं देह नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय-समूह नहीं हूँ, मैं इनसे विलक्षण हूँ। इस विचारसे सब परिच्छिन्नता, सब अभिमान कट जायँगे। हिन्दूको मनुष्य होनेके लिए या ब्राह्मणको हिन्दू होनेके लिए क्या कोई श्रम करना होता है? हिन्दू मनुष्य तो पहलेसे है। ब्राह्मण हिन्दू तो है ही। इसी प्रकार जीवको ईश्वर होनेके लिए कोई श्रम नहीं करना, केवल हिन्दुत्व, मनुष्यत्व, जीवत्व आदिका अभिमान ही छोड़ना है।

बीज-विशिष्ट चेतनको ही जीव कहते हैं। संस्कार-विशिष्ट सत्ताको ही आम, अंगूर, अनार आदि कहते हैं। मिट्टी-पानी तो संस्कार नहीं पकड़ते। एक प्रकारके संस्कारोंको अपने आपमें आरोप करके हम अपनेको मनुष्य, हिन्दू, ब्राह्मणादि मान लेते हैं। जो वस्तु बाहरसे आयी है, सुषुप्तिमें भूल जाती है और मृत्युमें छूट जाती है, उसे 'मैं' के साथ—साक्षीके साथ जोड़ लेना नासमझी है। एतद्विलक्षणः कश्चिद्—मैं इन सब संस्कारोंसे विलक्षण हूँ। किसी-न-किसी भावमें 'मैं' करनेसे ही हममें परिच्छिन्नता आयी है। किसी भावमें यदि 'मैं' नहीं है तो वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही हूँ।

● **संगति**

यह परिच्छिन्नता आयी ही क्यों? इस 'मैं-मेरेपन' का हेतु क्या है? अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें यह इतना भेद क्यों दिखायी देता है? इसका उत्तर दे रहे हैं। ●

अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते।
सङ्कल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः॥ 14॥

तदेवं कोऽहमित्येतन्निश्चित्येदानीं कथमिदं जातमित्यस्य निश्चयः क्रियते। तत्र 'पृथिव्यादिभूतानि कार्यत्वात्स्वस्वपरमाणुभ्यो जायन्ते' इति तार्किकादयो मन्यन्ते। 'कर्मणो जायन्ते' इति मीमांसकाः। 'प्रधानादेव' इति साङ्ख्याः। तदेतन्निराकुर्वन्नाह—अज्ञानेति। सर्वं जगदिदं नामरूपात्मकमज्ञानप्रभवमज्ञानात्पूर्वोक्तस्वस्वरूपास्फुरणात्प्रभवति। तथाविधम्, अत एवैतद्विरोधिना ज्ञानेन स्वस्वरूपस्फुरणेन तम इव प्रकाशेन प्रविलीयते निश्शेषलीनं भवतीत्यर्थः। को वै कर्तेत्यस्य निर्णयमाह—सङ्कल्प इति। विविधो नानाप्रकारः सङ्कल्पः इदं करिष्यामीत्यादिलक्षणोऽन्तःकरणपरिणामः। कारणानुकूलव्यापारवान् कर्त्ता। शेषं पूर्वोक्तम्॥ 14॥

वह विचार इस प्रकार करना है कि यह सब दुःख अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और ज्ञानसे इसकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसमें जो विविधता है उसे उत्पन्न करनेवाला सङ्कल्प ही है॥ 14॥

किसीने अपने बच्चेका नाम करोड़ीमल रख दिया। नाम तो करोड़ीमल भी होता है और छदामीमल भी। ये नाम सोच-विचारकर नहीं रखे गये। मान लीजिये आपका नाम करोड़ीमल है। अब इस नामको यदि कोई गाली देता है तो अविचारसे ही देता है। आपको भी अविचारसे ही उस गालीसे दुःख होता है।

आचार-विचार, रहनी आदि सब मान्यतासे हैं। सब अज्ञानसे कल्पित हैं। ज्ञान होनेपर यह भेदभ्रम मिट जाता है।

एक मनुष्यको अपने घरमें खुदाई करते समय कुछ चमकीले पत्थर मिले। उसने समझा कि ये हीरे हैं। बड़ा हर्ष हुआ उसको—'अब तो मैं करोड़पति हो गया!' उन्हें लेकर जौहरीके पास गया तो जौहरीने बतलाया कि ये हीरे नहीं हैं, केवल साधारण स्फटिक पत्थर हैं।

उसके हर्षका ज्वर उतर गया। बड़ा दुःख हुआ—'हाय! ये हीरे नहीं निकले!'

उस मनुष्यके इस दुःखमें क्या वे पत्थर कारण थे? नहीं। कारण तो अज्ञान था जिससे पत्थर हीरे जान पड़े। ज्ञानसे उनका हीरापन मिट गया। वे पत्थर तो पहलेसे थे।

यह 'मैं-मेरापन' सृष्टिके मूलतत्त्वके अज्ञानसे है। यही दुःख देता है। सृष्टिके मूलतत्त्वके ज्ञानसे यह मिट जाता है। अतः सृष्टिके मूलतत्त्वमें दुःख नहीं है। दुःख तो अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है और ज्ञानसे मिटेगा।

सत्यवस्तु अपना आत्मा है। अपने आत्माको छोड़कर और कुछ सत्य नहीं है। देश, काल, आकारके बीजरूपमें भी वृत्ति है और देश, काल, वस्तुके अङ्कुररूपमें भी वृत्ति ही है। वृत्तिकी बीजावस्था और अङ्कुरावस्था इन दोनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा है अतः यह आत्मा देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं प्रत्युत अविनाशी, परिपूर्ण, अखण्ड ज्ञानस्वरूप, अद्वितीय ब्रह्म है।

सङ्कल्पो विविधः कर्ता—'यह कर्ता, यह अकर्ता; इसने पाप किया, इसने पुण्य किया' यह सब सङ्कल्प है। जिस कार्यको हम पाप या पुण्य मानते हैं वह एक स्थान, एक समय, एक जाति या एक अमुक व्यक्तिके लिए पाप या पुण्य होता है तो दूसरे देश, दूसरे समय दूसरी जाति या अमुक दूसरे व्यक्तिके लिए ठीक उलटा पुण्य या पाप हो जाता है। जैसे साधुके लिए हिंसा पाप है। सैनिकके लिए घरपर किसीको मारना अपराध है; किन्तु युद्धमें शत्रुको मारना धर्म है।

पाप-पुण्य क्रिया या तत्त्वमें नहीं होते। ये होते हैं सम्विधानमें। जब जिसके लिए जिस स्थानपर परिस्थितियोंमें जो कुछ करनेका विधान है वह करना पुण्य है, उससे विपरीत करना पाप है। इस प्रकार विविध कर्ताके रूपमें सङ्कल्प ही स्थित है। हम मनमें स्थिर कर लेते हैं 'यह अच्छा है' तो उसके न

होने पर दुःखी होते हैं; किन्तु बच्चा अच्छा-बुरा नहीं जानता अतः वह इस प्रकार दुःखी नहीं होता। जहाँ सुख-दुःख वस्तुनिष्ठ होता है वहाँ वह सबको होता है। जैसे अग्निसे जैसे हम जलते हैं वैसे ही अनजान शिशु भी जलता है।

● **संगति**

यह सङ्कल्प किसमें है? यह अज्ञान, नामसझी, वासनाका निवास किसमें है, यह बतला रहे हैं। ●

एतयोर्यदुपादानमेकं सूक्ष्मं सदव्ययम्।
यथैव मृद्घटादीनां विचारः सोऽयमीदृशः ॥ 15 ॥

अथोपादानं किमस्तीत्यस्य निर्णयमाह—एतयोरिति। एतयोरज्ञान-सङ्कल्पयोर्यदुपादानं उत्पत्तिस्थितिनाशाय कारणं तत्तु सत्कालत्रयाबाध्यं ब्रह्मैव नान्यदित्यर्थः। अत एवाधिष्ठानज्ञाननिवृत्त्याऽज्ञानकार्यत्वेन मिथ्याभूतमपि जगत् यावज्ज्ञानोदयं रज्जुसर्पादिवत् संसारभयव्यवहारक्षमंभवेदिति भावः। ब्रह्मणः सत्त्वे हेतुः-अव्ययमिति। अव्ययमपक्षयरहितम्। अनेनैतत्पूर्वभूता अपि जन्मादिविकारा निरस्ताः, नाशश्च निरस्तः। षड्भावविकारराहित्ये हेतुः एकं सजातीयादिभेदशून्यम्। तद्धि कुतो न दृश्यते तत्राह—सूक्ष्ममिति। सूक्ष्मं मनोवागादीन्द्रियागोचरम्। तेषां प्रवृत्तिजातिक्रियादिशून्यत्वादित्यर्थः। ब्रह्मण उपादानत्वे दृष्टान्तमाह--यथैवेति। यथैव मृद्घटादीनामुपादानं तथैवेत्यर्थः। एवंप्रकारेण कार्यकारणभेदो नाममात्रमिति सूचितम्॥ 15 ॥

इन (अज्ञान और सङ्कल्प)का जो उपादान है, वह एक है, सूक्ष्म है, सत् है और अव्यय है। जैसे घट, शराब (सकोरे) आदिका (उपादान मिट्टी एक, सत् और अव्यय) है, इस प्रकारका विचार करना चाहिए॥ 15 ॥

मनुष्यको जितना दुःख होता है वह उसकी नासमझी (अज्ञान) या वासनासे होता है अमुकने प्रणाम नहीं किया इससे हमें दुःख हो गया। यह भी तो सम्भव है कि उसने ध्यान न दिया हो किसी अन्य बातमें तल्लीन रहा हो, हमें उसने देखा ही न हो। उससे प्रणाम करवानेकी वासनाने हमें दुःखी किया। जब भी दूसरेसे सुख या दुःख होता है तो वह अपनी ही वासनाके कारण होता है। जब हम स्वयं सुखी-दुखी होते हैं तो नासमझीके कारण होते हैं। ये झूठ-मूठके बने पूर्व-पश्चिम, छाया-प्रकाश, मिनट-घण्टे अर्थात् देश, काल, वस्तु ही हमें दुःख देते हैं।

दिल्लीमें एक आर्यसमाजी सज्जन रहते थे। उनका ज्योतिषपर विश्वास नहीं था। उनके पुत्रका विवाह होना था। उन्होंने निश्चित किया कि विवाहके लिए बारात 6 बजे निकलेगी। किन्हीं कारणोंसे बाजेवाले समयपर नहीं पहुँच सके। वे सज्जन बिगड़ने लगे—'मुर्हूत निकला जा रहा है और बाजेवालोंका पता नहीं है।'

भाई! यह मुहूर्त ज्योतिषका तो था नहीं। वह तो तुम्हारा ही निश्चित किया हुआ था अत: छ: के बदले सात कर दो उसे, क्या हानि है!

अज्ञान और संकल्प दोनोंका उपादान क्या है? ये दोनों किसमें हैं? इस प्रकार विचार करना चाहिए। जो समाधि अभ्याससे लगती है वही विचारसे भी लगती है। यम-नियमका पालन, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारके अभ्याससे धारणा-ध्यानके द्वारा जो समाधि लगती है, उसमें जो तन्मयता होती है, वही तन्मयता हो जाती है यदि वस्तुका ठीक-ठीक विचार हो।

चित्तकी दो अवस्थाएँ होती हैं—संकल्पात्मक अर्थात् ग्रहणात्मक अवस्था और शान्तावस्था अर्थात् अग्रहणात्मक अवस्था। इनमें-से ग्रहणात्मक अवस्थाके दो भेद हैं—यथार्थ ग्रहण और विपरीत ग्रहण (अन्यथा ग्रहण)। यथार्थ ग्रहण जाग्रत् अवस्थामें होता है और अन्यथा ग्रहण स्वप्नमें। जो वस्तु वहाँ नहीं है, उस समय नहीं है, उस रूपमें नहीं है, उसका उस समय, वहाँ, उस रूपमें ग्रहण होना अन्यथा ग्रहण है। सुषुप्तिमें अग्रहण है। यह सब किसको ज्ञात होता है? यथार्थ और अयथार्थ दोनों संकल्प मुझे ज्ञात होते हैं। अग्रहणका भी मुझे पता लगता है। वस्तुको देखना, विपरीत देखना या न देखना; ये तीनों अवस्थाएँ हमारे चित्तकी होती है। हम इन तीनोंसे परे रहते हैं।

ये संकल्प और अज्ञान जिस एकको, जिस एकसे प्रतीत होते हैं वह सूक्ष्म सत्ता अविनाशी है। जैसे रस्सीका ज्ञान, रस्सीमें सर्पका भान और रस्सीका अज्ञान ये तीनों एक ही उपादानमें एकको ही प्रतीत होते हैं वैसे ही जगत्का ठीक-ठीक भासना, विपरीत भासना और न भासना, ये तीनों अवस्थाएँ एकमें ही होती हैं।

घड़ेका बनना, घड़ेका फूटना और घड़नेका न रहना, ये सब अवस्थाएँ जैसे मिट्टीमें ही होती हैं, ऐसे ही सृष्टिका जाग्रत्में होना, स्वप्नमें विपरीत भासना

और सुषुप्तिमें न भासना, यह जिस सूक्ष्म अविनाशी सत्तामें होता है वह सूक्ष्म अविनाशी सत्ता 'मैं'से एक होती है। वह क्या है?

आपको विचारमें तीन बातें कभी नहीं आ सकतीं—1. 'मैं' नहीं हूँ, 2. ज्ञान नहीं है और 3. मैं अपना अप्रिय हूँ। कोई कहे कि 'ज्ञान नहीं है' तो यह ज्ञान न होनेका ज्ञान तो उसे है ही! हमारा हृदय आकाशके समान है। उसमें दुःखके मेघ कभी-कभी आते हैं। कई बार देखा है कि शव-यात्रामें श्मशान जाकर भी लोग हँसते हैं। कोई रो कहाँ तक सकता है! रुदन तो जीवनमें बिना बुलाये अतिथिके समान आजाता है अतः वह जायगा ही। आप बड़े-बड़े विद्वानोंको भी अज्ञानी मानते हैं क्योंकि ज्ञान आपका स्वरूप है। लोगोंको कहते हुए सुना है—'महाराजजी व्यवहारकी बात क्या जानें!' अतः विचार करनेसे प्रतीत होता है कि संकल्प और अज्ञान दोनों हममें बिना हुए ही भासते हैं।

● संगति

संकल्प और अज्ञान अपनेमें भास रहे हैं तो अपना स्वरूप कैसा है? संकल्प और अज्ञानके उपादान होनेके कारण क्या हम विकारी एवं अज्ञानी हैं? इस आशंकाका समाधान करते हैं। ●

अहमेकोऽपि सूक्ष्मश्च ज्ञाता साक्षी सदव्ययः।
तदहं नात्र सन्देहो विचारः सोऽयमीदृशः॥ 16॥

ननु यद्यपि कार्यकारणभेदो वाचारम्भणमात्रस्तथापि जीवब्रह्मणोर्भेदो वास्तवः स्यादित्याशङ्क्याह—अहमिति। अत्र यत इत्यध्याहारः। तथाचायमर्थः—यतोऽहमहंप्रत्ययवेद्योप्येकः सजातीयादिभेदशून्यः। मनुष्यमात्रेऽप्यहंबुद्धेरेकत्वप्रतीतेरित्यर्थः। च पुनः सूक्ष्म इन्द्रियागोचरः। पुनर्ज्ञाताऽहङ्कारादिप्रकाशकत्वेन चेतन इत्यर्थः। तथा साक्षी साक्षादिन्द्रियार्थसन्निकर्षं विनैवेक्षते पश्यति प्रकाशयतीति साक्षीः निर्विकार इथ्यर्थः। अत एव सदव्ययः संश्चासावव्ययश्च, विनाशापक्षयोपलक्षितसर्वविकारशून्य इत्यर्थः। यस्मादेवंभूतोऽहं तत्तस्मादहमहंप्रत्ययवेद्यस्तत्सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। सोऽयमीदृशो विचार इति॥ 16॥

वह विचार इस प्रकारका है कि जो एक रहते हुए भी सूक्ष्म है, ज्ञाता है, साक्षी है सत् है, वही मैं हूँ, इसमें सन्देह नहीं॥ 16॥

सृष्टिकी लीला विचित्र है कि है तो एक; किन्तु इसमें अनेकता भासती

है। साधनकी विशेषता ही यह है कि दिखायी देती हुई अनेकतामें एकताकी खोज की जाय; मर्त्यमें अमर्त्यको, छोटोंमें बड़ेको, विनाशीमें अविनाशीको, जड़में चेतनको एवं दुःखमें सुखको पहचान लिया जाय।

दुःखसे पूर्व क्या रहता है? सुख। दुःखका बीज संसारके सुख-भोगमें ही है और संसारके सुखभोगका बीज दुःखमें है। सुख-दुःख दोनोंमें जो एक है वह अपना आत्मा है।

'क्या खायेंगे, क्या करेंगे' यह भोग-विचार है। भोग-विचार, रोग-विचार, धर्म-विचार, योग-विचार, संयोग-वियोग-विचार, ये भिन्न-भिन्न विचार हैं; किन्तु तत्त्व-विचार 'मैं'के विचारसे प्रारम्भ होता है।

'मैं कौन हूँ, संसार क्या है, संसार कहाँसे आया, संसार कैसे बना, परमात्मासे हमारा क्या सम्बन्ध है, हम दुःखसे कैसे बचें' यह सब विचार परमार्थ-विचार है।

विचार यह करना है कि सत्य क्या है। जिसे हम कभी असत्य है, ऐसा न सोच सकें और असत्य न बना सकें वह सत्य है। हम अपनेको न असत्य सोच सकते, न बना सकते, अतः यह अपना आपा सत्य है।

इस मार्गमें (परमार्थ-विचारमें) कुछ आलसी चलते हैं और कुछ प्रज्ञावान् चलते हैं। कुछ प्रज्ञावान् आलसी तो शान्ति चाहते हैं। जाग्रत्में सुषुप्तिके समान निःसंकल्प बैठ गये तो समझते हैं—'यह बड़ी ऊँची अवस्था है। शान्ति मिली, विश्राम मिला।' वे आशा करते हैं—'इसमें-से प्रज्ञाका उदय होगा।' किन्तु जब यह शान्ति टूटेगी तो पहले जैसा सुखीपना-दुखीपना, राग-द्वेष, पाप-पुण्य फिर होने लगेंगे। हम साक्षी तो हैं पर किसके? देश, काल, वस्तुके। ऐसी अवस्थामें देश, काल, वस्तु तो बने ही हैं। ये हमें सतावेंगे। जब इस साक्षीको हम ब्रह्मरूप जान लेते हैं तो देश, काल वस्तु बाधित हो जाते हैं। अतः द्वैतका भ्रम वृत्तिज्ञान अपनी अद्वितीयताके ज्ञानसे ही मिटेगा।

साक्षीमें लम्बाई-चौड़ाई अर्थात् देश नहीं होता। साक्षीमें काल नहीं होता अर्थात् साक्षीकी आयु नहीं होती। साक्षीका साक्ष्य सत्य नहीं होता। साक्षी अद्वितीय होता है। यह साक्षीका अद्वितीयत्व-प्रतिपादन वेदान्तकी विशेषता है। वेदान्त ही केवल यह बात कहता है।



अज्ञानका वर्णन

● संगति

विचार कैसा करना चाहिए यह बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें यह बतला रहे हैं कि जीवनमें अविचार या अज्ञान है। ●

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥ 17॥

एतदेव जीवब्रह्मैकज्ञानप्रदर्शनेन दृढयति—आत्मेत्यादिपञ्चभिः। यतोऽप्रत्ययवेद्य आत्मा—अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वावस्थास्वनुवर्तत इत्यात्मा, अवस्थात्रयभावाभावसाक्षित्वेन सत्यज्ञानादिस्वरूप इत्यर्थः। स त्वंपदलक्ष्यार्थोऽपि तत्पदलक्ष्यार्थ एव। विनिष्कलो विशेषेण निर्गतकलो निरवयव इत्यर्थः। अन्यथा सावयवत्वे घटादिवद्विनाशित्वापत्तिरिति भावः। अत्र हेतुः—एकः। हीति 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिं द्योतयति। ननु तथा लिङ्गदेहोऽप्यस्तीति चेन्नेत्याह-देह इति। देहो लिङ्गदेहः। सूक्ष्मशरीरमिति यावत्। स बहुभिः कलाभिः श्रोत्रादिबुद्ध्यन्ताभिः सप्तदशभिरावृतः आच्छादितस्तत्सङ्घात इत्यर्थः। अत एव लिङ्गदेहस्य निरवयवत्वाद्यभावात् ज्ञानेन तत्कारणाज्ञाननिवृत्तौ निवृत्तिरन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति भावः। एवमतिवैलक्षण्ये सत्यपि तयोरात्मदेहयोः प्रकाशतमसोरिवैक्यमैकात्म्यं प्रपश्यन्ति तार्किकादय इत्यर्थः। अतो विपरीत-दर्शनात्परमन्यदज्ञानं किमस्ति एतदेवाज्ञानमित्यर्थः। विपर्ययरूपकर्मान्यथानुपपत्त्या तत्कारणं मूलाज्ञानं कल्प्यत इति भावः॥ 17॥

आत्मा सर्वथा कलारहित और एक है तथा देह अनेकताओंसे घिरी है। (किन्तु लोग) इन दोनोंको एक समझते हैं, इससे बड़ा अज्ञान और क्या होगा॥ 17॥

जैसे धातु, औषधि आदिकी शोध-प्रणाली होती है वैसे ही आत्माकी भी शोध-प्रणाली है। वह यह है कि सृष्टिके दो विभाग कर लिये जायँ—पहला

'मैं' और दूसरा वह सब जो 'यह'के रूपमें प्रतीत होता है। संसारमें जो कुछ 'यह'के रूपमें प्रतीत होता है वह 'मैं' नहीं हूँ। जो 'मैं'के रूपमें जान पड़ता है वह 'यह' नहीं है। अब देखना चाहिए कि 'यह', 'यह' अनेक ही होता है, कभी एक नहीं होता। इसके विपरीत 'मैं' अनेक नहीं होता, अनेकताके ज्ञाताका नाम 'मैं' होता है।

जो कुछ 'यह'के रूपमें जाना जायगा वह जड़ होगा। उसको जाननेवाला चेतन होगा। 'यह' जड़ है और 'मैं' चेतन हूँ। 'यह' परिवर्तनशील है और 'मैं' अपरिवर्तनीय हूँ। इस प्रकार 'इदं' और 'अहं'को पृथक्-पृथक् करनेकी शैली ही आत्मज्ञानकी शैली है।

आत्मा शब्दके चार अर्थ होते हैं—

येनेक्ष्यते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

1. जो देखता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है और छूता है अर्थात् जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषयोंका अनुभव करता है वह आत्मा है। हम अपना गोरा-काला-रङ्ग, दुबला-मोटापन, मनकी शान्ति-अशान्ति आदि तो पहचानते हैं किन्तु जो सबसे भीतर रहकर इन सबको पहचानता है उसे नहीं पहचानते! वही आत्मा है।

2. इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका ग्रहण न करते हुए भी स्वप्नमें इन सब विषयोंकी स्वयं कल्पना करके इनका अनुभव करनेवाला आत्मा है। जाग्रत्‌का संस्कार ग्रहण करके जो स्वप्न देखता है वह जाग्रत्-स्वप्न दोनोंसे सूक्ष्म है। मनुष्य जाग्रत्‌के समान ही स्वप्नमें भी काम, क्रोध, लोभ, भय, मोह आदिसे प्रेरित होता रहता है। किन्तु स्वप्नमें जो दिखायी देता है, वह तुम नहीं हो। जो स्वप्न देखता है वह तुम हो।

3. सुषुप्तिमें जिसे जाग्रत्-स्वप्नका न होना ज्ञात होता है वह आत्मा है। इस अवस्थामें एक विशेषता यह है कि संसारका कोई भोग, कोई वस्तु न रहनेपर भी आराम रहता है, 'बड़े सुखसे सोये' यह अनुभव होता है।

जाग्रत्‌में हम केवल विद्यमान पदार्थोंको देखते हैं और उनसे अपना सुख-दुःख मानते हैं। स्वप्नमें हम ही पदार्थोंको बनाते हैं और उन पदार्थोंसे

सुख-दुःख भी मानते हैं। जाग्रत्‌में सद्‌वासना रहे तो स्वप्नमें स्वर्गका सुख मिल सकता है। यदि अभ्यास करके जाग्रत्‌में सुषुप्ति जैसी अवस्था बना ली जाय तो समाधि सिद्ध हो जाती है। यह जो सुषुप्तिका अनुभव करता है वही आत्मा है।

4. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें जो एक रहता है, जो इन तीनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला है वह 'मैं' हूँ। यही आत्मा है।

यह आत्मा विनिष्कल है। काल-कला है आयुके रूपमें, पृथ्वी-कला मिट्टीके रूपमें, जल-कला रक्तके रूपमें, अग्नि-कला उष्णताके रूपमें, वायु-कला श्वासके रूपमें और आकाश-कला अवकाशके रूपमें देहमें ही है, आत्मामें कोई कला नहीं है। आत्मा कलाओंसे विनिष्क्रान्त है।

देह कण-कणसे बना है। यह तो घट है अर्थात् गढ़ा गया है। यदि हम अपनेको घट समझते हैं तब तो उसमें कभी गंगाजल भरा जायगा तो कभी शराब भी। कभी वह फूटेगा भी। यदि अपनेको घट न समझकर शुद्ध मिट्टी ही समझ लें तो प्रत्येक शरीरके भिन्नत्वका भेद मिट जायगा। हम चेतन व्यक्ति नहीं, चेतन तत्त्व हैं।

जड़ देहका जन्म-मरण होता है। लोक-लोकान्तरमें व्यक्ति जाता है। चेतन तत्त्व एकरस रहता है। जन्म-मरण, दीनता-हीनता, पाप-पुण्य इस देहको 'मैं' माननेसे ही प्राप्त हुए हैं। अपनेको चेतन तत्त्व माना जाय तो व्यक्तित्वका दुःख मिट जायगा।

आत्मा कण-कण, कला-कला नहीं है। यह एक चैतन्य तत्त्व है। यदि आत्मामें कला होगी तो वह भी जानी जायगी, तब वह अनात्मा होगी। अतः आत्मामें कलाका होना सम्भव नहीं है।

देहो बहुभिरावृतः—देह तो प्याजके समान है, छिलकेपर छिलका उतारते चले जाओ। एकपर एक पर्दे चढ़े हैं। इनको उतारते जाओ तो वह शेष रहेगा जो सबका द्रष्टा है। इस देहको 'मैं' मानकर शुद्ध चैतन्य हड्डी-मांस, भेद-मज्जा, स्नायु-चर्म, रक्त-कफ, मल-मूत्र बन गया; पापी-पुण्यात्मा, दीन-हीन, रागी-द्वेषी हो गया। इसीलिए तो 'पशुवद् भूतवैशसम्'—पशुओंके समान परस्पर शत्रुता करने लगा। इस अनेक तत्त्वोंसे बने देहको जो 'मैं' समझता है, इससे बड़ा अज्ञान भला क्या होगा! देहको 'मैं' समझना पीतलको स्वर्ण समझना है, और आत्माको देह समझना स्वर्णको पीतल समझना है। यह बहुत

गन्दा मेल है। इसी कारण स्वर्ग-नरक जाना पड़ता है। अतः देहसे अपने 'मैं'को नहीं मिलाना चाहिए।

● **संगति**

केवल इतना ही भेद नहीं है कि आत्मा विनिष्कल है और देह अनेक तत्त्वोंसे बना है। आत्मा और देहको एक मानना तो राजा और नौकरको एक मानने जैसा अज्ञान है, यह बतला रहे हैं। ●

आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो बाह्यो नियम्यकः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥ 18॥

पुनर्वैलक्षण्यमाह—आत्मेति। आत्मा नियामको नियन्ता। च पुनरन्तः पञ्चकोषान्तरः, देहस्तु नियम्यः सन् बाह्यः। तयोरैक्यमित्युत्तरार्द्धं व्याख्यातम्। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्॥ 18॥

आत्मा नियन्ता है और आन्तरतत्त्व है तथा देह नियम्य एवं वाह्य है। इन दोनोंको लोग एक देखते हैं। इससे बड़ा अज्ञान भला और क्या होगा॥ 18॥

मनुष्य तो धनको भी 'मैं' समझ बैठता है। व्यापारमें घाटा होनेपर लोग कहते हैं—'हाय! मैं मर गया।' धनमें तादात्म्य होनेसे ही यह दुःख होता है।

स्पष्ट है नेत्र पृथक् हैं और हाथ पृथक् हैं किन्तु नेत्रमें कुछ पड़ जाय तो उसे निकालनेको हाथ पहुँच जाता है। निद्रामें भी मच्छर काटे तो हाथ वहाँ पहुँच जाता है; क्योंकि जिसके नेत्र हैं उसीके हाथ भी हैं। जिसका देह है उसीके हाथ हैं। नेत्र और हाथ दोनोंकी वासनापूर्तिमें सुख जिस एकको होता है वह आत्मा है।

शरीरमें 'मैं' कहाँ है? थालीमें यह रोटी रखी है। यही रोटी पेटमें पहुँच जानेपर 'मैं' हो जाती है; किन्तु यदि वमन हो जाय और रोटी पेटसे बाहर आजाय तो 'मैं' नहीं रह जाती।

'मैं' नेत्र नहीं हूँ, नेत्रोंसे देखनेवाला हूँ। मैं हाथ नहीं हूँ, हाथोंसे करनेवाला हूँ। पक्षाघात हो जानेपर मन भी रहता है और हाथ भी; किन्तु हाथ उठानेकी इच्छा रहते हुए भी हम हाथ नहीं उठा सकते; क्योंकि हाथ उठानेमें जो प्राणशक्ति लगती थी उसका इच्छाशक्तिसे सम्बन्ध टूट गया। इसका अर्थ है कि न हम हाथ हैं, न हाथमें आने-जानेवाली शक्ति।

जब हम सोते हैं तो हाथ उठानेकी इच्छा नहीं रहती। इच्छाएँ परिवर्तित

होती रहती हैं; किन्तु हम एकरस रहते हैं। हाथ उठानेमें कभी सुख होता है, कभी नहीं होता, अतः हम आनन्दमय कोश भी नहीं है।

हाथ वशमें हो और बुद्धि वासनाका साथ न दे तो वासना उत्पन्न होकर मर जायगी। यह वासना मिटानेका उपाय है। वासनाके उठनेपर धर्म शरीरको रोकता है। बुद्धि वासनाके अच्छे-बुरे होनेका निर्णय करती है। बुद्धिमें कर्त्ता बैठा है। वासना मनोमय कोशमें उठती है। कर्त्ता विज्ञानमय कोशमें रहता है। इन सब कोशोंका नियन्ता इनके भीतर चैतन्यमय आत्मा है। देहसे लेकर आनन्दमय कोशतक सब बाह्य, नियम्य, जड़ एवं अनात्मा हैं।

जो इन पाँच कोशों और आत्माको एक देखते हैं, कोशोंको आत्मा मान लेते हैं, वे तो ऐसे हैं जैसे कोई म्यानको ही तलवार मान ले। इससे बड़ा अज्ञान और क्या होगा! हम देहको ही 'मैं' मानते रहे तो जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे।

● **संगति**

आत्मामें यह नियन्तृ-नियम्यभाव तथा अन्तर-बाह्यभाव भी औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं; इस ओर ध्यान रखकर देहसे आत्माका और वैलक्षण्य बतला रहे हैं। ●

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥ 19॥

अन्यदपि वैलक्षण्यमाह—आत्मेति। आत्मा ज्ञानमयः प्रकाशरूपोऽत एव पुण्यः शुद्धः, देहस्तु मांसादिविकारवानत एवाऽशुचिः। एतेनात्मनः स्थूलदेहापि वैलक्षण्यमुक्तं भवति। तयोरैक्यमित्यादि पूर्ववत्॥ 19॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है अतः पवित्र है। देह मांसमय है अतः अपवित्र है। इन दोनोंका लोग एकत्व देखते हैं। इससे बड़ा अज्ञान और क्या होगा॥ 19॥

लोग बड़े गर्वसे कहते हैं—'हम किसीका असत् आचरण सह नहीं सकते।' इस समझदारीने हमारे मनको शुद्ध नहीं किया प्रत्युत द्वेषसे भरकर अशुद्ध कर दिया। इसने हमें सुख नहीं, दुःख ही दिया। हमारे जीवनमें इस समझदारीसे द्रोह एवं घृणा घटी नहीं प्रत्युत बढ़ गयी। अतः यदि हम ऐसा सोचते हैं तो समझदार नहीं, नासमझ हैं।

हमें ऐसी जानकारी प्राप्त करनी है जिससे अन्धकार न रहे, प्रकाश ही

प्रकाश हो; गन्दगी न रहे, पवित्रता ही पवित्रता हो; जड़ता न रहे, चेतनता ही चेतनता हो; कुरूपता न रहे, सौन्दर्य ही सौन्दर्य हो; कड़वाहट न रहे, माधुर्य हो; कार्पण्य न रहे, औदार्य ही औदार्य हो; दु:शीलता न रहे, सुशीलता ही सुशीलता हो।

जबतक देहमें 'मैं' है तबतक मनुष्य दुखी है। दुखी मनुष्य मृत्युको ही निमन्त्रण देता है। अज्ञानसे दु:ख होता है और दु:खसे मृत्यु। वस्तुतः मृत्यु हमारी कभी नहीं होती, शरीरकी होती है और शरीर तो वस्त्र है।

आत्मा स्वभाव ज्ञानमय है; पवित्र है। करैलेके बीजमें भी पञ्चभूत हैं, अंगूरके बीजमें भी। दोनोंमें श्वास (प्राणशक्ति) है जो बीजको अंकुरित होनेकी शक्ति देती है। किन्तु करैलेकी कड़वाहटका संस्कार वहाँ पञ्चभूतोंमें लग गया है, अंगूरकी मिठासके संस्कार पञ्चभूतोंमें लगे हैं। आगमें जलानेपर कड़वाहट या मिठासके संस्कार जल जायँगे और पञ्चभूत शुद्ध रूपमे बने रहेंगे। जड़ वस्तुको जला देनेसे उनके संस्कार जल जाते हैं और पञ्चभूत रह जाते हैं। यह जो प्रतीति है, यह मुझ चेतनमें मिठास और कड़वाहटके संस्कारोंके समान लग गयी है। इस चेतनको अग्निमें जलाया तो जा नहीं सकता। अत: संस्कारको जैसे ग्रहण किया था वैसे ही छोड़ना होगा। अज्ञानसे ही अपनेमें कड़वाहट और मिठासका भान होता है। ज्ञानपूर्वक, विचारसे इसे छोड़ना है।

अनादि संस्कारसे प्राप्त पञ्चभूतमें बीजत्व है और अनादि अज्ञानसे चेतनमें जीवत्व। ज्ञानसे अपनेको द्रव्य, देश, काल एवं संस्कारसे रहित, सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदसे शून्य, अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्म जान लेनेपर 'मैं संस्कारयुक्त बीजभावको प्राप्त जीव चैतन्य हो गया' यह भ्रान्ति निवृत्त हो जायगी—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

● संगति

जिसको जिस वस्तुसे प्रयोजन रहता है वह उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। जिसे धन चाहिए उसे धनके लिए और धर्म (स्वर्गादि) चाहिए उसे उसके लिए यज्ञ-दानादि साधन बतलाने होंगे। बिना प्रयोजनके साधनका निर्णय नहीं हो पाता।

जिसे ऐसी स्थिति चाहिए जिसमें जन्म-मृत्यु या आना-जाना न हो

उसके लिए तत्त्वज्ञानका उपदेश है। सर्वविध दु:खकी आत्यन्तिक निवृति होनेके बाद परमानन्द प्राप्त हो यह परमार्थका मूल प्रयोजन है। जिसका यह प्रयोजन हो उसे अपनेको पहले देहसे पृथक् जानना चाहिए। केवल हड्डी-मांसादि स्थूलदेहसे ही नहीं, संस्कारात्मक सूक्ष्मदेह एवं अज्ञानात्मक कारणदेहसे भी अपनेको पृथक् जानना चाहिए।

श्रीवाचस्पति मिश्रने लिखा है—'एक उपदेश होता है और एक आज्ञा होती है। उपदेश प्रयोज्यके प्रयोजनानुकूल होता है। जैसे कोई कही जाना चाहता हो और मार्ग पूछे तो वह मार्ग बतला देंगे जो वह पूछ रहा है। ऐसे ही जो समाधि लगाना चाहता तो उसे योग-साधन बतला देंगे; किन्तु आज्ञामें प्रयोक्ताके प्रयोजनानुकूल क्रिया होती है। इसमें आज्ञा देनेवाला वासनावान होता है। शास्त्र आज्ञा नहीं, उपदेश देते हैं।'

जिसे सम्पूर्ण अज्ञानंकी निवृत्ति तथा स्वरूपज्ञानकी प्राप्ति इष्ट है, जन्म-मरणकी निवृत्ति और अमृतत्त्वकी प्राप्ति इष्ट है, जो परिच्छिन्नताके द्वन्द्वोंसे मुक्ति चाहता है उसे चाहिए कि वह तत्त्वज्ञानके लिए यत्न करे। उसको देहसे आत्माके पृथकत्वका विचार कैसे करना चाहिए यह बतलाया जा रहा है। ●

आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥ 20॥

वैलक्षण्यान्तरमाह—आत्मेति। आत्मा स्वयंप्रकाशः सन् सूर्यादिवदन्यसर्व-प्रकाशकोऽत एव स्वच्छः, प्राकाश्यगुणदोष-सम्बन्धशून्य इत्यर्थः। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः। देहस्तु तामसो घटादिवत्प्रकाश्यत्वेन जडः। तयोरैक्यमित्यादि पूर्ववत्॥ 20॥

आत्मा प्रकाशक और स्वच्छ है तथा देहको तामस कहा गया है। इन दोनोंको जो एक देखते हैं। उनका इससे बड़ा अज्ञान और क्या होगा॥ 20॥

आत्मा प्रकाशक है अर्थात् समस्त ज्ञान रश्मियोंका मूल उद्गम है। सब प्रकाशोंको प्रकाश देनेवाला है। नेत्रसे रूप दिखायी देता है। किन्तु नेत्रमें प्रकाश कहाँसे आता है? सूर्यज्योति अधिदैव है, नेत्र-ज्योति अध्यात्म है और पदार्थज्योति अधिभूत है। एक पदार्थ श्वेत दिखायी देता है, दूसरा लाल। यह श्वेत-लाल ज्योति पदार्थमें है। इन सबका प्रकाशक आत्मा है।

प्रकाशकका अर्थ होता है ज्ञापक। प्रकाशक वह है जिसे सब ज्ञात होता

है। 'यह कमलपुष्प है' इस रूपमें कमल ज्ञात हो रहा है। इसपर सूर्य या बिजलीका प्रकाश पड़ रहा है यह भी ज्ञात हो रहा है। नेत्र इस कमलको देख रहे हैं; यह भी ज्ञात हो रहा है। कमलका जो ज्ञान हृदयमें हो रहा है वही ज्ञान नेत्रोंमें-से कमलको देख रहा है। इसमें नेत्र और समझ अध्यात्म हैं। अध्यात्मका अर्थ है शरीरके भीतर।

बच्चा बल्बको ही प्रकाश समझता है। किन्तु बल्ब तो एक खोल है जिसके भीतर प्रकाश बिजलीका है। सामान्य मनुष्य यह नहीं समझता कि बिजली क्या है। विद्युत शक्ति क्या है, यह बात तो विशेषज्ञ ही समझते हैं। यह स्थूलदेह बल्ब जैसी है। अन्तःकरण ऐसा है जैसे बल्बके भीतर मिलानेवाले दोनों तार। इसमें प्रकाश या विद्युत आत्मा है।

प्रकाशक शब्द 'चकाशृ दीप्तौ' धातुसे बना है जिसका अर्थ दीप्त करनेवाला अर्थात् ज्ञानस्वरूप। यह कमल है, ये बहुतसे लोग हैं, ये पदार्थ हैं, यह सब हृदयमें ही तो हो रहा है।

हृदयका अर्थ रक्त फेंकनेवाला मांसपिण्ड-विशेष नहीं है। 'हरित आहरति संस्कारानिति हृत्'—जो संस्कारोंको पदार्थ क्रिया आदिसे लेकर अपनेमें रखता है उस संस्कार-कोषका नाम, उस संस्कारयुक्त ज्ञानका नाम हृदय है।

अपने भीतर आये-गये संस्कारोंको पृथक् करके देखनेपर ज्ञात होगा कि आत्मा प्रकाशक है। वह संस्कार नहीं था तब भी था, संस्कार हैं तब भी है, संस्कार नहीं रहेंगे तब भी रहेगा। संस्कारके रहने न रहनेपर भी यह जो ज्ञान रहता है वह आत्मा है। पदार्थ, देवतादि तथा इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि हैं या नहीं हैं, यह सब जिसे ज्ञात होता है वह ज्ञानस्वरूप प्रकाशक आत्मा है।

स्वच्छः—स्वच्छ वह है जिसमें दूसरी कोई वस्तु मिली न हो। संसारमें सारी गन्दगी प्राणीके शरीरसे उत्पन्न होती है। पञ्चभूत स्वयंमें अपवित्र या अस्वच्छ नहीं हैं, शरीर ही सृष्टिको अपवित्र करता है। शरीरसे निकाला मल-मूत्र, स्वेद-कफ, वमन, रक्त, केश, नख, हड्डी चमड़ा सब अपवित्र है। यदि शरीरको आत्मा मान लें तब तो आत्मा ही अपवित्रताकी पिटारी हो जायगा। किन्तु आत्मा शरीरसे असंयुक्त है अतः स्वच्छ है।

मन भी स्वरूपतः स्वच्छ ही है पर उसकी प्रकृति यह है कि वह जिस

विषयको ग्रहण करता है वैसा ही हो जाता है। जैसे नेत्र न पवित्र हैं, न अपवित्र। पवित्र वस्तुपर दृष्टि पड़े तो दृष्टि पवित्र और अपवित्र वस्तुपर पड़े तो अपवित्र। वैसे ही मन भी एक करणमात्र है। उसका काम केवल प्रकाशित करना है। चोरको दिखानेसे लालटेन चोर अथवा साधुको दिखानेसे साधु नहीं हो जाती। मनमें जब बुरा संकल्प आता है तो मन बुरा और अच्छा संकल्प आता है तो मन अच्छा हो जाता है। दर्पणमें साधु, डाकू, मोटर या कूड़ा कुछ भी दिखायी दे, दर्पण तो स्वच्छ है। इसी प्रकार अपने ज्ञानस्वरूपका भी विवेक करना चाहिए। ज्ञान नित्य स्वच्छ है।

प्रकाश मे निजं रूपम्—मेरा निज रूप प्रकाश है। इसमें कभी सुख आता है तो कभी दुःख।

> **कस्यैकान्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा।**
> **नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥**
>
> —कालिदास

किसको जीवनमें केवल सुख-ही-सुख मिला है या केवल दुःख-ही-दुःख! जैसे रथके पहियेका एक भाग कभी ऊपर जाता है कभी नीचे, वैसे ही उन्नति-अवनतिका चक्र जीवनमें चलता रहता है।

अपने इस प्रकाशस्वरूपमें हम सुखको रोकना चाहें तो वह हमारे दर्पणको तोड़ देगा, हमें पटककर गिरा देगा और चला जायगा। सुख-दुःखका आना-जाना अविद्यापरम्परामें नहीं है; सुख-दुःखसे राग-द्वेष होना, उनमें अभिमान होना या हीनताका भान होना अविद्या है। सुख-दुःखका भास होना तो ज्ञान है। मेरा अपना स्वरूप प्रकाश है। देश, काल, वस्तु ये सब मुझे ज्ञात हो रहे हैं। परिच्छिन्नताका ज्ञान मुझे होता है। अतः मैं इनसे न्यारा, इनसे असंस्पृष्ट स्वच्छ हूँ। सुख-दुख, राग-द्वेष, पाप-पुण्य ज्ञानको नहीं छूते। ज्ञान इनका प्रकाशक है अतः स्वच्छ है।

देहस्तामसः—देह अनित्य है। प्रातःकाल बनकर तैयार हुआ सुस्वादु भोजन 12-14 घण्टे बाद वासी हो जाता है, उसमें सड़ान प्रारम्भ हो जाती है। पेटमें जाकर वह रोटी सड़ती है, उसकी दुर्गन्ध अपानवायुके रूपमें निकलती है। ऐसे अन्नसे बने देहका भी तो यही परिणाम होगा, अन्तमें मिट्टीमें मिल जायगा।

देह तामस है, अन्धकाररूप है। देहको 'मैं' मानना ही मृत्यु है।

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।

अपने स्वरूपको न जानकर प्रमादवश अपनेको देहरूप जानना ही मृत्यु है।

न वै मृत्युर्व्याघ्रैरत्ति जन्तून्।

बाघके समान आकर मृत्यु किसीको खाती नहीं। अपने आपको न जानना ही जड़ता है, तम है। इस देहको 'मैं' माननेसे बढ़कर अज्ञान और क्या होगा।

● संगति

इतना ही नहीं, देह और आत्मामें और भी भेद हैं। एक अनित्य है तो दूसरा नित्य यह बतलाते हैं। ●

आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥ 21॥

अत्र सर्वत्र पौनरुक्त्यं नाशङ्कनीयम्। आत्मनोऽलौकिकत्वेनात्यन्तदुर्बोधत्वादेव बहुधा वैलक्षण्यं प्रदर्श्यते परमकारुणिकः श्रीमदाचार्यैः—आत्मेति। आत्मा नित्यो ध्वंसाप्रतियोगी। तत्र हेतुः—हि यस्मात्सद्रूपः अबाध्यस्वरूपः, देहस्तु ध्वंसप्रतियोगी। अत्रापि हेतुः—हि यस्मादसन्मयोऽनित्यः विकारित्वेन बाधयोग्य इत्यर्थः। यस्मादेवमात्मदेहयोरत्यन्तवैलक्षण्यं तस्मात्तयोरैक्यदर्शनं केवलमज्ञानमिति॥ 21॥

आत्मा नित्य और सद्रूप है तथा देह अनित्य एवं असत् है। इन दोनोंका लोग एकत्व देखते हैं, इससे बड़ा अज्ञान और क्या होगा॥ 21॥

गंगा किनारे एक महात्मा थे। वे कहते थे—'घाससे मांस और मांससे घास, यही संसार है। गंगाजीकी गोदमें दोनों बनते-बिगड़ते रहते हैं।'

आत्मा नित्य है, सृष्टि अनित्य है। शरीर बदलता रहता है, आत्मा बदलता नहीं है। आत्मा सद्रूप है, देह असद्रूप है। देह जन्मसे पहले नहीं था, मृत्युके बाद नहीं रहेगा, बीचमें स्वप्नके समान प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार सदा रहनेवाली वस्तु आत्मा और न रहनेवाली वस्तु देहको एक समझना अविवेककी पराकाष्ठा है।



आत्माका प्रकाशत्व

● **संगति**

आत्मा प्रकाशक है, स्वच्छ है नित्य है, यह जो कह आये हैं, उसे आत्माका प्रकाशत्व समझाकर स्पष्ट कर रहे हैं। ●

आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम्।
नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्यं यतो निशि॥ 22॥

नन्वात्मनः प्रकाशत्वं कि नामेत्यत आह--आत्मन इति। आत्मनस्तत् प्रकाशत्वं बोद्धव्यम्। किं तदित्यत आह—यदिति। यत्पदार्थावभासनं घटपटादिवस्तु-विषयप्रकाशः, इदतया निर्दिश्यमानाविषयदर्शनमिति यावत्। तर्ह्यग्न्यादि-प्रकाशवद्विकारित्वं स्यादित्यत आह—नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिरिति। इयमात्मदीप्ति-रग्न्यादिदीप्तिवन्न, कदाचिदुत्पत्तिविनाशादिविकारवती नेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—भवतीति। भवत्यान्ध्यं यतो निशियतः कारणान्निशिरात्रावग्न्यादिप्रकाश एकस्मिन्देशे सत्यपि तदन्यत्र लोकस्यान्ध्यं रूपग्रहाक्षमत्वं भवति नैतादृश्यात्म-दीप्तिरेकत्र विद्यमाना चैकत्राऽविद्यमाना परिच्छिन्ना चास्ति; किन्तु दीपादिरूप-यस्याग्न्यादिप्रकाशस्य प्रकाशिका, तदभावे चान्धकारस्य प्रकाशिका उत्पत्तिनाशरहिता च सदा सर्वत्र पूर्णैवास्ति। यद्वा इयमात्मदीप्तिरग्न्यादिदीप्ति सदृशी न कुतः? यतः कारणन्निशि रात्रावान्ध्यमन्धकारो भवत्येतद्विलक्षणाऽऽत्म-दीप्तिर्ज्ञेया। यद्यात्मदीप्तिरग्न्यादिदीप्तिसदृशी भवेत्तर्ह्यग्न्यादिदीप्त्या यथान्ध-कारस्य नाशो भवति तथात्मदीप्त्याऽप्यन्धकारस्य नाशः स्यात्। परन्त्वात्मनः सत्ताप्रकाशाभ्यां सर्वत्र सर्वदा विद्यमानत्वेऽप्यन्धकारस्य नाशो न भवत्यत आत्मदीप्तिरग्न्यादिदीप्तिसदृशी न, किन्तु इयमग्न्यादिदीप्तिर्भातीदमान्ध्यं भातीत्याद्याकारैण अग्न्यादिदीप्तेरान्ध्यस्य चान्यस्य सर्वस्य च प्रकाशिका चाविरोधिन्यात्मदीप्तिः स्वप्रकाशैवाभ्युपेतव्या सर्वैरात्मज्ञानारूढैरित्यर्थः। तस्मादग्न्यादिदीप्तीनामपि दीपिकाऽन्यसाधननिरपेक्षा या दीप्तिः सा आत्मप्रकाश इति भावः॥ 22॥

पदार्थोंका अवभासन-ज्ञान करा देना ही आत्माका प्रकाशत्व है। किन्तु अग्नि आदिकी चमकके समान आत्मामें चमक नहीं है क्योंकि रात्रिके अन्धकारमें (बिना बाहरी प्रकाशकी सहायताके) कुछ दिखायी नहीं पड़ता॥ 22॥

आत्माका प्रकाशरूपत्व है पदार्थोंके होने या न होनेका भी ज्ञान होना। नेत्रोंसे प्रकाशका ज्ञान होता है उन्हीं नेत्रोंसे प्रकाशके न होनेका भी पता लगता है। यहाँ दीपक है या नहीं यह ज्ञान नेत्रोंसे ही होता है। दीपकका जलना, न जलना नेत्रोंसे ही ज्ञात होता है। दीपकका जलना नेत्रोंसे ही ज्ञात होता है। ऐसे ही जाग्रत्में जिससे संसारके होनेका पता लगता है, स्वप्नमें जिससे स्वप्नका पता लगता है, सुषुप्तिमें जिससे जाग्रत् एवं स्वप्नके न होनेका पता लगता है, वह आत्मा है।

जाग्रत्का मरनेवाला देह, स्वप्नमें दिखायी देनेवाला देह तथा सुषुप्तिका अन्धकार अपना स्वरूप नहीं है। ये तीनों जिससे ज्ञात होते हैं वह पदार्थावभासक आत्मा है।

हम न हों तो ज्ञान किसे होगा? इसका अर्थ यह है कि हम और ज्ञान एक हैं। हम ही ज्ञानरूप हैं। इस प्रकार पदार्थका अवभासन आत्माकी प्रकाश-रूपता है।

नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिः—आत्मा अग्नि, विद्युत् आदिके प्रकाशके समान प्रकाश नहीं है। यह ज्ञानात्मक प्रकाश है। रात्रिमें जब सूर्य, चन्द्र एवं नारायण भी मेघाच्छन्न आकाश होनेसे नहीं होते उस समय अग्नि या विद्युत् आदिका भी प्रकाश समीप न हो तो भी किसीके आनेकी पद-ध्वनि सुनायी पड़ती है, पुष्पकी सुगन्ध पहचानी जाती है। यह पहचान हमें होती है अर्थात् हम उस समय भी जागते रहते हैं। शब्दके द्वारा हम व्यक्तिको पहचान लेते हैं।

स्वप्नावस्थामें जब बाहरी इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं तब भी ज्ञान रहता है। सुषुप्तिमें जब अन्तरिन्द्रिय भी काम नहीं करती तब भी ज्ञान रहता है। अतः हम ज्ञानस्वरूप हैं।



अज्ञानका हेतु

● **संगति**

आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेपर भी मूढ़ हो गया है अर्थात् देहमें अटक गया है, देहको आत्मा मानकर उसमें उलझ गया है। मनुष्य संसारमें मूढ़ हो गया है, इसका अर्थ है कि वह कहीं अटक गया, उलझ गया है, आगे बढ़नेका मार्ग उसे नहीं दिखायी देता। यही बात बतला रहे हैं। ●

देहोऽहमित्ययं मूढो धृत्वा तिष्ठत्यहो जनः।
ममायमित्यपि ज्ञात्वा घटद्रष्टेव सर्वदा॥ 23॥

तदेवं प्रकाश्यप्रकाशत्वादिलक्षणवैलक्षण्ये सत्यपि आत्मानात्मभेद-दर्शितमुपसंहरन्नुभयोर्भेदं स्पष्टयति—देह इति। अहमहंशब्दप्रत्ययालम्बनः प्रत्यनात्माऽयमिदन्तया निर्दिश्यमानो घटादिवत्प्रत्यक्षतया दृश्यमानो देहोऽस्मीति उभयोर्द्रष्टृदृश्ययोरैक्यं कृत्वा मूढः—त्वाज्ञानकार्यविपर्ययमोहव्याप्तो जनस्तिष्ठति, कृतकृत्यबुद्ध्या निर्व्यापारो भवतीत्यर्थः। एतदहो! महदज्ञानमिति भावः। किं कृत्वापीत्यत आह—ममेति। मम मत्सम्बन्धी अयं देह इति सामान्यतो भेदं ज्ञात्वापि। अत एवाश्चर्यमिति तात्पर्यम्। क इव सर्वदा घटद्रष्टेव। यथा सर्वकाले घटद्रष्टा पुरुषो 'ममायं घट' इति जानाति न तु 'अहं घट' इति कदाचिदपि जानात त्यर्थः॥ 23॥

आश्चर्यकी बात है कि यह मनुष्य 'मैं देह हूँ' इस दुराग्रहको धारण किये हैं। जैसे घटका द्रष्टा घटसे पृथक् है वैसे ही देहका द्रष्टा होनेसे 'मैं देहसे पृथक् हूँ और देह मेरा है' यह सर्वदा जानते हुए भी 'यह देह मैं हूँ' यह उसकी मान्यता बनी हुई है॥ 23॥

'मैं देह हूँ' यही मूढ़ता है। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, गृहस्थ-संन्यासी, हिन्दू-मुसलमान मनुष्य-पशु आदि सब मान्यताएँ देहको ही लेकर हैं। अतः यह सब भेद देहमूलक है।

घड़ा बनाया गया, तपाया गया, उसमें पानी भरा गया, अन्तमें घड़ा फूट गया। इन सब बातोंसे घड़ेको देखनेवालेपर क्या प्रभाव पड़ा? फूटे तो घड़ा और मनुष्य मान ले कि 'मैं मर गया' तो वह मूर्ख ही है। फूटता-मरता यह देहरूपी घड़ा है। इसमें 'मैं फूट रहा हूँ', 'मैं मर रहा हूँ' ऐसा जो मानता है वह स्वयं कहाँ फूट रहा है? वह तो देहका मरना देख रहा है।

कुत्तेपर डण्डा उठाओ तो अनेक कुत्ते डण्डा देखते ही 'काँयँ-काँयँ' करने लगते हैं। यह माया है। इसी प्रकार शरीरकी मृत्युको अपनी मृत्यु मानना माया है, अपनी दुर्बलता है।

'शरीर मेरा है' यह बात स्पष्ट समझमें आती है। इसका तात्पर्य है कि तुम शरीर नहीं, शरीरवाले हो।

'शरीर छूटेगा तो सब कमाई छूट जायगी' यह मोह ही दुःखका हेतु है। मृत्युसे भयभीत लोग मनके बहुत दुर्बल अथवा ज्ञानके कच्चे होते हैं। चोर चोरी करने जाता है तो मृत्युसे नहीं डरता। व्यापारी धनोपार्जनमें कितना खतरा उठाते हैं। सैनिक वेतनके लिए और देशकी रक्षाके लिए युद्धमें कूद पड़ते हैं—गोलोंकी वर्षामें सामने बढ़ते हैं। पहले लोग स्वर्ग पानेकी कामनासे अनशन करके, भृगुपत्तनसे या काशी-करवत लेकर देहत्याग करते थे। अतः केवल भोग ही जीवनका प्रयोजन नहीं है।

एक योरोपियन डाक्टरने एक प्रयोग किया। कुछ चूहोंके लिए ऐसी व्यवस्था कर दी कि उनको इच्छानुसार भरपूर अच्छा भोजन मिलता रहे। दूसरे कुछ चूहोंको माप-तौलकर समयपर भोजन-पानी दिया जाने लगा और वह भी कुछ कम ही। परिणाम यह हुआ कि पहली श्रेणीके चूहे मनमाना खाने-पीनेकी सुविधा दी गयी थी, खूब मोटे और लम्बे हो गये। दूसरी श्रेणीके चूहे जिन्हें माप-तौलकर भोजन मिलता था, आकारमें छोटे और दुबले बने रहे। पर पहली श्रेणीके चूहोंकी आयु दूसरी श्रेणीके चूहोंकी अपेक्षा 30 से 40 प्रतिशत तक कम हो गयी।

आजकल अनेक लोगोंके पास इतना धन है कि बिना कोई काम किये उनकी चार-छह पीढ़ियाँ बहुत अच्छा जीवन व्यतीत कर सकती हैं। इतनेपर भी वे धनोपार्जनमें जुटे हैं। यह धन संग्रह क्या जीवनका कोई भी लक्ष्य पूरा करता है?

एक समाचार-पत्रमें पढ़ा कि सन् 1967 ई० में अमेरिकामें दूकानोंपर-से साढ़े पन्द्रह अरब रुपयोंका माल चोरी हुआ। ये चोरी करनेवाले प्रायः धनी व्यक्ति थे। धन बढ़नेसे उनके मनमें कोई सुधार न हुआ। अधिक शिक्षासे, अधिक धन होनेसे, उच्चपद मिलनेसे चरित्रकी शुद्धि नहीं होती। जीवनोत्तरकालीन लक्ष्य जिसके जीवनमें है वह जाने या अनजाने आनेवाले

धनके लिए सुखभोगके लिए, अथवा पद-प्रतिष्ठाके लिए अपने चरित्रका विनाश नहीं कर सकता।

आजकी उच्च शिक्षा पाकर लोग एक दूसरेपर कुर्सी चलाते हैं, गाली-गलौज करते हैं, एक दूसरेके विरुद्ध दुरालोचना छपवाते हैं; क्योंकि आज शिक्षामें संस्कार नहीं रह गया है।

जिस देहको लेकर यह सब अनर्थ मनुष्य करता है वह थोड़े दिनोंकी है, ठीक वैसे ही जैसे होटलमें किरायेपर कमरा ले लिया जाता है।

कंकर चुनि चुनि महल बनाया लोग कहें घर मेरा।
ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा॥

इस जीवनके परे भी कुछ सत्य है। उस सत्यकी खोज न करनेसे ही जीवनके सब पाप हैं।

शरीरमें जो स्थूलता है उसका मूल मिट्टी है। इसमें जो द्रव है उसका मूल पानी है। इसकी गर्मीका मूल अग्नि है। श्वासका तथा गतिका मूल वायु है। इसमें जो खालीपन है उसका मूल आकाश सङ्कल्प या मनका मूल अहंकार है। विचारका मूल महान् या महत्तत्त्व है सुषुप्तिका मूल प्रकृति है। किन्तु इस 'अहंकार मूल रूप क्या है? विचार करना चाहिए कि हमारे चैतन्यका मूल रूप क्या है?

भेद जो दिखायी पड़ता हैं यह तो संस्कार भेदसे हुआ है। एक संस्कारसे राम और एकसे श्याम; किन्तु चैतन्य क्या है? इस उपादानको जाने बिना संघर्ष समाप्त नहीं होगा।

हम अपनेको सद्रूप जानेंगे तो मृत्युसे बचेंगे, चिद्रूप जानेंगे तो अज्ञानसे बचेंगे, आनन्दरूप जानेंगे तो दुःखसे बचेंगे तथा अद्वितीय जानेंगे, तो सङ्घर्षसे बचेंगे। जब दूसरा है ही नहीं तो लड़ेंगे किससे? अतः शरीर हम नहीं हैं। शरीरसे परे जो जीवन-तत्त्व है उसको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए।



ज्ञानका स्वरूप

● **संगति**

अज्ञानी जन जिसे ज्ञान कहते-मानते हैं वह ज्ञान नहीं है। एक ग्रामीणसे किसीने पूछा—'तुम जानते हो कि ईश्वर कहाँ रहता है?'

ग्रामीणने आकाशकी ओर उँगली उठाकर कहा—'वहाँ ऊपर रहता है।'

बच्चे चित्रको ईश्वर बता देते हैं। मैं सन् 1935-36 ई0 में कलकत्तेमें श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडियाके घर ठहरा था। उनके घरपर प्रायः भगवद्दर्शनकी चर्चा होती रहती थी। वहाँ दो बच्चोंने मुझसे कहा—'हमको भगवान्के दर्शन कराइये।'

मैंने उन्हें एक चित्र दिखला दिया। वे बच्चे बोले—'ये तो नकली भगवान् हैं। हमें असली भगवान् दिखलाइये, जिनका यह चित्र है उनको दिखलाइये।'

दूसरेका धन और अपनी बुद्धि कोई कम नहीं मानता। पर ऐसा लौकिक ज्ञान, वह चाहे कितने भी बड़े प्राध्यापक अथवा नीति-विशारदका हो, ज्ञान नहीं है।

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
विषयाश्च महाभाग यान्ति चैवं पृथक् पृथक्॥

हम जिस जानकारीके बलपर ज्ञानका अभिमान करते हैं वह ज्ञान नहीं है। विद्वानोंने जिसे ज्ञान कहा है उसे जाननेका प्रयत्न करना चाहिए।

बच्चोंको पहले जिलेका भूगोल पढ़ाया जाता है। फिर उत्तरोत्तर आगेकी कक्षाओंमें उन्हें क्रमशः प्रान्तका, राष्ट्रका, विश्वका भूगोल और खगोलका ज्ञान कराया जाता है। किन्तु कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी भी सीमा प्रकृति तक है।

जितना बड़ा ग्राम उतना बड़ा ग्रामपाल। जितना बड़ा राष्ट्र उतना बड़ा राष्ट्रपति। इसी प्रकार जहाँतक माया वहाँतक मायापति। मायासे परे भी कुछ है। मायासे परे ईश्वरका वह रूप जानना चाहिए। उस ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान-ही-ज्ञान है।

देहमें ममत्वका त्यागकर अखण्ड अद्वितीय देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न चैतन्यको आत्मरूपसे जानना वास्तविक ज्ञान है। उसी ज्ञानका वर्णन अगले पाँच श्लोकोंमें कर रहे हैं। ●

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ 24॥

ननु अतस्मिंस्तद्बुद्धिरितिलक्षणभ्रमापरपर्यायमोहकार्यलिङ्गानुमेयनज्ञानमीदृक् तर्हि तन्निवर्तकं किमित्याकाङ्क्षायां तद्विरोधित्वादात्मज्ञानमेवात्माऽज्ञाननिवर्तकमित्यभिप्रेत्य तल्लक्षणमाह—ब्रह्मेत्यादिपञ्चभिः। अहम् अहंशब्दप्रत्ययालम्बनः प्रत्यागात्मा ब्रह्मैवास्मि। एतयोस्तत्त्वंपदार्थयोरैक्ये हेतुगर्भितानि विशेषणान्याह—सम इति। समः सत्ताप्रकाशाभ्यां सर्वाभिन्नः। पुनः किंलक्षणः। शान्तः—निरस्तसमस्तोपाधित्वाद् विक्षेपादिविकारशून्यः। पुनः किंलक्षणः। सच्चिदानन्दलक्षणः सच्चिदानन्दैरनृतजडदुःखप्रतियोगिभिर्लक्ष्यते, विरुद्धांशत्यागरूपया भागलक्षणया ज्ञायत इति सच्चिदानन्दलक्षणः। ब्रह्मबोधे हि द्विविधं द्वारम्—विधिर्निषेधश्चेति। तत्र सत्यज्ञानादिसाक्षाद्वाचकशब्दप्रयोगलक्षणो विधिरुक्तः। इदानीमतन्निरसनलक्षणो निषेधः प्रदर्श्यते—नाहमिति। अहमहंशब्दप्रत्ययालम्बन आत्मा देहो नेत्यन्वयः। देह इत्युपलक्षणं प्राणेन्द्रियादीनामपि। हीति विद्वज्जनप्रसिद्धम्। देहादेरनात्मत्वे हेतुमाह—असदिति। असद्रूपोऽसद्-बोध्यमनृतं तादृग्रूपं स्वरूपं यस्य स तथाविधः। इत्येवंप्रकारम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिमहावाक्यजन्याऽखण्डाकारबुद्धिरूपं ज्ञानं बुधैरात्मतत्त्वज्ञैरुच्यते, कथ्यत इत्यर्थः। एतद्विलक्षणः सर्वो ज्ञानाभास इति भावः॥ 24॥

मैं सम, शान्त, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं असद्रूप देह नहीं हूँ। इसको बुद्धिमान लोग ज्ञान कहते हैं॥ 24॥

ज्ञानमित्युच्यते बुधैः—बुद्धिमान लोग ज्ञानको ज्ञान तब मानते हैं जब असीम, कालातीत देशातीत एवं द्रव्यातीत तत्त्वका ज्ञान होता है। विद्वज्जन ज्ञान उसे कहते हैं जहाँ ज्ञानसे भिन्न अन्य वस्तुकी सत्ता ही नहीं रहती। जहाँ ज्ञेयसे

ज्ञान भिन्न न रहे; ज्ञानसे भीतर-बाहर, आगे-पीछे कोई भेद न हो, वह परिच्छेद-सामान्यके अत्यन्तभावसे उपलक्षित प्रत्यक चैतन्या भिन्न तत्त्व ज्ञान है। 'ब्रह्मैवाहं'—वह ब्रह्म मैं हूँ।

मेरे घरके लोग ज्योतिषी थे। पिताजी तो मेरी बहुत छोटी अवस्थामें मर गये थे; पितामह जीवित थे। उनके सामने उनके पुत्र मरे और पौत्र (मेरे बड़े भाई) भी मर गये। अकेला पौत्र मैं था। मेरी कुण्डली देखी गयी। 19 वर्षकी अवस्थामें मुझे मारकेश था। काशीके बड़े-बड़े ज्योतिषियोंने भी मेरी कुण्डली देखी जिनमें पं० श्री सुधाकर द्विवेदी, श्री पद्माकर द्विवेदी आदि थे। उन्होंने मेरे पिताजीको सम्मति दी—'इसकी कुण्डलीमें सन्तानका योग है अतः शीघ्र इसका विवाह कर देना चाहिए।'

मेरा विवाह हो गया और सन्तान भी हो गयी किन्तु मृत्युका भय सन्तान होनेसे तो जाता नहीं। मैं बार-बार घरसे भागकर साधुओंके समीप चला जाता था, क्योंकि मृत्युका भय मिटानेका उपाय सन्तोंसे ही मिलनेकी आशा थी। मैं किसी मन्त्र-यन्त्र, टोना-टोटका जाननेवाला या चमत्कार दिखानेवालोंके समीप नहीं गया। उनमें मेरी रुचि नहीं थी।

सन्तोंने कहा—'जैसे जन्म जीवनका सत्य है वैसे ही मृत्यु भी जीवनका सत्य है। जैसे जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति जीवनकी अवस्थाएँ हैं वैसे ही मृत्यु भी जीवनकी एक अवस्था है। जब तुम सो जानेसे नहीं डरते तो मरनेसे क्यों डरते हो? जैसे सोकर उठते हो तो संसार ज्यों-का-त्यों मिलता है वैसे ही मृत्युके बाद उठोगे तब भी संसार ज्यों-का-त्यों मिलेगा।'

इस बातपर विश्वास नहीं होता इसलिए मृत्युका भय है। सुषुप्तिमें जैसे कुछ प्रतीति नहीं होती वैसे ही मृत्युमें कुछ पता नहीं चलता। जीवनकी धारामें मृत्यु एक अनिवार्य घटना है। महात्माओंने मुझे मृत्युसे बचानेका आश्वासन तो नहीं दिया किन्तु कहा यह कि—'भाई, शरीरकी मृत्यु रोकना तो हमारे हाथमें नहीं है। हाँ, मृत्युका भय हम अवश्य मिटा सकते हैं।'

तुम शरीरको बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हो इसीसे उसे बचाना चाहते हो। शरीरका मोह छोड़ दो तो मृत्युसे डरनेका कोई कारण नहीं रह जायगा।

ब्रह्मैवाहम्—जीवको ब्रह्म होनेमें कुछ करना, बदलना या समाधि लगाना आवश्यक नहीं है। उसका दुराग्रह ही सबसे बड़ी बाधा है। एक महात्मासे पूछा—'जीवको ब्रह्म होनेमें क्या कठिनाई है?'

महात्मा बोले—'किसी हिन्दूको मनुष्य होनेमें जो कठिनाई आपको लगती हो।'

अरे, मनुष्य तो वह है ही। कोई मुसलमान जब किसी हिन्दूको मारता है तो वह उसे मनुष्य समझकर मारता है या हिन्दू समझकर? अपनेको भी वह मनुष्य समझता है या मुसलमान? देहमें 'मैं' रहते लोग अपनेको हिन्दू या मुसलमान संस्कारोंसे युक्त करके हिंसक बना लेते हैं। अपनेको मनुष्य जानकर हिंसासे निवृत्त हो जानेमें भला क्या कठिनाई है।

जीवत्व संस्कृत है। संस्कार डाल-डालकर इसे जीव बनाया गया है। चार्वाक मतवाले द्रव्यमें जीवत्व मानते हैं। उनकी मान्यता है कि शरीर मरा तो जीवत्व नष्ट हो गया।

बौद्ध लोग कालमें जीवत्व मानते हैं। बौद्धदर्शनका कहना है—'अनादि धारा-प्रवाह चलते संस्कारोंमें जीवत्व है। संस्कार-धारा उच्छिन्न कर देनेसे जीवत्वकी समाप्ति या निर्वाण हो जाता है।'

जैन लोग देशमें जीवत्व मानते हैं। जीव गतिव्याप्त देशमें, संसारमें रहता है और अष्टादशदूषणरहित होनेपर मुक्त होकर अगतिव्याप्त देश, अलोका-काशमें चला जाता है।

वैदिक मतवाले द्रव्य, देश,काल तीनोंकी प्रधानतासे जीवत्वके प्रतिपादक हैं। इसमें लोक-लोकान्तरोंमें जाना अर्थात् देश भी है, नाना लोकोंमें रहनेका काल भी है और संस्काररूपमें द्रव्य भी है; किन्तु आत्मा इन सबसे ही विलक्षण है!

आकृतियोंको छोड़ दें और उनके उपादानको पकड़े तो सत्ता प्राप्त होगी। वृत्तियोंको छोड़कर उनके साक्षीको पहचानें तो ज्ञान प्राप्त होगा। आकृतियाँ द्रव्यमें मिथ्या कल्पनासे होती हैं। इसी प्रकार अहमर्थके सच्चे रूप साक्षिचैतन्यमें वृत्तियाँ मिथ्यारूप हैं। आनन्दस्वरूपमें 'मैं सुखी-दुखी' यह अभिमानसे मिथ्या ही कल्पित है। हम आकृतियोंसे रहित सन्मात्र हैं। हम वृत्तियोंके साक्षी चिन्मात्र हैं। हम सुख-दुःखके अभिमानसे रहित आनन्दमात्र

हैं। इस सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्रमें देश-काल-वस्तुकी दाल नहीं गलती अतः ये एक हैं। इनमें जड़ता नहीं है। यह अद्वय-तत्त्व है।

सभी मतोंमें तीन बातोंका विचार होता है—1. जगत् क्या है? 2. जीव क्या है? और 3.जीवसे परे क्या है? इनका विचार तभीतक होता है जबतक अहंबुद्धि रहती है।

अहंबुद्धिमें-से बुद्धि छोड़ दो,'अहं' रहने दो। अब 'अहं' में-से 'हं' छोड़ दो, 'अ' रहने दो। 'हन्ति हन्यते इति हम्'—जो मारता है और मारा जाता है उसे 'ह' कहते हैं। 'अ+हं'=जो न मरे, न मारा जाय। 'नास्ति हं यत्र'—जिसमें 'हं' नहीं है वह 'अहं'। 'हं' आकाशबीज है। वह 'हं-बीजोपलक्षित आकाश जहाँ नहीं है। वह 'अहं'।

यह अहंस्वरूप आत्मा कहीं आता-जाता नहीं। यह न मरता, न किसीको मारता। यह न कभी दृश्य होता, न कभी अदृश्य होता। दृश्य-अदृश्य दोनों जिसमें भासते हैं वह अखण्ड तत्त्व आत्मा है।

देहकी उपाधिसे चैतन्यका नाम विश्व है। देहारूढ चेतन या चिदाभासका नाम विश्व नहीं है। देहसे तादात्म्यापन्नका भी नाम विश्व नहीं है। देहके घेरेमें जो शुद्ध चैतन्य है उसीका नाम विश्व है।

मनमें आविष्ट या आभासका नाम तैजस नहीं है, मनोऽवच्छिन्न चेतनका नाम तैजस है। देहसदृश समष्टिसे अविच्छन्न चेतन विराट्, मनसदृश समष्टिसे अवच्छिन्न चेतन हिरण्यगर्भ, और अज्ञानावच्छिन्न-चैतन प्राज्ञ है। ये भेद सृष्टिकी प्रतीतिके कारण हैं। यदि उपाधियोंका अपवाद कर दिया जाय—इन उपाधियोंको छोड़ दें तो एक अखण्ड चेतन ही है। इसकी अपनी अखण्डतामें उपाधि-उपहितका कोई भेद नहीं है।

समः—यह अविरोधी जीवनका मूलतत्त्व है। स्वप्नमें चोर और साधु दोनों एक साथ भासते हैं। दोनों स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टि-मात्र हैं।

इस जीवनमें ईश्वरसे मतभेद नहीं होना चाहिए। इसमें कोई दिशा, कोई देश पराया नहीं है। संस्कृतिका कोई रूप, प्रकृतिकी कोई अभिव्यक्ति अप्रिय नहीं है। 'तेरी मौज हो तो तू चन्द्र बना रह और तेरी मौज हो तो राहु बन। तू मेरा प्यारा है।' इसमें किसीका विरोध-निरोध नहीं है। यह सब तो अपना ही स्वरूप है। सेवा, उपकार, अपकार आदि सब अपना स्वरूप है अतः सब साधु है।

जबतक हम अपनेको व्यक्ति मानते हैं तभी तक गुरु भी व्यक्ति है। जहाँ अपना व्यक्तित्व टूटा कि गुरुका व्यक्तित्व तो पहलेसे टूटा है। जब हम अपनेको ब्रह्म जानेंगे तो गुरुदेवको अपनेसे अभिन्न ब्रह्म ही जानेंगे।

अहमेव ब्रह्म ब्रह्मैवाहम्—जब संस्कृतमें कहेंगे—'अहमेव ब्रह्म' तब शंका होती है कि यह भावना कर रहा है। तब कहते हैं—'ब्रह्मैवाहम्'। यह कारण-कार्यका अभेद बोल रहा है। जैसे कोई कहे—'मिट्टी, घड़ा है।' इन दोनों प्रकारकी शंकाओंकी निवृत्तिके लिए दोनों प्रकारसे बोलते हैं। जैसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—**अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।**

कोई नेत्र बन्द करके सोचे—'मैं गैंडा हूँ' पर उसने गैंडा कभी देखा न हो तो क्या सोचेगा? इसी प्रकार अभेद-चिन्तन करना हो तो उसका रूप तो ज्ञात होना चाहिए। तोतेको रटा दें कि 'मैं मनुष्य हूँ' और वह इसे रटा करे तो क्या उसे मनुष्यताका ज्ञान हो जायगा?

सच्चिदानन्दलक्षणः—मेरी पहचान यह है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं प्रिय हूँ। जैसे 'घटी अस्ति'—घड़ी है। 'घटी भाति'—घड़ी प्रतीत हो रही है। 'घटी प्रिया'—घड़ी प्रिय है। कोई इसको तोड़ना या चुराना चाहे तो हम उसे रोक देंगे।

मैं हूँ, मैं भासता हूँ, मैं प्रिय हूँ और घड़ी है, घड़ी भासती है, घड़ी प्रिय है—इन दोनोंमें अन्तर है। घड़ीके सम्बन्धमें यह है—

इयम्, अस्ति, इयं भाति, इयं प्रिया।

यह घड़ी है, यह मुझे ज्ञात होता है, घड़ीको नहीं। घड़ी मुझे भासती है और मुझे प्रिय है; किन्तु 'मैं हूँ' यह मुझे ज्ञात होता है।

मान लें कि घड़ीको अपना होना तथा प्रिय होना ज्ञात होता है तो भी यह मुझे ही ज्ञात होता है कि घड़ीको अपना होना और प्रिय होना ज्ञात होता है। मैं स्वयं अपनेको प्रिय होऊँगा तब घड़ी मुझे प्रिय होगी। अन्यकी सत्ता, भासना और प्रियता मुझसे ही भासती है।

अन्यकी सत्ता मुझसे सापेक्ष है, मेरी सत्ता निरपेक्ष है। अन्यका ज्ञान मुझसे सापेक्ष है, मेरा ज्ञान निरपेक्ष है। अन्यकी प्रियता मुझसे सापेक्ष है, मेरी प्रियता निरपेक्ष है। मैं होऊँगा तब घड़ी होगी। मेरे होने, मेरे जानने तथा मेरी प्रियताको अन्यकी अपेक्षा नहीं है।

'अस्ति, चेतति, आनन्दति' यह सच्चिदानन्द हमसे दूसरेमें जा सकता है किन्तु दूसरेसे हममें नहीं आ सकता। काल है और काल ज्ञात होता है। देश है और देश ज्ञात होता है। वस्तु है और वस्तु ज्ञात होती है। कालका भान-अभान दोनों मुझे ज्ञात होते हैं अत: मैं अविनाशी हूँ। देशका भान-अभान दोनों मुझे ज्ञात होते हैं अत: मैं देशसे अबाधित विभु हूँ। वस्तु (द्रव्य) का भान-अभान दोनों मुझे ज्ञात होते हैं अत: मैं वस्तुसे अबाधित अद्वितीय हूँ।

हम इतने सूक्ष्म हैं कि देश हमारे विभुत्वको काट नहीं सकता। काल हमें अपनी सीमामें बाँध नहीं सकता। संस्कार सब देश-कालके सम्बन्धसे बदलते रहते हैं, भूगोल बदलता है, खगोल भी बदलता है, मनका प्रसाद-विषाद भी बदलता रहता है किन्तु मैं एकरस रहता हूँ।

ब्रह्म परिच्छेदके अभावसे उपकल्पित सत् है। देश-काल-वस्तुके भासते हुए भी इनसे ब्रह्म परिच्छिन्न नहीं है। ऐसा अपना स्वरूप है। यह सम है। किसी भावसे इसका तादात्म्य नहीं है।

जहाँ अहंकार, असूया, तिरस्कार, ईर्ष्या, द्वेष आदि हैं वहाँ शान्ति कहाँसे होगी। वैषम्य होगा तो राग-द्वेष होगा। यह आत्मा सम है। इसमें हिन्दू-मुसलमान, पशु-पक्षी, देव-दानव आदिका भेद नहीं है। यह भेद (जो मालूम पड़ता है), माता (जिसे मालूम पड़ता है) और मान (जिससे मालूम पड़ता है) इन तीनोंमें सम है।

आभासवादी कहते हैं—'अन्त:करणकी वृत्तिमें आभास चैतन्य होता है। वह प्रमाणवृत्तिपर आरूढ़ होकर प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यसे जब एक होता है तब वस्तुका ज्ञान होता है।'

अवच्छेदवादी कहते हैं—'जब तुम प्रमेयमें चैतन्यका आभास नहीं मानते; प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यके ऐक्यको ही मानकर व्यवहारका निर्वाह करते हो तब प्रमाणवृत्तिमें तथा अन्त:करणमें आभास क्यों मानते हो अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाणावच्छिन्न चैतन्य और प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यका ही सम्बन्ध क्यों नहीं मानते, बीचमें आभास और प्रतिबिम्बको क्यों ले आते हो?'

सम:का अर्थ है कि मनमें भी वही, अन्त:करणमें भी वही और घटमें भी वही।

शान्तः अर्थात् निर्विकारः। शान्त वह है जिसमें कोई विकार नहीं है।

प्रत्येक विकारकी आयु होती है। मनमें काम, क्रोध, लोभ या मोह आता है तो कुछ देरके लिए आता है। उसकी एक सीमा होती है। हम उस विकारके आनेके पहले भी थे और मनसे उसके निकल जानेके बाद भी रहते हैं। हम स्वयं विकारी नहीं हैं। हम जब विकारको रख लेना चाहते हैं अथवा उसे आने नहीं देना चाहते, भगा देना चाहते हैं तब विकारी होते हैं। इन आने-जानेवाले विकारोंसे तादात्म्य करके अपनेको आने-जानेवाला मानना और इन गुण्डोंसे मित्रता करना उचित नहीं।

मनमें किसीपर बहुत प्रबल क्रोध आवे, तभी कोई झूठ ही कह दे— 'आपका छोटा बच्चा जल गया है' तो क्या क्रोध टिका रह पावेगा?

मनमें प्रबल काम आया किन्तु जब हम कमरेमें पहुँचे तो किसीने कह दिया—'बिस्तर पर सर्प है।' बस, कामका वेग तत्काल समाप्त हो गया।

ये जाने-आनेवाले विकार केवल नाम-रूप हैं। नाम और रूप दोनोंमें कोई भार नहीं होता। भार वस्तुमें होता है। तुम वस्तु सत्य हो और ये नाम-रूप भारहीन हैं।

नाहं देहो ह्यसद्रूप—मनुष्य देह और देहके सम्बन्धियोंके लिए ही सब अन्याय करता है किन्तु यह नहीं जानता कि देह स्वयं असद्रूप है। 'असद्रूप' का तात्पर्य यहाँ 'अचिद्रूपः अनानन्द-रूपः, अशान्तरूपः, असमरूपः' भी है। देह सत्ताहीन—असद्रूप, ज्ञानहीन—आनन्दरूप, आनन्दहीन—अनानन्दरूप और अशान्त एवं असमरूप है। ऐसा देह मैं नहीं हूँ। मैं तो सच्चिदानन्द हूँ।' इस प्रकारके निश्चयको बुद्धिमान् जन ज्ञान कहते हैं।

● **संगति**

सम कहकर विषमताका और शान्त कहकर अशान्तिका अपने स्वरूपमें निषेध करके अब विकार, आकार, दोष एवं क्षयका निषेध करते हैं। ●

निर्विकारो निराकारो निरवद्योऽहमव्ययः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ 25॥

नन्वहं जातो मृतः सुखी दुःखीत्याद्यनेकविकारत्वेनाहंशब्दप्रत्ययालम्बनस्य प्रतीयमानत्वात् कथं तस्य ब्रह्मत्वमित्यत आह—निर्विकार इति। अहमहंशब्द-प्रत्ययालम्बनः प्रत्यगात्मा निर्विकारोऽस्मीति शेषः। निर्गता विकारा जन्मादयो

यस्मात् स तथाविधः। तेषां देहधर्मत्वादिति भावः। तत्र हेतुः—निराकारः देहाद्याकाररहितः। अत एव निरवद्यो वातपित्तादिजन्याध्यात्मिकादितापत्रयरहित इत्यर्थः। अत एवाव्ययः अपक्षयादिरहित इत्यर्थः। अहं मनुष्य इत्यादिप्रतीतेः कथं निर्विकारत्वमितिचेत सा प्रतीतिः शुक्तिरजतादिवद् बाध्यत्वाद् भ्रान्तिरित्याह— नाहमिति। नाहमित्युत्तरार्द्धं व्याख्यातं पूर्वश्लोके। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। पुनरुक्तिस्तु ज्ञानप्रतिबन्धकस्य बुद्धिमान्द्यविपर्ययादेर्दार्ढ्यान्नाशङ्कनीया॥ 25॥

मैं निर्विकार, निराकार, निरवद्य और अव्यय हूँ। मैं असद्रूप देह नहीं हूँ। बुद्धिमान लोग इसको ज्ञान कहते हैं॥ 25॥

निर्विकारः—जो अपनेको देह मानेगा वह या तो ईश्वरको मानेगा ही नहीं या उसे अपने सदृश्य ही मानेगा। जैसी धारणा अपने विषयमें होती है वैसी ही ईश्वरके विषयमें भी होती है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके समीप एक लड़कीने प्रार्थना की—'मुझे श्री राधारानीका मन्त्र बतला दीजिये।'

बाबाने कहा—'तू पगली है। श्रीकृष्णका भजन कर।'

उसने पूछा—'क्यों?'

बाबा बोले—'तेरे मनका प्रेम जितना स्वाभाविक रूपसे ईश्वरके पुरुष-रूपके साथ जुड़ेगा उतने स्वाभाविक रूपसे ईश्वरके स्त्री-रूपके साथ नहीं जुड़ेगा।'

देहवालेका मन देहवालेकी ओर ही खिंचता है। अपनेमें जब-तक देहबुद्धि है तभीतक ईश्वरमें आकार-बुद्धि है।

महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी बहुत कुरूप थे। वे एक बार बादशाहके दरबारमें गये तो उन्हें देखकर दरबारी लोग हँस पड़े। जायसीने तत्काल पूछा—*'मोहिंका हँससि कि कोंहरहिं'* अर्थात् तुम लोग मेरी हँसी उड़ा रहे हो या कुम्हारकी? मिट्टी तो हमारे तुम्हारे सबके शरीरकी एक ही है और सबको बनानेवाला कुम्हार भी एक ही है।

मनुष्य दूसरेके विषयमें कुछ कहता है तो वह अपनी स्थितिकी ही सूचना देता है। अच्छाई-बुराई अपने ही दृष्टिकोणका भेद है।

निर्विकारः—विकारका अर्थ है बिगड़ना, सड़ना। मनमें कामना आना विकार है। भगवान् शिवका ध्यान, प्रलयङ्कर रुद्रका ध्यान कामको निवृत्त कर देता है। क्रोधका निवर्तक है भगवान् विष्णुका ध्यान। उत्ताल-तरङ्गायित

क्षीरसागरमें भगवान् शेषशय्यापर शयन कर रहे हैं और लक्ष्मीजी उनके चरण अपनी गोदमें रखे दबा रही हैं। ऐसा ध्यान करनेसे क्रोध शान्त हो जाता है।

मृत्यु, बुढ़ापा आदि सब विकार हैं। देहका होना ही विकार है। स्वयं देह ही विकार है। हमें चाहिए कि हम निर्विकार तत्त्वमें अपना 'मैं' स्थापित करें।

'मुझमें व्यय नहीं, विकार नहीं, आकार नहीं और अवद्य नहीं' इस प्रकार कृति-आकृति-विकृति इन तीनोंका निषेध करनेके लिए यह प्रसंग है।

यदि दूध रखा रहे तो वह फट जाता है। इसे दूधका विकार कहते हैं। जब कोई वस्तु बिगड़ जाय तो कहा जाता है कि यह विकृत हो गयी। शरीरमें आया बचपन युवावस्था बनता है और फिर बुढ़ापा बन जाता है। भूख-प्यास अपने आप लगती है। शरीरमें ज्वर आता है, फोड़े-फुन्सी निकलते हैं। ये सब देहके विकार हैं। इसी प्रकार काम-क्रोधादिका मनमें आना मनका विकार है।

जब हम किसी वस्तुको बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हुए अपनेमें उसका अभाव तथा दूसरेके पास उसका होना मानते हैं तब उस वस्तुकी प्राप्तिके सम्बन्धमें सङ्कल्प होता है। सम्यक्त्वकी कल्पना अर्थात् वस्तुको उत्तम माननेसे उसके विषयमें सङ्कल्प उठता है। इस सङ्कल्पसे काम अर्थात् उसे पानेकी इच्छाका उदय होता है, तब उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न होता है, वह प्रयत्न उचित हो या अनुचित। कामके दो पुत्र हैं क्रोध और लोभ। कामनामें बाधा पड़ जाय तो बाधा डालनेवालेपर क्रोध और कामना पूरी हो जाय तो लोभ होता है। बार-बार कामना पूरी होती जाय तो मोह हो जाता है। क्रोधसे भी कामना पूरी न हो तो हिंसा होने लगती है। इनमें हमारा कर्तृत्व नहीं है। यह सब इस शरीर-घटमें ही घटित होता रहता है। हम आकाशके समान साक्षी हैं। यह विकृति हममें नहीं है। विकारोंके पिता और पुत्र भी होते हैं; किन्तु विकार स्वयं तथा उनके पिता और पुत्र भी हमारे सामने ही उत्पन्न होते तथा मरते हैं। हम इन सबके रहने या न रहनेपर भी एकरस रहते हैं।

'यह मैंने किया' ऐसी मान्यता अज्ञान है। शरीरमें बाल निकलते हैं, बढ़ते हैं इसमें हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है। आगामी क्षण क्या होगा अथवा व्यक्तिरूपसे हम क्या करेंगे, यह ज्ञात नहीं है। आगामी क्षणमें गाली देना

अथवा भगवन्नाम लेना हमारे लिए निश्चित रूपसे सम्भव नहीं है। कब क्या चाह हमारे मनमें उदित होगी, हमें ज्ञात नहीं।

प्रायः लोग कहते हैं कि 'हम चाहें तो यह कर सकते हैं।' किन्तु पहले तो चाहका उदय होना चाहिए। फिर उस चाहकी पूर्तिके लिए तदनुकूल बुद्धिका उदय होना चाहिए। फिर उस बुद्धिके अनुसार कर्म होना चाहिए। यह सब क्या हमारे हाथमें है? ऐसी दशामें हम कर्त्ता कैसे? एक स्वतः होते कामको अपने ऊपर ले लेना भला कहाँकी बुद्धिमानी है!

यौवन और वार्धक्य शरीरमें ही नहीं, मनमें भी आते हैं। युवावस्थाका मन और बुढ़ापेका मन समान नहीं होते। जब मैं 17-18 वर्षका था तब एक महात्माने मुझे पत्रमें लिखा था—

युवा आशिष्ठो द्रढिष्ठः।

अर्थात् युवा पुरुषको आशावान् एवं लक्ष्यमें दृढ़ होना चाहिए। युवाको संकट-कालमें निराशावादी या विचलित नहीं होना चाहिए प्रत्युत मनमें उत्साह रखना चाहिए। वृद्ध पुरुषका मन आलस्य एवं मोहयुक्त होता है। आत्मामें ये कोई विकार नहीं हैं।

विकार स्वयं होते हैं और संस्कार किया जाता है। आकार कर्मानुसार प्राप्त होता है। प्रकार स्वभावानुसार होता है। हमें चाहिए कि हम इन विकारोंसे मुक्त हो जायँ, इन आकार-प्रकारादिसे तटस्थ हो जायँ।

निराकारः—मैं आकाररहित हूँ, अतः निर्विकार हूँ। विकार सब आकारमें ही होते हैं। आकृति नहीं तो विकृति भी नहीं।

जीवन अनन्त है, जीवनकी सम्भावनाएँ अनन्त हैं। उसमें निराशाके लिए स्थान नहीं है। छोटी-मोटी घटनाओंसे प्रभावित होकर मूढ़ नहीं होना चाहिए। श्रुति कहती है—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूरिकर्मसु।

उठो, जागो और अच्छे-से-अच्छे कल्याणकारी कार्यमें लग जाओ! निश्चय रखो कि होगा, आगे होगा, और आगे होगा क्योंकि तुम अनन्त हो। तुम विश्वामित्रकी भाँति नवीन सृष्टि कर सकते हो। तुम्हारे सङ्कल्पमें अनन्त शक्ति है।

तुम विकाररहित हो। तुममें विकार सम्भव नहीं है। आकार-विकार सब

देहमें ही होते हैं। जिस प्रकाशमें यह समस्त दृश्य दिखायी दे रहा है उस प्रकाशमें विकार कहाँ!

निरवद्यः—अवद्यका अर्थ है पाप। वह मुझमें नहीं है। 'अव' उपसर्गपूर्वक 'दो अवखण्डने' धातुसे अवद्य शब्द बना है। अवद्यति खण्डयति इति अवद्यम्। अर्थात् जो भीतर प्रवेश करके काटे उसे अवद्य कहते हैं। पाप करनेपर मनुष्य अपने भीतर व्यथित होता है। पापी बाहर भले हेकड़ी दिखलावे किन्तु पाप अपने कर्ताको भीतर काटता रहता है।

काशीमें एक बहुत प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं स्वामी श्री योगत्रयानन्दजी। उनसे किसीने उपदेश करनेको कहा तो वे बोले—'जो काम करनेसे तुम अपनी दृष्टिमें ही गिर जाओ ऐसा काम कभी न करना।'

ईश्वर अपनी ओरसे किसीको पापी या पुण्यात्मा नहीं मानता। वह एकतत्त्वदर्शी है। वह सबको अपना स्वरूप जानता है। किन्तु सबके हृदयमें एक ऐसा यन्त्र लगा है कि जब वह अनुचित करता है तब 'मैं पापी हूँ' यह उस हृदय-यन्त्र में अंकित हो जाता है। आज लोग बहादुरी दिखलाकर कहते हैं—'हम पाप-पुण्य नहीं मानते।' किन्तु प्रश्न यह है कि हम दूसरोंको पापी या पुण्यात्मा मानते हैं या नहीं। हमारी माँ, बहन या बेटीपर कोई कुदृष्टि डाले तो हम उसे पापी समझते हैं या नहीं? कोई हमारा रुपया चुरा ले तो हम उसे चोर समझते हैं या नहीं। हमारे हृदयका यन्त्र दूसरोंके लिए दूसरे ढङ्गसे और हमारे लिए किसी दूसरे ढङ्गसे निर्णय करे, ऐसा नहीं हो सकता।

आत्मा वैवस्वतो नाम सर्वेषां हृदि तिष्ठति।
देह देव इवादत्ते मा गङ्गां मा कुरुं गमः॥

हमारे हृदयमें जो चैतन्य है वही यमराज अर्थात् कर्मनिर्णायक है वह सबके हृदयमें स्थित है। वह देव इस देहमें रहकर ही हमारे कर्मोंका निर्णय करता है। उसकी दृष्टिमें अर्थात् स्वयं अपनी दृष्टिमें हम पवित्र बन जायँ तो गङ्गास्नान या कुरुक्षेत्र जाना आवश्यक नहीं है। जैसे हम दूसरोंको तौलते हैं वैसे ही अपनेको तौलनेके लिए विवश हैं।

निरवद्योऽहम्—मैं असङ्ग चेतन हूँ। मैं व्यापक परिपूर्ण हूँ। मुझसे कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तत्त्वज्ञानसे व्यक्तित्वमें स्थित आकृति-विकृतिका अहंभाव नष्ट हो जाता है। 'अनिमेषं निमिषन्नास्ते।' ये आत्मदेव बिना पलक

गिराये सब देखते हैं। मैं आत्मा हूँ, मुझमें कर्म ही नहीं है तब अवद्य कहाँसे होगा!

एक सेठजी थे। उन्होंने कोठी बनवायी, बगीचा लगवाया, प्याऊ चलवाई। एक दिन एक भिक्षुक उनके समीप आया। सेठजी बहुत अप्रसन्न हुए। उन्होंने भिखारीको झिड़कते हुए एक चवन्नी दे दी। भिखारी भी चवन्नी लेकर दु:खी मनसे चला गया। यह चवन्नी व्यर्थ हो गयी। यह कर्म पुण्य नहीं हुआ।

एक बार सेठजीके बगीचेमें कोई बछड़ा घुस आया। कोई नौकर समीप नहीं था। अत: वे स्वयं ही उठकर दौड़े और बछड़ेको एक लाठी मार दी। लाठी मर्मस्थलपर लगनेसे बछड़ा मर गया। अब गोहत्या आकर सामने खड़ी हुई तो सेठजी बोले—'मैंने नहीं मारा, लाठीने मारा है।'

हत्या लाठीके पास गयी तो लाठीने कहा—'मैंने तो कुछ नहीं किया। इस हाथने मुझे चलाया।'

हाथने कह दिया—'मेरे शक्तिदाता देवता तो देवराज इन्द्र हैं। मैं तो इन्द्रकी शक्तिसे काम करता हूँ।'

जब हत्या स्वर्ग गयी तो इन्द्रने कह दिया—'मेरे प्रेरक बुद्धिके अधिदेवता ब्रह्माजी हैं।'

ब्रह्माजीने भी कह दिया—'अन्तर्यामी नारायणकी शक्ति मुझे क्रियाशील करती है।'

हत्या जब श्रीनारायणके समीप गयी तो उसे लेकर वे वृद्ध ब्राह्मणके वेशमें सेठजीके पास आये और बोले—'यजमान, जय हो! आप बड़े धर्मात्मा हैं और कलामर्मज्ञ भी। तभी तो ऐसा उत्तम बगीचा लगवाया है!'

अब सेठजी ब्राह्मणको साथ लेकर दिखाते हुए बतलाने लगे कि यह कोठी मैंने कितने श्रमसे बनवायी, कोठीमें मूल्यवान पत्थर और शीशे कहाँ-कहाँसे मँगाये, बगीचेमें कौन-सा पुष्प या वृक्ष कहाँसे मँगाकर लगवाया, यह अन्नसत्र और प्याऊ कैसे चलवाते हैं और यह कुआँ कितनी कठिनाईसे खुदवाया है, आदि आदि।

इधर-उधर घूमते देखते हुए ब्राह्मण बछड़ेके शवके समीप पहुँच गये और बोले—'यह बछड़ा कैसे मर गया?'

सेठजी—'अपने कर्मसे मर गया।'

ब्राह्मण—'सेठजी, मीठा-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू! कोठी आपने बनवायी, बगीचा आपने लगवाया, कुआँ आपने खुदवाया, अन्नसत्र और प्याऊ आप चलाते हैं तब यह बछड़ा ही कैसे अपने कर्मसे मर गया? सब आप करते हैं तो इसे भी आपने ही मारा है।'

जबतक आप अभिमानपूर्वक कर्मको स्वीकार या अस्वीकार करते हैं तबतक कर्म नहीं छूटेगा। जबतक व्यक्तित्व नहीं छूटेगा तबतक कर्म भी नहीं छूटेगा, और यह व्यक्तित्व छूटता है अपने स्वरूपके ज्ञानसे। निष्पाप-निष्पुण्य होनेका उपाय एक ही है दोनोंमें-से एक छूटे और एक बना रहे, ऐसा नहीं होगा।

यह कालसे हुआ, संस्कारवश हुआ, देशके कारण हुआ, प्रारब्धसे हुआ, ईश्वरने कराया, प्रकृतिसे हुआ'—आदि भावनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि हम परब्रह्म परमात्मासे अपनेको एक नहीं जानते, हम अपना अलग व्यक्तित्व समझे बैठे हैं। जबतक हममें व्यक्तिगत सुखकी वासना है, व्यक्तित्वका अभिमान है, तबतक कर्मका अभिमान नहीं छूटेगा। कर्मके अभिमानसे छूटना ही कर्मसे छूट जाना है।

अव्ययः—जो बदलता नहीं। न व्येति; न विपरीतं एति'—जो अपने स्वरूपका त्याग कर उसके विपरीत कभी नहीं होता वह 'मैं हूँ।'

नाहं देहः—एक देहमें अनेक अवयव हैं। कई भागोंवाली वस्तु 'मैं' नहीं होती, वह 'मै' के लिए होती है। देह रथ हो सकता है, रथी नहीं हो सकता।

देह शब्द दिह 'उपचये' धातुसे बना है जिसका अर्थ है राशि। हम नेत्रोंसे देखते हैं, कानोंसे सुनते हैं, नाकसे सूँघते हैं, त्वचासे छूते हैं और जीभसे चखते हैं इनका सुख-दुःख मैं लेता हूँ। ये नेत्र, कर्ण, त्वचा-जिह्वादि सब 'मैं' के लिए हैं। अतः देह 'मेरा' तो हो सकता है किन्तु 'मैं' नहीं हो सकता।

देह 'मेरा' भी नहीं है। दूकानमें जाकर हम कहते हैं—'ये रुपये मेरे हैं।' ये नोट हमने तो छापे नहीं हैं। कुछ समय पूर्व वे हमारे पास थे भी नहीं। थोड़ी देरमें वे दूसरेके पास चले जायँगे। जितनी देर वे हमारे पास रहे उतनी देर हम उन्हें 'मेरा' समझते रहे। इसी प्रकार इस देहको भी 'मेरा' समझते हैं। यह

कहींसे आया और कहीं जायगा। मार्गमें यह हमारा 'मेरा' बनकर हमें डुबा रहा है।

अयं देहो अहं न भवति मम भवति।
ममापि किञ्चित्कालमेव भवति॥

यह देह 'मैं' नहीं, यह 'मेरा' है और 'मेरा' भी यह कुछ थोड़े समय ही रहता है। वस्तुतः यह मेरा नहीं है।

यह जो अमुक सम्वत्‌में अमुक तिथिको उत्पन्न हुआ और एक दिन नष्ट हो जायगा; जो शिशु था, युवा हुआ और वृद्ध हो गया; वह जन्मने-मरनेवाला, बदलनेवाला देह मैं नहीं हूँ।

असद्रूपं—न सद् रूपं यस्य स असद्रूपः—जिसका रूप सत् नहीं है वह असद्रूप, अर्थात् इस देहका रूप सत्य नहीं है।

अहंभाव होनेसे अपनेमें और राग होनेसे दूसरेमें सौन्दर्य जान पड़ता है। एक दृष्टिकोणसे जो सुन्दर होता है वही दूसरे दृष्टिकोणसे कुरूप हो जाता है। चीनमें पहले छोटे पैर सुन्दर माने जाते थे। पैर छोटे रखनेके लिए बच्चोंके पैरोंमें लोहेके जूते पहना दिये जाते थे। अब वहाँ छोटे पैर सुन्दर नहीं माने जाते।

देह असद्रूप है। इसमें अनेकता है। इसका कोई रूप स्थिर नहीं है। सत्‌की परिभाषा तो है—**यद्रूपेण यन्निश्चितं तन्न व्यभिचरति**—जिस रूपसे जो निश्चित है उससे वह बदलता नहीं। जो रूप आता-जाता है वह वास्तविक नहीं है। पुष्पमें जो रंग आता है और उड़ जाता है वह पुष्पका नहीं है। पुष्प मिट्टीका बना है और रंग सूर्यकी किरणोंसे आया है। इसी प्रकार देहका कोई रूप स्थिर एवं सच्चा नहीं है। देहके आदि उपकरण अन्नमें यह रूप नहीं था, वीर्यमें भी यह रूप नहीं था, माताके पेटमें जो रूप बना वह भी स्थिर नहीं रहा। शैशव, कौमार, यौवन, वार्धक्य आदिमें भी यह रूप बदलता रहा।

मान लो, कि एक गधेकी स्वर्णकी मूर्ति है। इसमें गधेका रूप केवल रेखाएँ मात्र हैं। मूर्तिमें जो भार है वह स्वर्ण है। अब यदि मूर्तिको गला दें तो आकृति मिट जायगी किन्तु स्वर्ण ज्यों-का-त्यों रहेगा। इसी प्रकार मूल तत्त्वमें ये सब रूप कल्पित हैं। स्वर्ण सिल्लीके रूपमें रहे, चूर्ण बने अथवा द्रव बन

जाय; वह निराकार नहीं है। इसी प्रकार ये सब दृश्य रूप मिट्टी या राख बन जायँ चाहे उष्णता या गतिमें बदल जायँ, ये भी निराकार नहीं हुए। इनका मानसिक या बौद्ध रूप भी निराकार नहीं है। बुद्धिका जो चिन्मात्र साक्षी है वही निराकार है, वही सद्रूप है।

जो सत्य चेतनसे पृथक् रहकर सत्य होता है वह चेतनके अधीन होता है, चेतनसे उसकी सिद्धि होती है। वह जड़ रहेगा। चेतनरूप सत्यको सिद्ध करनेके लिए अन्य चेतन अथवा देश-काल-वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।

सत् आत्मा है, असत् जगत् है। असत् वस्तु तो होती ही नहीं। यदि दो सत् हो जायँ तो उनमें परस्पर संघर्ष सम्भव है। किन्तु सत् तथा असत्में द्वन्द्व सम्भव नहीं। जो सर्प मिथ्या है वह रस्सीमें कैसे चिपकेगा? क्या बन्ध्यापुत्र किसीसे झगड़ेगा? आकाशकी नीलिमा क्या वस्त्रमें लग जायगी? सत्-असत्का कहीं कोई मिलाप नहीं होता। इसीलिए तत्त्ववित् पुरुषका जगत्की सृष्टि या प्रलय किसी अवस्थासे विरोध नहीं है। उसका न देवतासे राग है, न दैत्यसे विरोध। सब देवता-दैत्य अपने स्वरूपमें ही तो प्रतिभासित हो रहे हैं। सत्-असत्की मैत्री भी नहीं होती क्योंकि असत् तो है ही नहीं। देह असद्रूप है।

विद्वज्जन ज्ञान कहते किसे हैं? न समाधिका नाम ज्ञान है, न शान्तिका। भगवदाकार वृत्तिका नाम भी ज्ञान नहीं है। अज्ञानकी अपने आप निवृत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि यह अज्ञान अनादि-कल्पित है। अतः उसकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न अपेक्षित है। महावाक्यजन्य वृत्ति ही अज्ञानकी निवर्तक है। जैसे अन्धकार दूर करनेके लिए प्रकाश आवश्यक है वैसे ही अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञान आवश्यक है। 'मैं देह नहीं हूँ। मैं निराकार, निर्विकार, निष्कलंक, अव्यय ब्रह्म हूँ' इसे ही विद्वज्जन ज्ञान कहते हैं।

● **संगति**

किसीने कहा—'तुम बुड्ढे हो, रोगी हो', तो उसने देहको ही कहा। कोई करोड़पति मार्गमें जा रहा हो और कोई कहे—'यह निर्धन जा रहा है' तो उसे यह सोचकर हँसी आ जायगी कि ये मुझे जानते नहीं हैं। इसी प्रकार कोई तुम्हें बूढ़ा या रोगी कह देता है तो दुखी क्यों होते हो? वह तो अज्ञानके

नशेमें बोल रहा है। कोई करोड़पतिको कंगाल कह दे और करोड़पति सिर पीटकर रोने लगे—'हाय! मैं कंगाल हो गया' तो इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी।

एक बच्चा रो रहा था—'मेरी बेटी मर गयी!' बात यह थी कि उसकी गुड़िया टूट गयी थी। संसारके ये माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु आदि सब गुड़िया ही हैं। ये सब नश्वर, परिवर्तनशील हैं। हम तो इनके द्रष्टा चेतन हैं। हम निरवद्य हैं, अव्यय हैं। बिना किये ही हमने मान लिया कि 'मैंने यह किया' यही अवद्य भ्रम है। हमने किया कुछ नहीं है।

जब हम 'अहं' को ब्रह्म कहते हैं तब 'अहं' का छोटापन या अभिमानका अंश समाप्त हो जाता है। साथ ही ब्रह्मकी परोक्षता मिट जाती है। अहंकार तथा परोक्षता मिटानेके लिए ही 'अहं ब्रह्म' कहा जाता है, अभिमान बढ़ानेके लिए नहीं।

कोई हमें काला-गोरा, नाटा-लम्बा, कुबड़ा-सीधा, स्वस्थ या रोगी कहता है तो वह देहदर्शी है। इसमें तो यह कुछ भी नहीं है। एक महात्माने कहा—'जैसा तुम मुझे देखते हो वैसा मैं नहीं हूँ। लोगोंसे मेरे विषयमें जैसा तुमने सुना है वैसा भी मैं नहीं हूँ। तुम अपनी इन्द्रियोंसे ही देखते हो और इन्द्रियाँ पूर्णको देख नहीं सकतीं। लोग अज्ञानी हैं, वे मेरे स्वरूपको क्या जानें!'

मैंने कहा—'मैं श्रद्धापूर्वक सोचता हूँ कि आप ब्रह्मविद् महापुरुष हैं।'

वे बोले—'यह भी ठीक नहीं है।'

मैंने फिर पूछा—'तब आप कौन हैं?'

उन्होंने कहा—'मैं ब्रह्म हूँ। जैसा मैं हूँ वैसा अपनेको न बता पाता हूँ, न सोच पाता हूँ।'

अहं देहो न भवामि देहस्यानित्यत्वात्।

मैं देह नहीं हूँ क्योंकि देह अनित्य है। किसी भी देहमें आत्मा न देह है, न मन है, न अज्ञान है। इसी तथ्यको और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

निरामयो निराभासो निर्विकल्पोऽहमाततः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ 26॥

पुनः किंलक्षणं ज्ञानमित्यत आह—निरामय इति। अहं निरामयः

सर्वरोगरहितः, निराभासो वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि फल-व्याप्यत्वशून्यः निर्विकल्पः कल्पनाहीनः, आततः व्यापकः ॥ 26 ॥

मैं निरामय, निराभास, निर्विकल्प और व्यापक हूँ। असद्रूप देह मैं नहीं हूँ, इसको बुद्धिमान् जन ज्ञान कहते हैं ॥ 26 ॥

निरामयः—आमयका अर्थ है रोग। निर+आमय=निरामय, अर्थात् मैं रोगरहित हूँ।

उज्जैनमें डाक्टर श्रीदुर्गाशङ्कर नागरजी मानसिक चिकित्सा करते थे। वे पहले रोगियोंको स्नान कराके बैठा देते और तब कहते—'तुम ऐसा विचार करो कि मैं नीरोग हूँ।' उनके यहाँ से पचास-साठ प्रतिशत व्यक्ति स्वस्थ होकर लौटते थे। पागलपनकी तो वे विशेष चिकित्सा करते थे। 'मैं नीरोग हूँ' इस विचारको वे 'स्वर्णसूत्र' कहते थे।

'मुझमें कोई शारीरिक या मानसिक रोग नहीं है। सब रोगोंका महारोग अज्ञान भी मुझमें नहीं। यही तथ्य है। सीधी बात यह है कि जबतक हम अपनेमें प्रविष्ट होनेकी अनुमति नहीं देंगे तबतक सुख-दुःख हमें छू भी नहीं सकते।

आमका अर्थ है कच्चा। आमान्नका अर्थ कच्चा अन्न होता है। इस प्रकार आमयका अर्थ है अनपचे भोजनसे उत्पन्न पीड़ा। शरीरके सब रोग अजीर्णके कारण होते हैं। मन तथा विचार कच्चे रह जायँ तो उनसे भी अन्तःकरणमें रोग हो जाते हैं।

जो खाद्य दिखायी दे उसे ही खाना चाहे तो यह मनका कच्चा पन है। जो स्त्री या पुरुष दिखायी दे, सुन्दर लगे उसीसे विवाह करना चाहे तो उस स्त्री या पुरुषका मन कच्चा समझना चाहिए। बात-बातमें ढुलकना, कुढ़ना, चिढ़ना आदि कच्चें मनके चिह्न हैं। वस्तुके सच्चे स्वरूपको न समझना ही बुद्धिका कच्चापन है।

विचार परिपक्व नहीं हैं तो बुद्धि रोगी है। मनका सङ्कल्प परिपक्व नहीं है तो मन रोगी है। रक्तमें मिश्रित आम ही दैहिक रोगके हेतु है।

हमारे न देहमें रोग हैं, न मनमें, न बुद्धिमें। मैं इनसे परे हूँ। ये मेरे नहीं हैं।

निराभासः—आभास परमात्माको जाननेकी एक पद्धति है। हृदयमें जो

प्रकाश है वह आभास है। नेत्रमें जो प्रकाश है वह आभास है। वह प्रकाश कौन है जो हृदयसे इन्द्रियोंमें आकर विषयोंको प्रकाशित करता है?'

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गश्चम् अनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

यह ध्यानकी बात है—1. चित्त लय न हो अर्थात् नींद न आवे। 2. चित्त विक्षिप्त न हो अर्थात् उसमें इधर-उधरकी बातें न आवें। मनका लय होना तमोगुणकी अवस्था है और उसमें विक्षेप होना रजोगुणकी अवस्था है। मन न तो सो जाय, न अपने गोलकमें रहते हुए मनोराज्य करे। 3. अपने आपमें भी मन हिले नहीं। वह प्रसन्न-अप्रसन्न न हो। यह सत्त्वगुणकी अवस्था भी न हो। 4. 'मैं सुखी, मैं दुःखी' यह बात भी चित्तमें न आवे। 'मैं बड़ा संयत हूँ, बड़ा आनन्द है' ऐसा आभास भी न हो। परमसुख-स्वरूप आत्माका आभास भी न हो तब समझो कि चित्त शान्त हो गया, ब्रह्माकार हो गया।

निर्विकल्पः—स्थूल शरीरमें आमय नहीं, सूक्ष्म शरीरमें आभास नहीं और कारण-शरीरमें विकल्पका बीज अज्ञान नहीं। इसके पश्चात् कह दिया **अहम् आततः**—मैं सर्वव्यापक हूँ, अर्थात् परिच्छिन्नता भी नहीं।

विविध प्रकारकी कल्पनाका नाम विकल्प है। उतना ही सोचना चाहिए जितना करनेका सामर्थ्य हो।

नाज्ञानपतित दुःखं एकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम्॥

सम्पूर्ण संसारमें अज्ञानजन्य दुःख जान पड़ता है उसके लिए अकेले हमें शोक नहीं करना चाहिए। कभी भूकम्प आ गया या बाढ़ आ गयी, बहुत धन-जनकी हानि हुई; किन्तु हम वहाँ पहुँच नहीं सकते, कुछ कर नहीं सकते तो शोक क्यों करें! दुःखका प्रतिकार शक्य हो तो भी शोक नहीं, शक्तिके अनुसार प्रतिकार करना चाहिए।

मनमें भाँति-भाँतिके विकल्प उठते हैं। एक मनुष्य किसीके साथ यात्रा कर रहा था। उसे प्यास लगी तो अपने साथीसे बोला—'मुझे प्यास लगी है। यहाँ कुआँ भी है किन्तु जल निकालें कैसे?'

साथी बोला—'समीपके गाँवमें जाकर रस्सी-बाल्टी माँगकर ले आओ।'

वह गाँव जाकर रस्सी-बाल्टी ले आया और कुएँसे जल निकालकर पी लिया, तब साथीसे बोला—'जल पीकर बड़ी तृप्ति हुई। तुम भी जल पी लो।'

उसने कहा—'जो तृप्ति तुम्हें रस्सी-बाल्टी लाकर जल निकाल कर पीनेसे हुई वह मुझे पहलेसे है; क्योंकि मुझे प्यास नहीं है।'

यह हमारा आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। तब हम इसमें विकल्पकी सृष्टि क्यों करें!

दो व्यक्ति झगड़ रहे थे। एक कहता था—'पृथिवी चलती है।'

दूसरेका मत था कि—'सूर्य चलता है।'

एक तीसरेके मनमें आया—'ये जानते नहीं है। इन्हें समझा दें।' उद्देश्य उत्तम था, किन्तु समझानेके लिए जानेपर विवाद और बढ़ गया, वह भी उसीमें उलझ गया।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

शब्दसे तो वस्तुका होना प्रतीत हो, किन्तु वास्तवमें वह न हो तो उसे विकल्प कहते हैं। जैसे—'वन्ध्यापुत्रजी खपुष्पकी माला पहने, शशशृङ्गका धनुष धारण किये गन्धर्वनगरमें विराजमान हैं' यह विकल्प है।

इस प्रकारके अनेक विषय हैं जो हैं नहीं किन्तु सिरमें जड़ जमाये बैठे हैं। माया, अविद्या, भेदबुद्धि, अन्तःकरणमें हैं ही नहीं। अज्ञानका नाम ही कारणशरीर है। ये कोई विकल्प मुझेमें नहीं हैं; क्योंकि मैं असद्रूप देह नहीं हूँ। देहको 'मैं' मानना ही सर्वथा भ्रम है।

● संगति

ब्रह्मासे कीटतक संसारका कोई प्राणी दुःख नहीं चाहता। दुःखके प्रति प्राणीकी अरुचि स्वाभाविक है। यह अरुचि आधेय नहीं है। गुरु, शास्त्र अथवा लोगोंके सिखानेसे यह नहीं आयी है। यह आहित संस्कार नहीं है। दुःखसे छूटनेसे प्रयत्न भी यथाशक्ति, यथामति सब करते हैं। जीवनमें यह प्रयत्न भी स्वाभाविक है।

देखनेमें आता है कि देह होगी तो दुःख भी होगा ही। देहधारी दुःखरहित नहीं हो सकता। जीवनके प्रवाहमें दुःखकी उपस्थिति अनिवार्य है।

देहमें जो 'मैं-मेरा' यह ममग्रह और इदंग्रह हैं, यही दो पापग्रह हैं, ये भ्रम हैं।

जो दुःख बीत गया वह तो बीत गया। उसके छूटनेका प्रश्न ही नहीं है। जो दुःख हो रहा है वह छूटकर रहेगा। जो दुःख आनेवाला है वह जिस कारणसे आनेवाला है उस कारणको ही छोड़ दें तो दुःख नहीं आने पावेगा। वह दुःख आ क्यों रहा है? इसलिए आ रहा है कि देहके प्रति 'मैं-मेरा' पन दृढ़तासे बैठ गया है। इसे छोड़ दें अर्थात् 'मैं असंग हूँ, साक्षी हूँ। देह न मैं हूँ, न देह मेरा है' इसे चित्तमें बैठा लें तो दुःख हो ही नहीं।

प्रश्न यह है कि 'अहं-मम' हुआ कैसे? इसलिए हुआ कि देह है।

देह आया कहाँसे?

देह आया धर्माधर्मके फलके रूपमें। यह बात चार्वाकको छोड़कर सब भारतीय दर्शन मानते हैं। जब धातुमें कोई आकृति बनती है तो वह कर्मसे ही बनती है।

धर्माधर्म कैसे होता है?

राग-द्वेषसे होता है। राग-द्वेष होता है द्वैतकी उपस्थितिके कारण।

द्वैत कहाँसे उपस्थित हुआ?

अनन्त अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानके कारण द्वैत भास रहा है। अपनेको न जाननेके कारण हमने देहमें 'मैं-मेरा' मान लिया और अद्वितीय ब्रह्मको न जाननेके कारण देहको बनानेवाले तत्त्वोंको जीवन दे दिया।

आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होनेपर अविद्या, अज्ञान सहित भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाती है। केवल अपनेको असंग या साक्षी जान लेनेसे द्वैतका बाध नहीं होता, आत्मा और ब्रह्मके एकत्वके ज्ञानसे ही द्वैतका बाध होता है। सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे ही होती है। अब यही बतला रहे हैं कि इस ज्ञानका स्वरूप क्या है।

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो नित्यमुक्तोऽहमच्युतः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ 27॥

पुनः किंलक्षणं ज्ञानमित्यत आह—निर्गुण इति। अहं निर्गुणो—गुणरहितः, गुणानां मायामयत्वादित्यर्थः। अत एव निष्क्रियः—क्रियारहितः तथा नित्यो

विनाशरहितः, अत एव नित्यमुक्तः—कालत्रयेऽपि बन्धशून्यः। तत्र हेतुः—अच्युतः अप्रच्युतसच्चिदानन्दस्वभावः ॥ 27 ॥

मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, नित्यमुक्त, अच्युत हूँ। मैं असद्रूप देह नहीं हूँ। बुद्धिमान् लोग इसीको ज्ञान कहते हैं॥ 27 ॥

निर्गुणः—गुण उसे कहते हैं जो एक वस्तुको दूसरीसे पृथक् करता है। जैसे पृथ्वीका गुण गन्ध है और जलका गुण रस। इनके कारण पृथ्वी जलसे पृथक् है। गोरा, काला, नाटा, लम्बा आदि सब गुण हैं। गुणोंको निकाल दें तो पृथ्वी-जलमें कोई अन्तर नहीं रह जायगा। सब भेद गुणोंके कारण हैं। गुण छोड़ देनेपर भेद नहीं रहता। हम निर्गुणतत्त्व हैं। निर्गुणतत्त्व एक है। वह सद्‌गुण-निर्गुण दोनोंसे पृथक् है। सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण भी उसमें नहीं हैं।

शरीर तमोगुणका कार्य है। शरीरमें होनेवाली क्रिया रजोगुणकी है। शान्ति और सुख सत्त्वगुणके हैं। अतः निर्गुणका अर्थ है कि हम निःशरीर हैं। गुण सब शरीरतक ही हैं। हम स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-शरीरोंसे पृथक् हैं।

किसी दुःखीको देखकर दया आना सत्त्वगुणकी वृत्ति है। मनमें आता है—'मैं दयालु हूँ, दूसरोंसे श्रेष्ठ हूँ।' यह अभिमान रजोगुणकी वृत्ति है। 'दूसरे लोग निर्दय हैं तुच्छ हैं अथवा 'यह दुखी नहीं है, दम्भी है, गन्दा है' यह घृणाकी वृत्ति तमोगुण है। इस प्रकार गुणोंकी प्रवृत्ति प्रायः अधोमुखी रहती है। वृत्तियाँ आती जाती रहती हैं, कर्म सत्त्व-रज-तमके अनुसार होते रहते हैं; किन्तु हम इन सबसे परे हैं।

निष्क्रियः—जिस क्रियाके कारण पाप-पुण्य होते हैं, अभिमान होता है वह क्रिया ही हममें नहीं है।

वृन्दावनमें अनेक ऐसे बड़े-बड़े मन्दिर हैं जिनमें-से एक भी आज बनवाना हो तो एक करोड़ रुपयोंमें भी नहीं बनेगा। उनके निर्माता जीवित होते और आज उन्हें देखते तो उन्हें पश्चात्ताप होता कि 'मैंने यह मन्दिर बनवाकर भूल की। अच्छा होता कि बनवाया ही न होता।' जब बनवाया था तब तो मनमें अभिमान आया होगा कि 'मैंने ऐसा उत्तम मन्दिर बनवाया।' अब देखकर ग्लानि होती क्योंकि अब तो उनमें अच्छी तरह झाड़ू भी नहीं लग पाता।

क्रिया चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण हो, कालचक्रमें वह क्षुद्र हो जाती है।

कालचक्र क्षुद्रको भी महान् बना देता है। मेरे बचपनमें गाढ़ा कपड़ा (खद्दर) पहनना दरिद्रताका चिह्न माना जाता था। महात्मा गाँधीने ऐसा चर्खा चलाया कि जो मोटा खद्दर पहने वही आदमी बड़ा माना जाने लगा। तुम जिसे अच्छा या बुरा मानते हो वही सदा अच्छा या बुरा नहीं माना जायेगा। धर्मराज युधिष्ठिर स्वर्गारोहणकी यात्रा कर रहे थे। उस समय उन्हें यह चिन्ता नहीं थी कि कौन साथ आता है या कौन गिर पड़ा, पीछे छूट गया। जैसे वे निश्चिन्त भावसे लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ते गये वैसे ही अपने जीवनकी धारामें बढ़ना चाहिए। जो आता है वह भगवान्‌का है। जो चला गया उसे भगवान्‌ने छिपा दिया। हम इन समस्त क्रियाओंसे पृथक् हैं।

नित्यमुक्त—जब हम सोचते रहते हैं कि हम देह, परिवार, जाति, सम्प्रदाय आदिसे बद्ध हैं, उस समय भी हम मुक्त ही रहते हैं। एक व्यक्ति नशेमें अपने घरमें पलङ्गपर पड़ा-पड़ा चिल्ला रहा हो—'मैं जंगलमें भटक गया हूँ। डाकू मुझे घेरे हुए हैं। मुझे बचाओ! मुझे जंगलसे बाहर करो! मुझे नदी पार करा दो।' तो इस समय भी वह सचमुच है तो अपने घरपर ही।

अच्युतः—जब चित्त चञ्चल रहता है, जब मनमें दुर्वासना आती है तब क्या मैं सचमुच च्युत हो जाता हूँ? एक महात्माने मुझेसे कहा—'बेटा! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे शरीरसे कभी-कभी भूल होती है, तुम्हारे मनमें दुर्वासनाएँ भी आती हैं, तुम्हारा चित्त चञ्चल होता है और संसारकी वस्तुओंको देखकर तुम उनपर लुब्ध भी होते हो,उनसे घृणा भी करते हो। तुम्हारी समस्त स्थितियोंसे अवगत होनेपर भी मैं जानता हूँ कि तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो। जिसमें च्युति प्रतीत होती है वह माया है, प्रकृति है, शरीर है। तुम वह नहीं हो जो तुम अपनेको जानते या मानते हो। तुम वह हो जो मैं तुम्हें बतलाता हूँ।'

नाहं देहो ह्यसद्रूपः—यह देह असत् है। आत्मा सत्य है और प्रपञ्च असत्य है। इनके मध्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है। मैंने श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा था—'द्रष्टा और दृश्यकी मध्य-सन्धि क्या है?'

कोई वस्तु दो तभी हो सकती है जब दोनोंके मध्य देश या कालका अन्तर हो अथवा उनके मध्य कोई तीसरी वस्तु हो। बाबाने कहा—'तुम बतलाओ।'

मैंने कहा—'मध्यमें दृष्टि है। दृष्टिके सामने दृश्य है और दृष्टिके पीछे द्रष्टा है।' पर यह उत्तर ठीक नहीं था। दृष्टिमें आकार दृश्यका है और स्वरूप द्रष्टाका है, अतः द्रष्टा और दृश्यके मध्य दृष्टि नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने कहा—'द्रष्टा और दृश्यके मध्य कोई वस्तु नहीं है। द्रष्टाके स्वरूपका अज्ञान ही द्रष्टा-दृश्यके स्वरूपका विभाजक है। द्रष्टाकी ब्रह्मता, अखण्डता, अद्वितीयताका अज्ञान ही द्रष्टामें दृश्य दिखला रहा है।'

'मैं निर्गुण हूँ, इसका तात्पर्य यह है कि मुझेमें वृत्तिज्ञान तथा सत्त्व, रज, तम ये गुण नहीं हैं। मैं निष्क्रिय हूँ' का अर्थ है कि क्रियाका सम्बन्ध मुझसे नहीं है। 'मैं नित्य हूँ' अर्थात् कालका मुझसे न कोई सम्बन्ध है, न मुझपर कोई प्रभाव है। इसी प्रकार नित्यमुक्त शब्दसे आत्मा बन्धनरहित एवं अच्युत शब्दसे सर्वथा विकाररहित बतलाया गया।

● **संगति**

स्वप्नमें कोई पापकर्म हो जाता है तो जागकर हम अपनेको पापी नहीं मानते। जागनेके बाद स्वप्नमें हुए पापका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं करते। स्वप्नमें कोई पुण्यकार्य करें तो जागनेपर यह अभिमान भी नहीं होता कि 'मैं पुण्यकर्मा हूँ।' तात्पर्य यह कि जागनेके बाद स्वप्नके कर्मका कर्तृत्व नहीं रह जाता अतः स्वप्नके शुभाशुभ कर्मोंसे पाप-पुण्य भी नहीं होते। दृश्यका दिखायी पड़ना ही पाप-पुण्यका हेतु नहीं है उसमें कर्तृत्वका अभिमान पाप-पुण्यका हेतु है।

यदि हम जाग्रत्‌में अपनेको शरीर मानेंगे तो अपनेको कर्त्ता न मानना मिथ्याभावना होगी; क्योंकि हम जान-बूझकर शरीरसे कर्म करते हैं। अतः शरीरसे 'मैं' को पृथक् करके 'मैं' को ब्रह्म समझना चाहिए।

शरीरको 'मैं' मानते हुए हम समझें कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' और सन्ध्या न करें तो पाप लगेगा ही; क्योंकि अपनी मान्यताके विरुद्ध स्वयं आचरण कर रहे हैं। मान लीजिये हम भोजन करने बैठे हैं। सामने स्वादिष्ट भोजन परोसा रखा है। हम ग्रास उठाने ही वाले हैं कि एक बालक दौड़ा आवे और कहे—'रुक जाइये! भोजनमें विष मिला है।' ऐसी अवस्थामें उसे बालक समझकर हम उसकी बातको महत्त्व न देकर भोजन नहीं करने लगेंगे; बल्कि रुककर

भोजनकी जाँच करेंगे। तब इतने शास्त्र और सन्त एकमतसे जिन-जिन कामोंको निषिद्ध कहते हैं वे काम जब हम करते हैं तो अपनी वासनाकी प्रबलतासे, कर्त्तापनकी प्रबलतासे ही करते हैं। इसमें दूसरी कोई बात नहीं है। हम किसीका धन ले लें तो हम चोर नहीं और दूसरा हमारा धन ले ले तो वह चोर है; यह कैसा न्याय है! हम जब शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं तब वासनाके वशीभूत होकर करते हैं किन्तु अपना स्वरूप वास्तवमें उस वासनाओं तथा उनके परिणामोंसे असंस्पृष्ट है। ●

निर्मलो निश्चलोऽनन्तः शुद्धोऽहमजरोऽमरः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥ 28॥

पुनरपि ज्ञानलक्षणमाह—निर्मल इति। अहं निर्मलः अविद्यातत्कार्यलक्षण-मलरहितः; अत एव निश्चलः व्यापकत्वादाकाशवन्निश्चल इत्यर्थः। निश्चलत्वे हेतुः—अनन्तः—देशकाल-वस्तुपरिच्छेदशून्यः, शुद्धः—अशुद्धिरहितः, पुनरजरः जरा-रहितः, अमरो मरणरहितश्च। सर्वधर्माणां देहत्रयवतित्वादिति भावः॥ 28॥

मैं निर्मल, निश्चल, अनन्त, शुद्ध, अजर और अमर हूँ। मैं असद्‌रूप देह नहीं हूँ। इसे ही बुद्धिमान् जन ज्ञान कहते हैं॥ 28॥

निर्मलः—देह स्थूल हो या सूक्ष्म, निर्मल नहीं हो सकता। कितना भी पाउडर देहमें लगाते रहें; यदि दस दिन साबुन न लगावें तो शरीर मलिन हो जायगा क्योंकि पाउडर भी मैल ही है। इसी प्रकार हम जो भी कर्म या मनोराज्य करते हैं वह तत्काल चाहे जितना सुखद या उत्तम लगे, अन्ततः वह मैल ही बनता है। हमारे उस उत्तम कर्म या उत्तम संकल्पके कारण हममें एक अभिमान और जुड़ जाता है, मनमें एक वासना और आ जाती है।

कर्म करनेसे पूर्व वासना होती है, कर्म करते समय अहं-क्रिया होती है और कर्म करनेके बाद उसमें ग्लानि अथवा अभिमान होता है। इस प्रकार कर्म-मात्र मल हैं। इस कर्मसे असम्पृक्त हो जाना ही निर्मलता है।

जिस कर्मको करनेपर ग्लानि हो, पश्चात्ताप हो या आलस्य आवे, वह तामस कर्म है। जिस कर्मको करनेपर अशान्ति हो, थकावट हो, कर्मका विस्तार बढ़े, वह राजस कर्म है। जिस कर्मको करके चित्त प्रसन्न हो और उत्तम कर्म करनेका अभिमान बढ़े वह सात्त्विक कर्म है।

जिसको अपनेमें किसी अभावका अनुभव नहीं होता उसे किसी वस्तुके

भोग-योगसे अपनेमें पूर्णता लाना आवश्यक नहीं होता। आत्मा ऐसा ही परिपूर्ण और निर्मल है। इसमें देश, काल, पदार्थ मल नहीं लगा सकते। 'आत्मा निर्मल है' का अर्थ यह है कि मलके रूपमें उससे दूसरी किसी वस्तुका संसर्ग नहीं है। निर्मलका अर्थ है द्रव्य-सम्बन्ध-रहित।

निश्चलः—निश्चलका अर्थ है देश-सम्बन्ध-रहित। यह आत्मा न स्वर्ग जाता, न नरक। देहसे देहान्तरकी प्राप्ति भी इसे नहीं होती। स्वयंमें भी यह बच्चा, युवा वृद्ध नहीं होता।

अनन्तः—अनन्तका अर्थ है काल-सम्बन्ध-रहित। आत्मा जनमता-मरता नहीं।

शरीरकी शैशव-युवा-वार्धक्यादि अवस्थायें, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थायें, शरीरके धर्म—गमनागमन, शरीरकी स्थिति और समाधि आदि स्थूल या सूक्ष्म शारीरिक अवस्थाओंसे आत्मदेवका कोई सम्बन्ध नहीं है।

शुद्धः—सब स्थितियाँ देशमें होती हैं, सब भावनाएँ कालमें होती हैं और सब सम्बन्ध वस्तुओंमें होते हैं। आत्मदेव तो सर्वथा शुद्ध हैं।

यह जो हम ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य हैं इनमें ज्ञेयपना नहीं मिलाना चाहिए। हम ज्ञान हैं, उसमें ज्ञेय नहीं है। आत्मामें दो बातें बाहरसे आरोपित होती हैं—1. ज्ञेयका आकार, जैसे—यह घड़ी है, यह छड़ी है, यह पुस्तक है, ये मनुष्य-वृक्ष या पशु हैं आदि पृथक्-पृथक् आकार, और 2. मैं इन आकारोंको जाननेवाला ज्ञाता इनसे पृथक् हूँ, यह ज्ञातापना प्रतीत होना। शुद्ध ज्ञानमें 'अहं ज्ञाता, इदं ज्ञेयम्' यह 'अहं-इदं' दोनों अध्यारोप हैं। ज्ञानमात्र ही अपना स्वरूप है। जो घड़ी-छड़ी-पुस्तकादिको जान रहा है वह तो वृत्ति-विशिष्टसे उपहित है। शुद्धका अर्थ है अद्वितीय। उसमें द्वैत है ही नहीं।

अजरोऽमरः—आत्मामें बुढ़ापा है, न मृत्यु। जरा और मृत्यु तो शरीरमें होती है। शरीर मलिन है, आत्मा निर्मल है। शरीर चल है, आत्मा निश्चल है। शरीर अन्तवान् है, आत्मा अनन्त है। शरीर अशुद्ध है, आत्मा शुद्ध है। शरीर जरा-मृत्युसे ग्रस्त है। आत्मा जरा-मृत्युसे रहित है।

नाह देहः—मैं देह नहीं हूँ। यह देह असद्रूप है, दुष्ट है। किन्तु इसे दुष्ट समझा कैसे जाय?

मेरी बाल्यावस्थामें एक मनुष्य कभी-कभी मेरे पितामहके समीप आता

और रुपये माँगा करता था। मेरे पितामह कभी उसे सौ-दौ रुपये भी दे देते, कभी दस-पाँच या दो ही रुपये। कभी तो दो आने ही देते थे। कुछ भी मिलनेपर वह प्रसन्न हो जाता था। कभी-कभी मेरे पितामह उसे कुछ नहीं देते थे। जिस दिन कुछ न मिलता उस दिन वह बहुत अधिक गालियाँ बकता, धरती-पर लोट-पोट हो जाता, सिर पटकता और कहता—'कुछ नहीं दोगे तो यहीं तुम्हारे द्वारपर प्राण दे दूँगा।'

वह अफीम खाता था। अफीमके लिए उसे पैसोंकी आवश्यकता पड़ती थी। आप क्या कहते हैं—वह भला आदमी था?

अब आप अपने शरीरकी ओर देखें। इसे आप खिलाते-पिलाते हैं तो यह प्रसन्न रहता है, न खिलावें तो अप्रसन्न। इन्द्रियोंको भोग देते रहें तो वे प्रसन्न और न दें तो अप्रसन्न। दो दिन भोजन न दें तो हाथ-पैर, नेत्र-कर्ण हड़ताल करने लग जाते हैं। इसलिए ये इन्द्रियाँ और यह देह असद्रूप हैं, दुष्ट हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—**असदिन्द्रियतर्षणात्।**

इन इन्द्रियोंकी तृषा बुझती ही नहीं। इनको पानी पिलाओ तो सोडा माँगेंगी, सोडा पिलाओ तो शर्बत चाहेंगी। इनकी प्यास बुझनेका नाम ही नहीं लेती।

वृन्दावनके आश्रममें एक वृद्ध ब्राह्मण थे—पण्डित श्री तुलसीरामजी। वे अपने ही हाथों भोजन बनाकर खाते थे, किसीसे कुछ माँगते नहीं थे। प्रायः वे शाक नहीं बनाते थे। कभी वे मेरे समीप आते और दादा उन्हें दो आलू या दो टमाटर दे देते तो वे बहुत प्रसन्न होते और कहते कि यह अमृत है क्योंकि अयाचित मिला है—**अमृतं यदयाचितम्।**

भोजन करनेके बाद भी वे उसकी प्रशंसा करते थे। वे सत्पुरुष थे। पर जिसे दो आने दो तो चार आने माँगे, चार आने दो तो आठ आने और आठ आने दो तो रुपया माँगे, जिसकी माँग बढ़ती ही जाय, जो कभी सन्तुष्ट न हो, वह दुष्ट है। ये इन्द्रियाँ ऐसी ही दुष्ट हैं। इनका पेट कभी भरता नहीं।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीति पुंसः कामहतस्य वै॥—भागवत

पृथ्वीमें जितना अन्न है, स्वर्ण है, जितने पशु हैं, स्त्रियाँ हैं, वे सब मिलकर भी किसी एक कामनाहत व्यक्तिके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं।

यह श्लोक पुराणोंमें और महाभारतमें भी अनेक स्थलोंपर आया है। मनुस्मृतिमें भी कहा गया है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

जैसे घीसे अग्नि बुझती नहीं प्रत्युत बढ़ती ही है, वैसे ही कामोपभोगसे कामनाएँ शान्त नहीं होतीं, उल्टे बढ़ती जाती हैं।

इन नित्य अतृप्त रहनेवाले दुष्टोंसे मेरा कोई मेल नहीं है। ये जड़ हैं मैं चेतन हूँ। ये जनमते-मरते रहते हैं, मैं अजर-अमर हूँ। भला जूएँ-खटमलोंसे हमारी क्या मित्रता!

वृन्दावनमें लगभग सौ वर्षकी आयुके एक सन्त श्रीहाथी बाबाजी रहते थे। मैंने उनसे एक बार पूछा—'शरीर कैसा है?'

वे बोले—'तुम जानते हो कि शरीर किसे कहते हैं? शीर्यते यः स शरीरः।'

जैसे वट-पीपल आदिके पत्ते जब पुराने हो जाते हैं तब स्वयं टूटकर गिर जाते हैं ऐसे ही शरीर पुराना होकर गिर जानेवाला है। वेदमें मन्त्र है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।

आप कहाँ रहते हैं? पीपलपर। आपका घोंसला वृक्षपर है और वह भी पत्तेपर। वह पत्ता सूख रहा है। थोड़ी हवा चलेगी तो वह पत्ता टूटकर गिर जायगा। अतः इस शरीरसे अपनेको पृथक् कीजिये। मैं यह शरीर नहीं हूँ।

जहाँ अज्ञात वस्तुकी सत्ता नहीं रहती वह ज्ञान है। जो ज्ञात होता है वह तो ज्ञानसे अभिन्न होता है।



देहातीतान्वेषणका निषेध

● **संगति**

जो वस्तु अपने स्वरूपसे विपरीत होती है उसे हम नहीं चाहते। कोई स्वच्छ वस्त्र पहने हो तो वह गन्दे स्थानमें नहीं बैठना चाहेगा। अब देखिये कि आपको क्या अप्रिय है?

1. आपको मृत्यु अप्रिय है, इसका अर्थ है कि मृत्यु आपके जीवनके उपयुक्त नहीं है। मृत्यु आपके लिए अस्वाभाविक है। आप अमर हैं।

2. आपकी नासमझी अप्रिय है! आप मूर्च्छासे दूर रहना चाहते हैं क्योंकि आप ज्ञानस्वरूप हैं।

3. आपको दुःख प्रिय नहीं है क्योंकि आप आनन्द-स्वरूप हैं।

4. आपको अत्यन्त संकीर्ण स्थानमें रहना प्रिय नहीं है क्योंकि आप अद्वितीय हैं।

जो-जो आपके स्वरूपमें नहीं है उससे आपको स्वाभाविक अरुचि है। बिना किसीके बतलाये, बिना संस्कार डाले आपकी जो स्वाभाविक अरुचि है वह आपके स्वरूपको बतलाती है। आपने दुःख, भय, मृत्यु, अज्ञान, अपमान, परवशता, द्वेष, विरोध, संकीर्णता आदिसे अरुचि रखना किसीसे सीखा नहीं। यह अरुचि इसलिए है कि ये आपके स्वभावमें नहीं हैं।

अब बतला रहे हैं कि अपने इस स्वरूप यानी आत्माको कहीं ढूँढ़ने नहीं जाना है, वह तो हम इस देहमें ही है। ●

स्वदेहे शोभनं सन्तं पुरुषाख्यं च सम्मतम्।
किं मूर्ख शून्यमात्मानं देहातीतं करोषि भोः॥ 29॥

नन्वात्मा प्रत्यक्षदेहरूपो न भवति तर्हि शून्यत्वमात्मनः स्यादित्याशङ्क्याह— स्वदेहे इति। भो मूर्ख! स्वदेहे पुरुषाख्यं पुरि मनुष्यशरीरे उषति अहमाकारेण वसतीति पुरुष इत्याख्या नाम यस्य तम्। अत एव शोभनं मङ्गलं शरीरविलक्षणत्वादतिमङ्गलं तथा सम्मतम्। 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिवाक्यनिर्णीत चकरात् 'उत्तमः

पुरुषस्त्वन्यः' इत्यादिस्मृतिनिर्णीतं घटद्रष्टृवद्देहद्रष्टृत्वेन देहातीतमात्मानं सततं भावं सन्तं सर्वव्यवहाराधिष्ठान, शून्यं खपुष्पादिवत् अत्यन्ताऽभावरूप किं करोषि कथ मन्यसे। मा-मन्यथा इति भावः। क्वचित् 'स्वदेहम्' इति द्वितीयान्तः पाठस्तस्मिन् पक्षे देहात्मवाद्येव वदति। उक्तलक्षणं मनुष्यदेहं त्यक्त्वा, समानमन्यत्॥ 29॥

यह शोभन पुरुष अपने शरीरमें ही है, यह बात श्रुतिको भी मान्य है। अरे मूर्ख! फिर देहातीत आत्माको शून्य क्यों बनाता है?॥ 29॥

स्वदेहे—परमात्मा कहाँ है? अपने शरीरमें ही। उसे पानेके लिए एक पद भी चलनेकी, एक पल भी प्रतीक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे बचपनमें दाढ़ी-मूँछ नहीं होती तो अनेक बालक उसके आनेकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे परमात्माकी प्रतीक्षा नहीं करनी है। वह तुम्हारे 'मैं' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऐसे परमात्मा, परमार्थ, परमतत्त्वको ढूँढ़ने कहाँ जाना है! देहको जलाकर ध्वस्त कर देनेसे ईश्वर नहीं मिलता। देहका बाध होता है। जैसे सोना प्राप्त करनेके लिए सोनेके खिलौनेको तोड़ना नहीं पड़ता, खिलौनेका आकार रहते हुए भी वह सोना है, वैसे ही देहके रहते हुए ही, देहमें ही ईश्वर मिल जाता है।

मोरा हीरा हेराय गयल कचरेमें।

यह आत्मा हीरा है। शरीरकी गन्दगी, कचरेमें यह खो गया है। इसी शरीरमें परमात्माका निवास है। न किसी दूसरे लोकमें जाना, न दूसरे समयतक प्रतीक्षा करनी। जिस कचरेमें वह खोया है, उसीमें ढूँढ़ना है।

शोभनम्—वह वैसे ही सुहावना है जैसे सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, गगन निर्मल है, पृथ्वी पालिका या धारिका है अथवा जैसे वायु प्राणदायी है। यह आत्मा पानीका बुलबुला नहीं है, पानी है—तत्त्व है। नासझीसे इसे हम परिच्छिन्न मान रहे हैं। इसका ऐसा अविनाशी सौन्दर्य है कि उसमें मैल लगता ही नहीं। वह परम मधुर सुखस्वरूप इस देहमें ही है।

जो परम शुभ है उसे ढूँढ़ो। इस शरीरकी गन्दगीमें रहकर भी इससे उसका सम्बन्ध नहीं है। वह सर्वथा निर्मल है। मनके भय-द्वेष, हिंसा-असूयादि मलोंसे वह पूर्णतः असंस्पृष्ट है।

इस आत्माकी असंगताका निदर्शन सुषुप्ति है, जिसमें यह शत्रु-मित्र, रोग-शोक, स्त्री-पुत्र, देह-मन सबको छोड़कर सो जाता है।

इस आत्माके ऐश्वर्यका निदर्शन स्वप्नावस्था है, जिसमें यह समुद्र, पृथ्वी,

सूर्य, चन्द्र, तारे, नदी, पर्वत या प्राणि-पदार्थरूप सम्पूर्ण जगत् बिना किसी उपकरणके बना लेता है।

इस आत्माके मोहका निदर्शन जाग्रत्-अवस्था है, जिसमें यह असंग होते हुए भी 'मैं-मेरा' करके फँस जाता है।

स्वरूपत: आत्मा शोभन है। अशुभसे इसे अरुचि है। झूठ, चोरी, अनाचार, हिंसादिमें यह भीतरसे रोक ही लगाता है।

सन्तम्—रहना ही इसका स्वभाव है। यही सन्त है क्योंकि इसमें निर्लेपता है। सुख-दु:ख दोनों आते-जाते हैं पर यह सबको भूल जाता है।

देह या मनमें जब दु:खकी धारा आवे तो इसमें-से 'मैं' को वैसे ही पृथक् कर लेना चाहिए जैसे घोसलेमें आग लगनेपर पक्षी निकलकर उड़ जाता है। एक घरमें आग लगी। घरका स्वामी बाहरसे चिल्लाता हुआ दौड़ा आया—'मेरी तिजोरी, मेरे बहुमूल्य वस्त्र और सामान घरमें हैं!' वह जलते घरमें घुस गया और जलकर मर गया। यह मोह था; मूर्खता थी। इस शरीररूपी घरमें तो बार-बार आग लगती है, अत: इसमें-से अपना 'मैं-मेरा' पृथक् कर लो।

पुरुषाख्यम्—'पुरुषुवसति इति पुरुष:।' हम इस शरीररूपी पुरमें रहनेवाले होनेसे पुरुष हैं। हमारा घर है यह शरीर। यह पुरुष इस छूटनेवाली वस्तुको पकड़कर बैठा है।

सूरदास नलिनीको सुअटा कहु कौने जकरयो।

नलिनी एक ऐसी लकड़ी है, ऐसा बनाया हुआ लकड़ीका यन्त्र है कि थोड़ा भी भार पड़नेपर वह घूम जाता है। तोते पकड़नेके लिए बहेलिये उसपर फल लगाकर वृक्षपर रख देते हैं। फल खानेके लिए जब तोता उसपर बैठता है तो वह लकड़ी नीचेकी ओर घूम जाती है। डरके कारण तोता अपने पञ्जोंसे लकड़ी पकड़ लेता है और नीचेकी ओर उलटा लटका चिल्लाता रहता है। उसे इसी अवस्थामें पकड़ लेते हैं। ऐसे ही शरीरमें 'मैं' करके स्वयं हमने इसे पकड़ रखा है।

सम्मतम्—शास्त्र और सन्त यही बतलाते हैं कि तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो।

किं मूर्ख!—'मूर्च्छति इति मूर्ख:' जो संज्ञाशून्य, ज्ञानशून्य है वह मूर्ख है। शरीरके साथ 'मैं' होना ही मूर्च्छित होना है।

जब शरीरसे निकले रक्त-मांस, हड्डी-थूक, केश-नख, मल-मूत्रादिको स्पर्श करके स्नान करना पड़ता है तब शरीरमें रहते हुए भी रक्त-मांस, हड्डी-मेद, कफ-पित्त, केश-नख, चर्म, मल-मूत्रादि अपवित्र ही हैं। इन्हें जो 'मैं' माने वह क्या होशमें है? वह तो मूर्च्छित है। जो अपने आपको न पहचाने या जिसे अपना पता न हो वह मूर्च्छित है, मूर्ख है।

आत्मानं शून्यं करोषि—अपने आपको तुम ब्रह्मज्ञानसे शून्य कर रहे हो। देहमें जो मिट्टी-पानी, अग्नि-वायु है उसे तो तुम 'मैं' कहते हो किन्तु देहमें ही जो खाली स्थान है उसे?

'इतना तो कभी सोचा नहीं।'

यदि तुम उस खाली स्थानको 'मैं' कहते हो तो पूरी सृष्टिमें वह आकाश एक ही है। ऋतको जो 'मैं' मानता है वह सत्यको 'मैं' क्यों नहीं मानता।

संसारमें दो प्रकारके पदार्थ हैं—

1. जिसे केन्द्रसे पकड़कर पूरा पदार्थ पकड़में आजाय उसे सत्य कहते हैं। हम लोग मध्यप्रदेशके हँडिया जिलेमें हरदा स्थानके समीप नर्मदा-तटपर खँडियामें चौरासी सिद्धोंमें-से एक सिद्ध श्रीडोमिननाथजीकी गुफा देखने गये थे। उस गुफापर कई सौ मन भारी एक शिला है। दस-बीस मनुष्य भी उस शिलाको हिला नहीं सकते; किन्तु शिलाका एक स्थान ऐसा है कि वहाँ पक्षी भी बैठे तो शिला हिल जाती है। पत्थरके समान लकड़ी-लोहे आदि धातुओंको भी एक स्थानसे पकड़कर उठाया जा सकता है। ऐसे ठोस पदार्थोंको सत्य कहते हैं।

2. पानी, रेत, वायु आदिको एक स्थानसे पकड़कर नहीं उठा सकते। इनको ऋत कहते हैं। सत्यका केन्द्र होता है, ऋतका केन्द्र नहीं होता। पृथ्वी सत्य है, जल ऋत है। अग्नि सत्य है, वायु ऋत है। आकाश ऋत है, मन ऋत है, क्योंकि मन रूपान्तरित होता रहता है। ये ऋत और सत्य दोनों जिस सत्यसे धृत होते हैं वह अपना आत्मा है।

जब हम अपने आपको जनमने-मरने-बदलनेवाली वस्तुओंसे, बौद्ध प्रत्ययोंसे एक कर देते हैं तो हम शून्य हो जाते हैं क्योंकि वे सब कण-कण हैं।

आत्मानं देहातीतं करोषि—सामने एक पत्थरकी मूर्ति है। जिसे उससे

प्रयोजनविशेष सिद्ध करना है, उसमें कला देखनी है, वह कहता है—'यह सुन्दर स्त्रीमूर्ति है।' जो धातुको देखना चाहता है वह कहता है—'यह पत्थर है।'

मैंने एक घरमें नटराजकी एक पीतलकी प्राचीन मूर्ति देखी। मुझे बतलाया गया कि उसका मूल्य नब्बे हजार रुपये है। यह मूल्य उस मूर्तिकी प्राचीनता और कलाका है। उसमें लगे पीतलका यह मूल्य सम्भव नहीं है।

कलाकृतिकी दृष्टिसे यह शरीर बहुत मूल्यवान् है किन्तु इसमें जो धातु है उसे हम नहीं पहचानते। पीतलकी मूर्तिमें पीतल मूर्तिसे अतीत ही तो है। नटराजकी मूर्तिमें जो पीतल है उससे विष्णु भी बना सकते हैं, सिंह भी। मोमकी जो मूर्तियाँ बनती हैं उनमें-से एक मूर्तिको गलाकर चाहे जो मूर्ति बना लें। मोम उन मूर्तियोंकी आकृतियोंसे अतीत है। इसी प्रकार शरीर पञ्चभूतोंसे बना है। ये पञ्चभूत शरीरकी आकृतियोंसे अतीत हैं। किन्तु पाँच होनेसे ये भी आकृति हैं। इनका मूल कारण प्रकृति इनसे अतीत है। मूर्तियोंमें जो स्थान पीतल या मूर्तिका है वही स्थान शरीरोंमें प्रकृतिका है।

यह प्रकृति जिसे प्रतीत होती है वह प्रकृतिसे न्यारा है। जब यह ज्ञान होता है कि यह द्रष्टा अद्वितीय परमब्रह्म ही है तब प्रकृति अपनी सत्ता छोड़ देती है। इस रीतिसे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जगत्का मूलतत्त्व ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा ही है। जैसे उस परमब्रह्ममें प्रकृति और पञ्चतत्त्व खिलौने हैं वैसे ही पञ्चतत्त्वमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड खिलौने हैं। इस देहमें रहकर भी आत्मतत्त्व देहातीत है।



देहात्मवादका निराकरण

● **संगति**

कोई मनुष्य अपनेको भूत समझने लगे तो कहना पड़ेगा—'भाई, तुम मनुष्य हो। अपना भूतपना छोड़ दो।' इसी प्रकार शरीरमें 'मैं' पना अविचार-स्वीकृत है। बिना बिचारे ही कोई बात मान ली जाय, यह त्रुद्धिमानी नहीं है।

शरीरमें अस्थियाँ, रक्त-मांस, मेद-मज्जा, स्नायु आदि सब पृथक्-पृथक् हैं। इस जड़-संग्रहको चेतन जब 'मैं' कहता है तो स्पष्ट है कि बिना विचार किये ही कहता है। यह शरीरको 'मैं-मेरा' मानना ही दु:खोंका उपादान कारण है।

पृथ्वीका वह अंश जिसे तुम अपनी भूमि या अपना घर कहते हो, तुम्हारे जन्मसे पूर्व भी था और मरनेके बाद भी रहेगा। बीचमें कोई दूसरा उसे 'मेरा' कह दे तो इससे तुम्हें जो कष्ट होता है वह उस पृथ्वीके टुकड़ेने तुम्हें नहीं दिया है। उस टुकड़ेमें तुम्हारा जो 'मेरा'पना है उससे दु:ख उत्पन्न हुआ है।

मेरे बचपनकी बात है। मेरे घर एक खेतमें खेती होती थी जिसे मैं अपना समझता था। एक दिन मैंने उस खेतमें दूसरेको हल चलाते देखा तो बड़ा क्रोध आया। दौड़ा हुआ मैं घर आया और अपने पितामहसे बोला—'बाबा! हमारे अमुक खेतमें अमुक हल चलवा रहे हैं।'

पितामहने कहा—'बेटा, वह खेत तो उन्हींका है। हमने उनसे ले रखा था, अब उन्हें लौटा दिया है।'

जब पता लगा कि खेत उन्हींका है तो मेरा दु:ख और क्रोध मिट गया। यह दु:ख उस खेतमें अथवा उन सज्जनके हल चलवानेसे नहीं निकला था, उस खेतके प्रति मेरेपनकी भावना ही दु:खका कारण थी।

श्रीविष्णुपुराण और श्रीमद्भागवतमें भी यह श्लोक है—

दृष्ट्वात्मनि जये व्यग्रान्नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मां विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥

यह दो नरेश पृथ्वीपर विजयके लिए युद्ध करते हैं तो उन्हें देखकर यह पृथ्वी हँसती है कि कितने आश्चर्यकी बात है कि ये नरेशजी स्वयं मृत्युके खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं। इनके पिता-पितामह भी मेरे लिए युद्ध करते थे किन्तु अब उनकी हड्डियाँ मेरे भीतर दबी पड़ी हैं। थोड़े दिनोंमें इनकी भी यही दशा होने वाली है।

चोरी-बेईमानीसे चोर-डाकू या भ्रष्टाचारी जो धन प्राप्त कर लेते हैं उस धन के नाशसे भी दु:ख होता है क्योंकि दु:ख तो धनमें मेरापन होनेसे ही होता है।

आप पूर्व दिशाकी ओर चलते हैं तो हर पदपर पूर्वको पश्चिम बनाते चलते हैं। इसी प्रकार जीवन हर क्षण सुखको दु:ख और दु:खको सुख बनाता चलता है। जीवनमें उलटी समझ बनानेसे ही माता-पिता, स्त्री-पुत्र, धन-भवन, मर्यादा, शरीर-मन आदि दु:ख देते हैं।

दु:ख एक मानसिक संघटना है; कोई पदार्थ, व्यक्ति या क्रिया दु:ख नहीं है। संसारके सब नाम-रूप गधा-हाथी, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदि खिलौने हैं। तुम अपनेको खिलौना मानोगे तो गधा या हाथी होनेका सुख-दु:ख होगा, अपनेको स्वर्ण, मूलधातु देखोगे तो यह मनुष्य देह नहीं रहोगे। तुम विराट् हो। तुम साक्षात् ब्रह्म हो। यही अगले आठ श्लोकोंमें बतलाते हैं। ●

स्वात्मानं शृण मूर्ख त्वं श्रुत्या युक्त्या च पुरुषम्।
देहातीतं सदाकारं सुदुर्दर्शं भवादृशैः॥ 30॥

ननु शून्यवादिन एवाभावापत्तेः शून्यं मास्तु, प्ररन्त्वात्मनो देहातीतत्वे प्रमाणाभावाद्देह एवात्मा स्यादित्याशङ्क्याह—स्वात्मानमिति। भो मूर्ख-देहात्मवादिन् चार्वाक्! त्वं स्वात्मानं स्वकीयमात्मानं पुरुषं देहातीतं देहातिरिक्तं श्रुत्या 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा' इत्यादिकया, पुनर्युक्त्या च 'एकस्मिन्कर्तृकर्म-विरोध' इत्यादिरूपया शृणु—अवधारय। देहातीतत्वे किनाकार आत्मेत्यत आह—सदाकारमिति। सदाकारमस्तीत्येतन्मात्रव्यवहारकारणभूत् आकारो यस्य तम्। एवंविधोऽस्ति चेत्कृतो न दृश्यत इत्यत आह—सुदुर्दर्शमिति। भवादृशैः श्रुत्याचार्यश्रद्धाशून्यैः सुदुर्दशं सर्वथा दर्शनायोग्यम्, तस्यादृष्टरूपत्वादेवेत्यर्थः। यद्वा पूर्वश्लोकोक्त द्वितीयापेक्षया देहात्मवादिनः समाधानार्थोऽयं श्लोकः स्वात्मानमिति॥ 30॥

मूर्ख! तुम अपने आत्माका वर्णन श्रुतिसे और युक्तिपूर्वक सुनो क्योंकि यह पुरुष देहातीत् सत् आकार वाला है और तुम जैसोंके लिए अत्यन्त दुर्दश है ॥ 30 ॥

श्रुत्या युक्त्या च—आजकल तो एक प्रथा-सी चल पड़ी है कि नवीन विचारक होनेका दावा करनेवाले कहते हैं—'पुस्तकें मत पढ़ो, पुस्तकें मत मानो।' आश्चर्य तो यह है कि यह बात भी पुस्तकें लिखकर बतलाई जाती हैं, व्याख्यान देकर मौन रहनेको कहा जाता है।

जब बिना सिखलाये मानव-शिशु भोजन करना भी नहीं सीख सकता। तब अध्यात्मके मार्गमें तो सीखना आवश्यक है ही। विचारकी समृद्धिके लिए विचारका मार्ग भी सीखना पड़ता है। आत्माको ब्रह्म जाननेका भी एक गुर होता है उसे सीखनेके लिए श्रुति भी चाहिए और युक्ति भी। युक्तिके द्वारा सबका निषेध करते-करते अन्तमें 'मैं' शेष रह जायगा। 'मैं' का निषेध सम्भव नहीं है। यही 'मैं' ब्रह्म है, यह बात श्रुतिके द्वारा जाननी पड़ती है।

देहातीतम्—आकृतिमें भार नहीं होता, अतः यह तत्त्व नहीं है। देहातीतका अर्थ देहका प्रतीत न होना नहीं है। एक देहमें 'मैं' होना ही जड़ता है दुःखका हेतु है। जैसे सब घड़ोंके जलमें एक ही सूर्यका प्रतिविम्ब पड़ता है वैसे ही सब देहोंमें—भूत एवं भविष्यके देहोंमें भी यह एक ही 'मैं' है।

सदाकारम्—इसका अर्थ है देहरहित सन्मात्र। घड़ेकी कल्पनासे रहित मिट्टी, आभूषणकी कल्पनासे रहित स्वर्णके समान नामरूपकी कल्पनासे रहित अपना आपा। यह अतीन्द्रिय है।

सुदुर्दर्शम्—यह आत्मा कठिनाईसे जाना जाता है, पुस्तकें पढ़कर या अपने आप चिन्तन-ध्यान करके नहीं जाना जाता। कोई बतलावेगा तब इसका बोध होगा।

● **संगति**

अब विचारकी पद्धति बतलाते हैं—

इह पश्यति नानात्वं मायया वञ्चितो नरः।

जो मनुष्य इस जगत्में नानात्वको सत्य देखता है उसे मायाने ठग लिया है। जो पहले भी नहीं थे, आगे भी नहीं रहेंगे, बीचमें थोड़ी देरको दिखायी दे रहे हैं उन्हींको सब कुछ समझकर माया-मोहित मनुष्य व्यवहार कर रहा है।

तत्त्वज्ञान शिक्षा देता है कि जो कुछ दिखायी दे उसे दिखायी देने दो, जो बदलता है उसे बदलने दो, जो आता-जाता है उसे आने-जाने दो। यह सब जादूका खेल है।

पुराणोंमें एक कथा है—महाराज जनकसे जीवनमें कोई भूल हो गयी थी। मरनेपर उन्हें यमलोक जाना पड़ा। वहाँ उनसे कहा गया—'नरक चलो।'

महाराज जनक तो ब्रह्मज्ञानी थे। उन्हें क्या स्वर्ग, क्या नरक! वे प्रसन्नतापूर्वक चले गये। नरकमें पहुँचे तो चारों ओरसे पुकार आने लगी—'महाराज जनकजी!'

तनिक यहीं ठहर जाइये!'

महाराज जनकने पूछा—'यह कैसा शब्द है?'

यमदूतोंने कहा—'नरकके प्राणी चिल्ला रहे हैं।'

जनक—'क्या कह रहे हैं ये?'

यमदूत—'ये आपको रोकना चाहते हैं।'

जनक—'ये मुझे यहाँ क्यों रोकना चाहते हैं?'

यमदूत—'ये पापी प्राणी अपने-अपने पापोंके अनुसार यहाँ दारुण यातना भोग रहे हैं। इन्हें बहुत पीड़ा थी। अब आपके शरीरको स्पर्श करके पुण्यवायु जो इनतक पहुँचा तो इनकी पीड़ा दूर हो गयी। इन्हें इससे बड़ी शान्ति मिली।'

जनक—'हमारे यहाँ रहनेसे इन सबको शान्ति मिलती है, इनका कष्ट घटता है तो हम यहीं रहेंगे।'

तात्पर्य यह है कि भला मनुष्य नरकमें पहुँचेगा तो नरक भी स्वर्ग हो जायगा और बुरा मनुष्य स्वर्गमें पहुँच जाय तो स्वर्गको भी नरक बना डालेगा। अतः देखना चाहिए कि हम अपने चित्तमें नरक भरकर चलते हैं या स्वर्ग लेकर। जब हमें लगता है कि समस्त विश्व मेरी आत्मामें है तब राग-द्वेष, संघर्ष-हिंसाके लिए स्थान कहाँ रह जाता है।

एक महात्मासे किसीने पूछा—' ईश्वरका स्वरूप क्या है?'

महात्माने पूछ दिया—'तुम अपना स्वरूप जानते हो?'

वह बोला—'नहीं जानता।'

तब महात्माने कहा—'अपने स्वरूपको जानते नहीं जो साढ़े तीन हाथके शरीरमें 'मैं-मैं' कर रहा है और सम्पूर्ण विश्वके अधिष्ठान परमात्माको जानने चले हो! पहले अपनेको जान लो तब परमात्माको जान सकोगे।'

यही प्रश्न किसी चिकित्सकसे किया जाय तो वह कहेगा—'हम पहले तुम्हारे शरीरके विषयमें जान लें कि इसमें कौन-से तत्त्व किस स्थितिमें हैं तब तुम्हारे विषयमें बतला सकेंगे।'

एक व्यक्ति एक वस्तुको अण्वीक्षक यन्त्र (खुर्दबीन) से देख रहा है। यदि उसे यह नहीं ज्ञात है कि वह यन्त्र वस्तुका आकार कितना बड़ा करके दिखलाता है तो उसे वस्तुके सही स्वरूपका ज्ञान कैसे होगा? अतः अपने यन्त्रके विषयमें पहले जानना आवश्यक है। आपका ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा आपको संसार दिखलाता है। आप यह नहीं जानते कि वह दिखानेवाला आपको यह संसार यथावत् ही दिखलाता है या घटा-बढ़ाकर अथवा विकृत करके दिखलाता है।

गुलाबके पुष्पको नेत्र कहते हैं—'यह गुलाबी है।' नासिका कहती है—'इसमें एक प्रिय सुगन्ध है।' त्वचा कहती है—'यह कोमल और शीतल है।' चखनेपर रसना कहेगी—'इसका स्वाद कुछ कसेला है।' ठोंकनेपर कर्ण कहेंगे—'इसमें बहुत हल्की फट-फटकी ध्वनि है।' पूरी बात कोई इन्द्रिय नहीं बतलाती। सब इन्द्रियाँ मिलकर भी वस्तुके पूरे स्वभावको नहीं बतला पातीं।

दूसरी ओर 'मैं' के स्वरूपको तो ये इन्द्रियाँ जानतीं ही नहीं। 'मैं' के स्वरूपको जो ठीक नहीं जानता वह न ईश्वरको ही ठीक जान सकता, न जगत्को ही, अतः विचार करनेकी प्रणाली बतला रहे हैं।

अहंशब्देन विख्यात एक एव स्थितः परः।
स्थूलस्त्वनेकतां प्राप्तः कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 31॥

तदेवाह—**अहमित्यादिसप्तभिः**। परः देहादन्य आत्मा अहं शब्देन। शब्द इत्युपलक्षणं प्रत्ययस्यापि। **विख्यातः** प्रसिद्धः। किंलक्षण इत्यत आह—एक इति। एक एव स्थितः। एवेति प्रत्येकमवधारणम्। तुशब्दः पूर्वोक्तादात्मनः स्थूलदेहस्य वैलक्षण्यद्योतकः। स्थूलो देहकः—देह एव देहकः। स्वार्थे कप्रत्ययः। कथं पुमान् पुरुषः आत्मा स्यान्न कथञ्चिदित्यर्थः। देहस्यानात्मत्वे हेतुमाह—अनेकतामिति

अनेकतां परस्परं भिन्नतां प्राप्तः। एवं तमः प्रकाशवदतिविलक्षणत्वेऽपि देहस्यात्मत्वं ब्रुवन्नतिमूढत्वादुपेक्ष्य इति भावः॥ 31॥

'अहं' शब्दके द्वारा प्रसिद्ध एक ही परमतत्त्व स्थित है। वह पुरुष ऐसा शरीर कैसे हो सकता है जो स्थूल और अनेकरूप होता रहता है॥ 31॥

अहंशब्देन—'मैं' एक है और स्थूल सृष्टि अनेक है। नेत्रोंके सामने बहुत-से रूप आते हैं। ये रूप अनेक हैं, हम एक हैं। कर्ण, नेत्र, त्वचा, रसना, नासिका इनके विषय अनेक हैं, हम एक हैं। नाक, कान, त्वचा आदि इन्द्रियाँ अनेक हैं, हम एक हैं। स्वाद अनेक, श्वास अनेक, हम एक। मनमें विचार अनेक आते हैं, हम एक हैं। बुद्धिमें विचार अनेक आते हैं, हम एक हैं। हमारे अतिरिक्त सब वस्तुएँ परिवर्तित होती रहती हैं किन्तु हमारा 'मैं' वही रहता है।

'इदं' अनित्य है, परिवर्तनशील है और 'मैं' नित्य निर्विकार है। 'यह' बहिरंग है, 'मैं' अन्तरंग। 'यह'की सत्ता मुझसे सिद्ध होती है। 'मैं' न होऊँ तो 'यह' हो नहीं सकता। 'यह' न भी हो तो भी 'मैं' रहता हूँ। 'यह' विषय है और 'मैं' ज्ञाता, विषयी हूँ। 'यह' का मरना-जीना 'मैं' के सामने होता है। इस प्रकार 'इदं-अहं' का विवेक करना चाहिए।

दृश्य अनेक होते हैं। गुलाब चमेली नहीं है और चमेली गुलाब नहीं है। किन्तु हमारा 'मैं' वस्तुओंके अनेक होनेपर भी एक रहता है, उनके परिवर्तित होनेपर भी अपरिवर्तित रहता है। इन्द्रियाँ अनेक हैं, उनके स्वादादि विषय अनेक हैं, मनकी रुचियाँ अनेक हैं, किन्तु 'मैं' एक ही रहता है। इस प्रकार 'अहं' शब्दसे जो विख्यात है वह सूक्ष्म है, सबसे परे है, एक है। बाहर स्थूल पदार्थोंके रूपमें प्रतीत होनेवाला जगत् अनेक और विकारी है।

अशरीरं शरीरेषु ह्यनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

शरीरोंमें अशरीरी और परिवर्तनशीलोंमें अपरिवर्तित महान् विभुको अपना आपा जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

बदलनेवालोंमें जो बिना बदले रहता है, छोटी-छोटी वस्तुओंमें रहकर भी जो महान् है, उपादानरूपमें जो सबमें व्याप्त है, आत्मा होनेसे जो चेतन है, उसे कोई दुःख दे नहीं सकता। उसका किसीसे संस्पर्श नहीं होता।

एक व्यक्तिने महात्मासे पूछा 'ईश्वर कैसा है?'

महात्मा—'तेरे जैसा।'

वह—'मैं कैसा हूँ?'

महात्मा—'ईश्वर जैसा।'

वह—'हम दोनों कैसे हैं?'

महात्मा—'एक जैसे।'

प्राप्त वस्तुकी उपेक्षा करना और अप्राप्तको चाहना मनुष्यका स्वभाव है। आप मृग और सर्प दोनोंके नेत्रोंकी तो आलोचना करते हैं किन्तु आपके नेत्र कैसे हैं इसपर कभी ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार आप अपनेको नहीं देख पाते।

श्रीमद्भागवतमें एक दृष्टान्त आया है—जब चन्द्रमा समुद्रमें था तब मछलियाँ उसे भी एक साधारण मछली ही समझती थीं। वह अमृतपूर्ण है इसका उन्हें ज्ञान ही नहीं था। इसी प्रकार श्रीकृष्णको यदुवंशी अपने जैसा ही मानते थे किन्तु जब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर चले गये तो वे रोने लगे।

ऐसे ही आप भी अपनेको जानते नहीं। अपनेको समझे बिना आप दूसरेको समझ ही नहीं सकते। धन-पुत्र, पड़ोसी और शरीरको भी यदि आप समझते हैं तो उन्हें ऐसा क्यों नहीं बना लेते कि वे आपको दु:ख न दें। आप देह नहीं हैं। देह तो अत्यन्त छोटा है आप नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा देह कैसे हो सकते हैं!

● संगति

अब और युक्ति देकर बतलाते हैं कि आत्मा देह नहीं हो सकता।

अहं द्रष्टृतया सिद्धो देहो दृश्यतया स्थितः।
समायमिति निर्देशात्कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 32॥

तदेवातिवैलक्षण्यं दर्शयति—अहमिति। अहमहंशब्दप्रत्यक्षलम्बन आत्मा द्रष्टृतया शब्दादिविषयप्रकाशकतया सिद्धः—शब्दं शृणोमीत्यादिव्यवहारेण प्रसिद्धः, देहस्तु दृश्यतया शब्दादि-वत्प्रकाश्यतया स्थितः। तत्र हेतुमाह—ममेति। ममायं देह इति घटादिवत्स्वीयसन्बन्धितया निर्देशात्—व्यवहारात् एवमुभयोर्वैलक्षण्ये सति कथं देहकः पुमान् स्यादिति व्याख्यातार्थश्चतुर्थपादः। एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम्॥ 32॥

यह सिद्ध है कि मैं द्रष्टा हूँ और देह दृश्यरूपसे स्थित है। यह देह मेरा कहा जाता है, अत: पुरुष (आत्मा) देह कैसे हो सकता है॥ 32॥

अहं द्रष्टतया सिद्धः—चेतन और जड़की परिभाषा करें तो परिभाषा होगी कि जिसको ज्ञात होता है वह चेतन और जो ज्ञात होता है वह जड़। लोकमें जहाँ अन्त:करण है उसे चेतन कहते हैं। घड़ीमें यद्यपि घड़ीसे अवच्छिन्न चेतन है किन्तु अन्त:करण न घड़ी न जड़ है।

अपना आपा द्रष्टा है अर्थात् सबको जानता है, इतना ही वेदान्त नहीं है। वेदान्त यह है कि आत्मा ईश्वरसे अभिन्न है।

मनुष्यके जीवनमें जो विद्या है वह ईश्वरकी सर्वज्ञताका विलास है। मानवकला ईश्वरके सृष्टि-रचना कौशलका प्रकाश है। मानवमें जो प्रेम है वह ईश्वरके आनन्दका प्राकट्य है। ईश्वरमें जो सबसे निर्लिप्त रहनेका गुण है वह मनुष्यके जीवनमें निवृत्ति है। अत: तुम अपने आपको किसी प्रकार तुच्छ मत समझो। जो ईश्वरमें है वह जीवनमें भी है। जो सिन्धुमें है वह एक बिन्दुमें अवश्य है।

बिन्दुमें सिन्धु समान यह सुनि अचरज कासों कहौं।
हेरनहार हेरान रहिमन आपुहिं आप हौं॥

डाक्टर एक बूँद रक्त लेकर उसकी जाँच करके बतला देते हैं कि तुम्हारे शरीरमें कौन-कौनसे तत्त्व हैं। इसी प्रकार यदि आप अपने शरीरमें रहनेवाले चैतन्यका पता लगा लें तो समष्टि-चैतन्यका पता लग जायगा।

हम क्या चूहेकी भाँति चोरी करके अन्न इकट्ठा करने या मधु-मक्खी अथवा चींटीके समान केवल श्रम करने और मधु (शहद) या बीज इकट्ठा करनेको उत्पन्न हुए हैं! क्या इतना ही हमारा जीवन है कि श्रम करें, इकट्ठा करें, पशुओंके भोग भोगें और मर जाएँ! हमारा ज्ञान, हमारा प्रेम, हमारी सत्ता क्या इतनेके लिए ही है?

अहं द्रष्टतया सिद्धः—ऐसा नहीं है। विचार करनेपर ज्ञात होता है कि 'मैं' केवल इन्द्रियोंके द्वारा जाननेवाला ही नहीं इन्द्रियोंको भी जाननेवाला हूँ। 'मैं' अन्त:करण द्वारा ही जाननेवाला नहीं हूँ, अन्त:करणको भी जाननेवाला हूँ। जाननेके अभिमानको भी मैं प्रकाशित करता हूँ।

'मैं' के होनेसे ही धर्म-कर्म, वेद-शास्त्र तथा ईश्वरकी भी सिद्धि होती

है। पहले 'मैं' होता है तब मेरा ईश्वर, मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मेरा संसार होता है। मनुष्यकी भूल यह है कि जिससे सब है उसीको सता-सताकर वह दूसरोंको सिद्ध कर रहा है।

धन 'मैं' के लिए होता है। पहले 'मैं' होगा तब धन कमाया, भोगा या दिया जायगा। किन्तु हमने तो अपने 'मैं' का उस धनके लिए लगा दिया है।

एक सज्जनका मस्तिष्क कुछ विकृत हो गया था। वे मुनीमके सामने हाथ जोड़ने लगे—'हजार दो हजार ले लो किन्तु किसीसे कहना मत कि मेरा सिर ठीक नहीं है।' यहाँ स्वामी ही सेवक बन गया।

तुम अपने आनन्दको दुःख, अपने ज्ञानको अज्ञान धनके लिए ही बना रहे हो। यहाँ धनका तात्पर्य है संसारकी जड़ता। इस जड़तासे अपनेको एक मत करो। आत्मा द्रष्टा पहलेसे ही सिद्ध है। 'अहं' होता है तब 'मम' होता है। 'मम' तो अन्तःकरणकी शुद्धि है और 'अहं' वस्तुसत्ता है।

एक सज्जन एक महात्माके समीप जाकर बोले—संसारमें हमें पकड़ रखा है। यह छोड़ता नहीं।'

महात्मा हँसे और बोले—'चलो थोड़ा घूम आयें।'

थोड़ी दूर जाकर महात्माने एक वृक्षको दोनों भुजाओंमें भरकर पकड़ लिया और पुकारने लगे—'दौड़ो! वृक्षने मुझे पकड़ रखा है। मुझे छुड़ाओ।'

वे सज्जन बोले—'वृक्ष भी कहीं किसीको पकड़ता है। वृक्षको तो आपने पकड़ रखा है। अपने हाथसे वृक्ष छोड़ दीजिये।'

महात्माने कहा—'संसार भी किसीको नहीं पकड़ता। तुम ही अपने हाथकी पकड़ छोड़ दो।'

संसारकी कोई वस्तु हमें नहीं पकड़ती, पकड़ता तो अन्तःकरण है। हम न पकड़नेवाले हैं, न छोड़नेवाले। हम न चोर हैं न पुलिस, हम दोनोंके साक्षी हैं।

देहो दृश्यतया स्थितः—देह दृश्य है। जैसे स्वप्नमें अपना एक शरीर प्रतीत होता है वैसे ही यह शरीर भी प्रतीतिमात्र है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-भेदसे देह अनेक हैं किन्तु तुम एक हो। देह दृश्य है, तुम द्रष्टा हो। देहको 'मेरा' कहा जाता है। अतः देह आत्मा या पुरुष नहीं हो सकता।

● **संगति**

देहको 'मैं' मानना अज्ञान है। देह आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि देह विकारी है और आत्मा निर्विकार है। यह बात समझा रहे हैं।

अहं विकारहीनस्तु देहो नित्यं विकारवान्।
इति प्रतीयते साक्षात्कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 33॥

पुनर्वैलक्षण्यान्तरमाह—अहमिति। अहं (व्याख्यातार्थः) विकारहीनः—जायतेऽस्तीत्यादिषड्विकारहीनः। तु वैलक्षण्ये। देहो नित्यं सर्वकालं विकारवान् अत्र किं प्रमाणमत आह—इतीति। इति साक्षात् प्रत्यक्षप्रमाणेन प्रतीयते अनुभूयते। एवं सात कथं स्याद्देहकः पुमानिति॥ 33॥

मैं विकारहीन हूँ और देह सदा विकारी है, यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। अतः आत्मा—'मैं' देह कैसे हो सकता हूँ॥ 33॥

अहं विकारहीनस्तु—विकारका अर्थ है बिगड़ना, बदलना। दूधका दही बन जाना विकार है। हम फलनेके दिनोंमें किसी वृक्षका फल बराबर कई बार प्रतिदिन देखते रहें तो लगता है कि फल जैसे-का-तैसा ही है किन्तु वह राईसे मटर बराबर होता है—बढ़ता जाता है। ऐसे ही शरीरके विषयमें लगता है कि यह जैसेका-तैसा है किन्तु बच्चेका शरीर बढ़ता रहता है और युवकका शरीर प्रौढ़ होकर बूढ़ा होने लगता है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो छहसे बारह पौण्ड तकका रहता है। उस नन्हें शरीरमें मरनेतक कितने परिवर्तन होते हैं। किन्तु उसका 'मैं' सदा अपरिवर्तित रहता है।

'मैं' में कोई परिवर्तन नहीं होता। दूसरेका बदलना हमें ज्ञात होता है, अपना बदलना ज्ञात नहीं होता। केवल शरीर ही नहीं, मन और बुद्धिमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। केवल 'मैं' में परिवर्तन नहीं होता।

जब क्रोध आता है तो उसे उस समय क्रोध करना ही उचित लगता है। उस समय हम क्रोधाविष्ट अन्तःकरणसे एक होते हैं। जब क्रोधावेश समाप्त हो जाता है तब पश्चात्ताप होता है कि 'हमने बड़ी भूल की।' तुम जब क्रोधसे एक हुए तब तुम्हें क्रोध ठीक लगा। जब पश्चात्तापसे एक हुए तो वह तुम्हें ठीक लगा। ये क्रोध और पश्चात्ताप आने-जानेवाले हैं। तुम इनसे पृथक् हो।

शरीरमें शैशव, कौमार, यौवन, वार्धक्य अवस्थाएँ आती-जाती हैं। मनमें काम, क्रोध, लोभ, दया, कृपा आदि आती-जाती हैं, चित्तमें सुख-दुःख

आते-जाते हैं, बुद्धिमें सुविचार-कुविचार आते-जाते हैं, ये सब विकार हैं। तुम इन सबमें एक रहते हो। तुम निर्विकार हो।

स्थान बदलता है। कालमें परिवर्तन होता है। भविष्य वर्तमान बनकर भूत बनता जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। ये सब विकार स्थूल या सूक्ष्म देहके हैं। मैं निर्विकार हूँ और देह तो सदा ही विकारी है। यह बात प्रत्यक्ष दिखायी देती है अतः मैं देह कैसे हो सकता हूँ।

● **संगति**

युक्तियोंसे समझानेके पश्चात् अब श्रुतिसे समझाते हैं क्योंकि **द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति**—दो गाँठ लगाकर बाँधी गयी वस्तु सुदृढ़ बँध जाती है। एक ही बात समझानेके लिए कई प्रक्रियाएँ इसलिए अपनायी जाती हैं कि वह ठीक-ठीक समझमें आजाय।

युक्तियोंसे सिद्ध हुआ कि आत्मा देहसे विलक्षण है। श्रुतिसे भी यही सिद्ध है। धर्मसे, उपासनासे भी यही सिद्ध है। प्रश्न यह है कि ऐसी दशामें सबकी समझमें यह बात आती क्यों नहीं?

बात यह है कि इच्छा और प्रयत्नके बिना कोई बात समझी नहीं जा सकती। वकील कानून और मुकदमा समझनेमें लगे हैं, डाक्टर रोग तथा ओषधियोंको जाननेमें व्यस्त हैं, व्यापारी बाजार-भाव तथा ग्राहककी रुचि समझते हैं। जिसकी रुचि और प्रयत्न जिस दिशामें है वह उस विषयको समझता है।

जिसको संसारमें वैराग्य हो गया है, जो दुःखसे आत्यन्तिक मुक्ति चाहता है, जिसकी बुद्धि शुद्ध है उसीको समझमें वेदान्त आता है।

जो काम, क्रोध, लोभ, मोहके वशमें हैं उनके मनमें जिज्ञासा है ही नहीं तब वेदान्त उनकी समझमें कैसे आवे? संस्कृतमें एक कहावत है—**नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति** अर्थात् अन्धा खम्भेको नहीं देखता यह खम्भेका अपराध नहीं है।

ब्रह्म तो सत्य है किन्तु जो काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदिसे ग्रस्त है उन्हें ब्रह्म न दिखायी दे तो यह ब्रह्मका दोष नहीं है।

अपनी इन्द्रियोंको जिन-जिन पदार्थोंसे भोग मिलता है, केवल उनके विषयमें ही सोचना, यह सोचनेकी कोई उपयुक्त पद्धति नहीं है। शत्रु-चिन्तनसे

द्वेष और मित्र-चिन्तनसे राग होगा ही। भोग विनाशी है। कलका शत्रु आज मित्र और कलका मित्र आज शत्रु हो जाता है। मनुष्य फिर भी इनके ही विषयमें सोचता रहता है। कभी तो इनकी चिन्ता त्यागकर अपने स्वरूपके विषयमें विचार करो कि 'मैं क्या हूँ।'

युक्तिके द्वारा देहसे आत्माकी पृथकता बतलानेके अनन्तर अब श्रुतिके द्वारा भी यह बता रहे हैं कि देह दृश्य, जड़, विनाशी है। आत्मा अविनाशी, निर्विकार द्रष्टा है।

यस्मात्परमिति श्रुत्या तया पुरुषलक्षणम्।
विनिर्णीतं विमूढेन कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 34॥

एवं युक्त्या देहात्मनोर्वैलक्षण्यमुक्त्वा श्रुत्याप्याह—यस्मादिति। 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मात्प्राणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि। तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' तया प्रसिद्धया तैत्तिरीयश्रुत्या। श्रुत्येति करणे तृतीया। पुरुषस्यात्मनो लक्षणम्। विमूढेन विगतमूढभावेनातिचतुरेण, श्रुत्यर्थ विवेचन कुशलेनेत्यर्थः। इयं कर्तरि तृतीया। विनिर्णीतं—विचार्य स्थापितम्। अन्यत्पूर्ववत्। यद्वा—श्रुत्येति कर्तृपदम्। अस्मिन् पक्षे विमूढेनेति देहात्मवादिनं प्रति सम्बोधनम्। विमूढानां इन स्वामिन्। मूर्खशिरोमणित्वादेव श्रुतिं नाद्रियस इति भावः॥ 34॥

जब 'यस्मात्परम्' इत्यादि श्रुतिने भी पुरुषके लक्षणका निर्णय कर दिया है तो विमूढ़ पुरुषके द्वारा माननेपर भी पुरुष देह कैसे हो सकता है॥ 34॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्।

यह प्रसिद्ध श्रुति है। जिससे न कुछ पर है, न कुछ अपर, अर्थात् जिसका न कोई कारण है न कुछ कार्य।

घड़ेसे परे मिट्टी है। घड़ा फूटनेपर जो टुकड़े होंगे वे मिट्टी ही हैं। इस प्रकार ईश्वरसे, आत्मासे परे कुछ नहीं है। ईश्वर सम्पूर्ण बुद्धियोंका सञ्चालक है। ईश्वरके सहित बुद्धिका जो भी द्रष्टा है उस आत्मासे परे कुछ नहीं है।

यहाँ परे शब्दका अर्थ काल नहीं है क्योंकि कालकी सिद्धि भी आत्मासे होती है। इससे कोई परे नहीं है अर्थात् इससे कोई सूक्ष्म नहीं है और इससे कोई अपर नहीं है अर्थात् इससे कोई स्थूल नहीं है। न इससे कोई पहले है, न पीछे। सब कारण-कार्य स्थूल सूक्ष्म, पहले पीछे वृत्तिमें होते हैं और आत्मा वृत्तिका साक्षी है।

यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।

इस आत्मासे न कोई बड़ा है न छोटा, बड़ा-छोटा होना देश-परिच्छेद है, पहले-पीछे होना कालपरिच्छेद है, और कारण-कार्य होना वस्तुपरिच्छेद है। आत्मामें ये तीनों नहीं हैं। यह अखण्ड, अद्वय वस्तु है। यही ब्रह्मा-इन्द्र, हाथी-चींटी आदि सब रूपोंमें है।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।

अपनी दिव्यतामें बैठा यह वृक्षके समान स्तब्ध अर्थात् परिवर्तनहीन, परिणामहीन, एकरस है।

स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः।

यह अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित है। ऐसे पुरुष द्वारा यह समस्त सृष्टि पूर्ण है।

सृष्टिमें न कोई शत्रु है, न मित्र, सब परमात्मा है। इसमें न कोई जड़ है, न चेतन, सब परमात्मा है। इसमें न कोई मनुष्य है, न पशु, न पक्षी, सब परमात्मा है। इसमें न कोई प्राचीन है, न नवीन, सब परमात्मा है। इसमें न कोई सुख है, न दुःख, सब परमात्मा है।

एकरस सत्त्व ही शत्रु-मित्र, जड़-चेतन, पशु-पक्षी, प्राचीन-नवीन, सुख-दुःख आदि सब रूपोंमें प्रतिभात है। इसमें भोग भ्रान्तिसे ही नानात्वकी प्रतीति एवं सुख-दुःखका भान हो रहा है।

एक बार उस पूर्णतत्त्वका श्रवण किये बिना केवल ऐन्द्रिय अनुभवके आधारपर विचारके द्वारा उसे जानना सम्भव नहीं है क्योंकि कोई इन्द्रिय, मन या बुद्धि पूर्णका ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है।

श्रुतिने पुरुषका लक्षण बतलाया है—'पुरुष पर है। पुरुष एक है। पुरुष अपनी महिमामें स्थित है। पुरुषसे कोई बड़ा या छोटा नहीं है। पुरुषका न कार्य है, न कारण। पुरुषसे न कुछ पहले है, न पीछे।'

इसका अर्थ हुआ कि पुरुषमें देश, काल, जाति, व्यक्ति, वस्तु-वस्तुका विभाग, परिमाण आदि कुछ नहीं है। जब श्रुतिने पुरुषका यह लक्षण बतलाया है तब अज्ञानीके द्वारा जो यह निर्णय किया गया है कि पुरुष देह ही है, यह कैसे सत्य हो सकता है।

धर्मके नामपर जो युद्ध होते हैं वे वस्तुके अज्ञानके कारण होते हैं। जब

देवता-दैत्य लड़ते हैं तो महात्मा देखते हैं कि दोनोंमें एक ही आत्मा है। शैव-वैष्णव, हिन्दू-मुसलमान आदि सबके झगड़े केवल अज्ञानके कारण होते हैं।

● **संगति**

जब ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं तब हम अपनेको देह क्यों मानते हैं, इस सम्बन्धमें अब दूसरी श्रुति दे रहे हैं।

सर्वं पुरुष एवेति सूक्ते पुरुषसंज्ञिते।
अप्युच्यते यतः श्रुत्या कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 35॥

न केवलमनयैकया श्रुत्या विनिर्णीतं किंत्वन्ययापीत्याह—सर्वमिति। यतो हेतोः श्रुत्या वेदाख्यपरदेवतया 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इति पुरुषसंज्ञिते सूक्तेऽप्युच्यते। पुरुषलक्षणमिति पूर्वश्लोकादध्याहारः। अतः कथं स्यादिति पूर्ववत्॥ 35॥

पुरुषसूक्तमें 'सर्वं पुरुष एवेदं' जब इस प्रकार श्रुतिने ही कहा है तो पुरुष शरीर कैसे हो सकता है॥ 35॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

पुरुष एव इदं सर्वम्—यह सब पुरुष है। स्त्री-पुरुष; पशु-पक्षी, मनुष्य राक्षस, वृक्ष-लता आदिका कोई भेद इसमें नहीं है।

जब विदेशी वस्त्रोंके बहिष्कारके लिए देशमें आन्दोलन चल रहा था तब सब बड़े-बड़े नेताओंको अंग्रेज सरकारने जेलोंमें बन्द कर दिया था। उन्हीं दिनों काशीके टाउनहालमें एक सभा आयोजित हुई। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी उस सभाके अध्यक्ष थे। सभामें एक पत्रका संवाददाता उठकर खड़ा हुआ और उसने श्रीमालवीयजीसे पूछा—'इस समय जब सब नेता जेलोंमें हैं, आप जेलसे बाहर क्यों हैं? अंग्रेज सरकार आपसे डरती है या आप अंग्रेजोंके अपने आदमी हैं?'

मालवीयजी बोले—'सरकार भला मुझसे क्यों डरेगी! मैं अंग्रेजोंका आदमी भी नहीं हूँ किन्तु मेरी और महात्मा गाँधीकी भाषामें अन्तर है।'

संवाददाताने पूछा—'ऐसा क्या अन्तर है?'

मालवीयजीने समझाया—'वे कहते हैं—विदेशी वस्त्रोंका बहिष्कार करो। मैं कहता हूँ—स्वदेशी ही पहनो। उनके बोलनेके ढंगसे कानूनका भंग होता है। मेरे कहनेके ढंगमें कानूनका कोई विरोध नहीं है।'

वेदान्त पहले 'नेति-नेति' करके विचारके द्वारा दृश्यसे द्रष्टाको पृथक् करता है फिर कहता है—'द्रष्टा परिच्छिन्न नहीं है। वह अद्वितीय है।'

जब द्रष्टा ब्रह्म है तो ब्रह्मरूप द्रष्टासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती।

दूसरी बात यह कि जैसे सब घड़े मिट्टी ही हैं इसी प्रकार सृष्टि परमात्मासे बनी है, परमात्मामें स्थित है, परमात्मामें लीन होती है, अतः सृष्टिके रूपमें भी परमात्मा ही दिखायी दे रहा है।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।—गीता

सब परमात्मा ही है किन्तु इस बातको जाननेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। महात्मा दुर्लभ है, परमात्मा सुलभ है। परमात्मा तो यह सब है किन्तु इसे पहचाननेवाला दुर्लभ है।

जैसे मोमसे चाहे जो खिलौना बना दिया जा सकता है वैसे ही जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्मा ही है। यह बात वेदान्तसूत्रोंके भाष्यकार सभी आचार्य मानते हैं।

जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण जड़ नहीं हो सकता। चेतन किसीको बनानेवाला तो हो सकता है किन्तु बननेवाला नहीं हो सकता क्योंकि चेतनमें परिणाम नहीं होता। चेतन परिणामका साक्षी होता है। चेतनमें परिणाम हो तो वह बौद्धोंके क्षणिक विज्ञानके समान स्वरूपहीन हो जायगा। अतः चेतन परिवर्तनशील परिणामी कारण नहीं हो सकता और जड़ निमित्तकारण नहीं हो सकता। दोनों मिलकर बनाते हों तो दोनों परिच्छिन्न होंगे।

अपना आपा चेतन है, अन्य जड़ है। अनुभूतिके क्षेत्रमें अपना आपा सत्य होता है। इसका अर्थ है कि चेतन अपरिणामी होता है। इसमें जो परिणाम भासता है वह मिथ्या है। एकरस, अखण्ड सत्ताके रूपमें रहते ही आत्मदेव सृष्टिके रूपमें भास रहे हैं। जब परमात्माके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है तो एक टुकड़ा देह 'मैं' यह मिथ्या है।

● संगति

महात्मा लोग अरण्यमें रहकर तत्त्वदर्शन करते हैं। जो रणाई न हो, जहाँ राग-द्वेष न हो, युद्ध-वैमनस्य-कटुता न हो, वह अरण्य। जो रण्य अर्थात् युद्धीय न हो वह अरण्य।

जिससे द्वेष हो जाता है उसकी अच्छाई भी बुराई दिखायी पड़ती है। जिससे राग होता है उसके दोष भी गुण जान पड़ते हैं। निन्दा-स्तुति करनेवाले दोनों ही विष देनेवाले हैं। ये मनमें निन्द्य या स्तुत्यको प्रविष्ट कराते हैं केवल परमात्माकी प्रशंसा करनेवाला अमृत पिलानेवाला है। वह हमें राग-द्वेषके झगड़ेसे छुड़ाता है। जिससे श्रद्धा मिलती है वह अमृत देता है और जिससे संशय मिलता है वह विष देता है। इतनी पहचान तो सत्संगीको होनी ही चाहिए।

वस्तु निर्गुण है। उसमें गुण-दोष नहीं हैं। अनादि वासना-संस्कारसे उस असंग वस्तुमें गुण-दोष दिखायी पड़ते हैं।

असङ्गः पुरुषः प्रोक्तो बृहदारण्यकेऽपि च।
अनन्तमलसंश्लिष्टः कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 36॥

अपरयापि श्रुत्यैवमेव निर्णीतमित्याह—असङ्ग इति। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुत्या बृहदारण्यके वाजसनेयोपनिषदि पुरुषः असङ्गः प्रोक्तः। देहकस्त्वनन्तमलसंश्लिष्टः। कथं पुमान् स्यादिति प्राग्वत्॥ 36॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में भी पुरुषको असंग कहा गया है, तब तो देह अनन्त मलसे संश्लिष्ट है वह पुरुष कैसे हो सकता है॥ 36॥

असङ्गः पुरुषः—पुरुष असंग है। वह कहीं आसक्त नहीं होता।

मैंने कई सौ मीलकी पैदल यात्रा की है। कहीं-कहीं सुन्दर वन, मनोहर बगीचे, रमणीक पर्वत मिलते थे, धर्मात्मा पुरुषोंसे भेंट होती थी, कहीं क्लेश भी मिलता था; उजाड़ या कँटीली झाड़ियाँ मिलती थीं; गाली देने, तिरस्कार करनेवाले लोग मिलते थे। इस प्रकार अच्छे-बुरे लोग, अच्छे-बुरे स्थान मिलते जाते किन्तु दोनोंसे निरपेक्ष यात्रा चलती रहती। ऐसे ही आत्मा कहीं संसक्त नहीं होता कहीं किसीसे मिलता नहीं।

कितने प्रिय छूट गये, कितने शत्रु भूल गये। बचपनमें लगता था कि जिनसे मित्रता हो रही है उनसे जीवनभर साथ रहेगा। उनसे पृथक् रहनेकी कल्पना भी असह्य थी; किन्तु अब उनका स्मरण भी नहीं आता।

आत्मदेव स्वभावसे असंग हैं, जीवनमें आने-जानेवाले काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिसे ये उलझते नहीं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंसे बँधे नहीं रहते। स्वर्गारोहण-यात्रामें द्रौपदी, नकुल, सहदेव, अर्जुन, भीमसेन

क्रमशः गिरते गये, छूटते गये, किन्तु युधिष्ठिर आगे बढ़ते गये। उन्होंने मुड़कर किसीकी ओर देखा भी नहीं।

असङ्गो ह्ययं पुरुषः—निश्चय ही यह पुरुष असङ्ग है। यह श्रुति बृहदारण्यक उपनिषद्में आयी है।

'ऋ गतौ' धातुसे अरण्य शब्द बना है। इसका अर्थ है—'अर्तुं योग्यं अरण्यम्' अर्थात् शरण्य ही अरण्य है। जो स्थान संसारके तपसे सन्तप्त व्यक्तिके लिए शरण लेने योग्य है उसे अरण्य कहते हैं। अथवा अ+रण्य=रणहीन, राग-द्वेषरहित स्थान, वनका नाम अरण्य है। ऐसे अरण्योंमें ही बैठकर ऋषियोंने तत्त्वचिन्तन किया है।

उपस्थे गिरीनां सङ्गमें च नदीनां धियो विप्रो अजायत।

पर्वतोंकी हरी-हरी तलहटीमें और नदियोंके सङ्गमपर ऋषियोंने इस तत्त्वका साक्षात्कार किया है। इसीसे श्रुतिके एक भागका नाम 'आरण्यक' है। बृहदारण्यककी श्रुति है कि पुरुष असङ्ग है। वस्तुतः असङ्गता तत्त्वका स्वभाव ही है। इसमें जड़-चेतनका भेद नहीं है। मिट्टी असङ्ग है। उसमें जैसी खाद डालें वैसी हो जाती है, जला दें तो अपने रूपमें आ जाती है। जलमें नमक घोलें या चीनी, वाष्पीकरण करनेके बाद वह शुद्ध जल हो जाता है, न नमकीन रह जाता, न मीठा। वायुमें पदार्थ-संसर्गसे सुगन्ध-दुर्गन्ध आकर भी टिक नहीं पाती। वायु थोड़ी दूर जाकर गन्धहीन हो जाता है। अग्निका प्रकाश लाल शीशेमें लाल या हरे प्रकाशमें हरा दिखायी देता है; वस्तुतः वह रङ्गहीन होता है। आकाशको हम स्वच्छाकाश कहें या मेघाच्छन्न, घटाकाश कहें या मठाकाश, वह घट-मठ, धूलि-मेघसे असङ्ग—अलिप्त ही रहता है।

पैरोंमें आसक्ति नहीं होती, जिधर हम चलाते हैं उधर चलते हैं। हाथ कहीं आसक्त नहीं है, हम जो कराते हैं वही करते हैं। जिह्वासे गाली बकें या भगवन्नाम लें, वह ननु-नच नहीं करती। नेत्र वहीं फँसते हैं जहाँ हम उन्हें फँसाते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ केवल प्रकाशक हैं। विषयको दिखानामात्र उनका काम है। उनमें आसक्ति नहीं होती। ऐसे ही ज्ञानमें कहीं सङ्ग, आसक्ति नहीं होती।

सच पूछिये तो मनमें भी आसक्ति नहीं होती। व्यर्थ ही लगता है कि मन अमुक वस्तु या व्यक्तिमें आसक्त हो गया है। निद्रामें कोई आसक्ति नहीं टिकी

रहती। बुद्धिने सदा किसीका पक्ष नहीं लिया। असङ्गता वस्तुमें सहज है। तुम तो स्वभावसे असङ्ग हो।

यदि कोई समझे कि आकाश पोटलीमें बन्द है तो यह उसका भ्रम है, आकाश पोटलीमें बन्द नहीं होता, वैसे ही इस देहमें चेतन आत्माको बन्द समझना भ्रम ही है।

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

जड़ चेतनकी गाँठ सम्भव नहीं है क्योंकि जड़ नामकी वस्तु है ही नहीं। ऐसे ही बन्धन या पाश नामकी कोई वस्तु नहीं है। घृणा, शङ्का, लज्जा, भय आदि सब मिथ्या वस्तुएँ हैं। आत्माके वास्तविक स्वरूपमें ये सर्वथा नहीं हैं।

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।

'मुझमें न वर्ण हैं, न वर्णाश्रमाचारादि धर्म हैं, न धारणा, ध्यानादि योगके साधन।' इस स्थितिके सम्बन्धमें एक शैव कहता है—'हमारी पूर्णाहंतामयी शिवता प्रकट हो गयी। हमारी अहंता देहमें सीमित नहीं है। विश्वात्माहम्, शिवोऽहम्, तुरीयोऽहम्, ब्रह्मैवाहम्।' अहंकी क्षुद्रता ही दुःख दे रही है अतः अपनी अहंताको पूर्ण होने देना चाहिए।

असङ्गोऽहं अभङ्गोऽहं अनङ्गोऽहमसंश्रयः।

देह तो अनन्त मलसे संश्लिष्ट है। देहके सभी तत्त्व मल-निर्मित हैं, मल ही हैं। हम देह कैसे हो सकते हैं! हम तो सत्ताकी दृष्टिसे स्वयम्भू हैं, चेतनकी दृष्टिसे स्वयंज्योति हैं, आनन्दकी दृष्टिमें आत्मरति, पूर्णकाम हैं।

● संगति

पुरुषकी असङ्गता बतलाकर श्रुतिने उसे देहसे पृथक् बतलाया हो, इतना ही नहीं, वह पुरुषको स्वयंप्रकाश भी कहती है और शरीर तो प्रत्यक्ष ही परप्रकाश्य है, जड़ है, अतः शरीर आत्मा नहीं हो सकता यह बतलाते हैं।

तत्रैव च समाख्यातः स्वयंज्योतिर्हि पूरुषः।
जडः परप्रकाश्योऽसौ कथं स्याद्देहकः पुमान्॥ 37॥

तत्रैवान्यप्रकारेणापि देहात्मनोर्वैलक्षण्यं निरूपितमित्याह—तत्रैवेति। तत्रैव बृहदारण्यक एवेत्यर्थः। अत्रायं पुरुषः स्वयं-ज्योतिर्भवतीति श्रुत्या स्वयंज्योतिः पुरुषः समाख्यातः। हीति विद्वत्प्रसिद्धिं द्योतयति। असौ घटादिवद् दृश्योऽत एव परप्रकाश्यस्तत एव जडो देहकः कथं पुमान् स्यादिति व्याख्यातम्॥ 37॥

वहीं बृहदारण्यककी श्रुतिमें ही पुरुषको स्वयंज्योति कहा गया है। यह देह तो जड़ और परप्रकाश्य है अतः यह पुरुष कैसे हो सकता है॥ 37॥

पूरुषो ज्योतिर्मयः—आत्मा ज्योतिर्मय, स्वयंज्योति है, यह बात बृहदारण्यककी उसी श्रुतिमें कही गयी है।

दीपककी लौ प्रकाश है किन्तु उसके लिए आधार-रूपमें दीपक, रुईकी बत्ती और तेल आवश्यक है। सब उपकरण जुट जानेपर भी उसे जलना पड़ता है तब प्रकाश होता है, अतः दीपककी लौ स्वयंज्योति नहीं है, वह परप्रकाश है। हमारे नेत्र न हों तो दीपककी लौ नहीं दिखायी देगी। अन्धेको दीपक नहीं दिखायी पड़ता। नेत्र न हों तो सूर्य-चन्द्र, तारे-विद्युत्, किसीका प्रकाश काम नहीं देगा। अतः स्पष्ट है कि सूर्य-चन्द्र, तारे-विद्युत् भी स्वयं प्रकाश नहीं हैं।

मन न हो तो नेत्र भी देख नहीं पाते। बुद्धिका योग न हो तो मन भी नहीं देख सकता। अतः इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भी स्वयं-प्रकाश नहीं हैं। सुषुप्तिमें बुद्धि भी कुछ नहीं देखती।

सुषुप्तिमें जब सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब सो जाते हैं उस घोर आध्यात्मिक अन्धकारको जो प्रकाशित करनेवाली ज्योति है वही स्वयंज्योति है। वह ज्योति है 'मैं'। यह स्वयंज्योति घट-मठादि विषयोंको प्रकाशित ही करता है, प्रकाश्यगत गुण-दोष उसमें नहीं रहते।

यह देह तो जड़ है, परप्रकाश्य है, अतः तुम देह कैसे हो सकते हो! यह तो तुम्हारे प्रकाशमें दिखायी देनेवाला जादूका खेल मात्र है।



कर्मकी दृष्टिसे देह और आत्माका पृथक्त्व

● **संगति**

योगशास्त्र, श्रुति और अनुभवकी बात छोड़कर कर्मशास्त्रकी ही बात लें तो कर्मशास्त्र तो जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान सभी मानते हैं। कर्मका फल भोगनेके लिए मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है, यह बात सभी आस्तिकोंको स्वीकृत है। ●

प्रोक्तोऽपि कर्मकाण्डेन ह्यात्मा देहाद्विलक्षणः।
नित्यश्च तत्फलं भुङ्क्ते देहपातादनन्तरम्॥ 38॥

अथास्तामिदं ज्ञानकाण्डं कर्मकाण्डेपि देहात्मनोर्भेद एव निर्णीत इत्याह— प्रोक्त इति। हि यस्मात्कर्मकाण्डेनापि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिरूपेण कर्मप्रतिपादकेन वेद-भागेनेत्यर्थः। आत्मा देहाद्विलक्षणः प्रोक्तः। कथमित्यत आह—नित्य इति। नित्यत्वं च कुत इत्यत आह—तदिति। देहपातादनन्तरं तत्फलमनित्यं कर्मफलं यत आत्मा भुङ्क्तेऽतो नित्य इत्यर्थः। चकारात् न्याय-सांख्यादावप्येमेव देहात्मनोर्भेदो वर्णित इति दर्शितम्॥ 38॥

कर्मकाण्डमें भी कहा गया है कि आत्मा देहसे विलक्षण है और मरनेके बाद निश्चय ही अपने कर्मोंका फल भोगता है॥ 38॥

प्रोक्तोऽपि कर्मकाण्डेन—कर्मकाण्डमें भी माना जाता है कि देह छोड़नेके पश्चात् देहीको अपने पाप-पुण्यरूप कर्मोंका दुःख-सुखरूप फल भोगनेके लिए देहसे निकलकर रहना पड़ता है और वह देही नित्य है।

बुद्धके अनेक जन्मोंका वर्णन जातक कथाओंमें है। ईसाई-मुसलमान भी मानते हैं कि रूह कयामत तक रहती है और कयामतके समय रूहके कर्मोंका फैसला होता है। इन मतोंके द्वारा भी जीवको शरीरसे पृथक् और नित्य माना जाता है।



लिङ्गदेहकी अनात्मता

● **संगति**

अब यह प्रश्न उठता है कि कर्मकाण्डमें जिस स्थूल देहको मृत्युके पश्चात् लोक-लोकान्तरमें जानेवाला तथा कर्मफलका भोक्ता माना जाता है, क्या वही आत्मा मान्य है?

इसके समाधानमें लिङ्गशरीरकी अनात्मता बतलाकर यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा उससे विलक्षण है। ●

लिङ्गं चानेकसंयुक्तं चलं दृश्यं विकारि च।
अव्यापकसद्रूपं तत्कथं स्यात् पुमानयम्॥ 39॥

नन्वेवं सति वेदान्तिनामपसिद्धान्तः स्यादित्यत आह—लिङ्गमिति। लिङ्गं लिङ्गशरीरं तत्परीक्षादिधर्मविशिष्टम् अयं नित्यापरोक्षस्वभावः पुमान् कथं स्यान्न कथञ्चिदित्यर्थः। चकारात् कारणशरीरमपि निराकृतम्। अनयोरपि भेदे लिङ्गदेहस्य वैलक्षण्यसूचकानि विशेषणान्याह—अनेकेति। अनेकसंयुक्तं देवमनुष्यादिनाना-स्थूलशरीरसम्बन्धयुक्तम्। यद्वा श्रोत्रादिबुद्ध्यन्तसप्तदशकला-संयुक्तं तथा चलं चञ्चलं मनः प्रधानत्वादित्यर्थः। पुनर्दृश्यं 'ममेदं श्रोत्रं, ममेदं मन' इत्यादिममतास्पद-त्वेनात्मन उपसर्जनभूतं च पुनर्विकारि उपचयादिमत्। अव्यापकं परिच्छिन्नमसद्रूपमात्म-ज्ञानैकबोध्यं च। अत्रेदमाकूतम्—यद्यपि लिङ्गशरीराध्यासे नात्मनः कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिभावस्तथाप्यात्मनः स्वतस्तदभावाज्ज्ञानऽध्यासनिवृत्तावकर्तृत्वाभोक्तृ-त्वादिभावसिद्धिरिति वेदान्तिनां न किञ्चिदपसिद्धान्तोऽन्यवदिति मङ्गलम्॥ 39॥

लिङ्गशरीरमें भी अनेक तत्त्व सम्मिलित हैं। वह चल है, दृश्य है, विकारी है, अव्यापक है, अतः असद्रूप है। वह यह पुरुष आत्मा कैसे हो सकता है॥ 39॥

लिङ्गं च—इस स्थूल शरीरमें जो लिङ्ग शरीर है उसमें पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व हैं। इस प्रकार अनेक तत्त्वोंका बना होनेसे वह किसी एकके लिए बना है।

लिङ्गदेह दृश्य है, एक स्थूल देहसे दूसरे स्थूल देहमें जानेवाला है अतः चल है, परिवर्तनशील है। वह व्यापक नहीं है क्योंकि प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है। तब आत्मा भला लिङ्गशरीर कैसे हो सकता है!



प्रकरणका उपसंहार

● **संगति**

अब बतला रहे हैं कि आत्मा न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर। वह इन दोनोंसे विलक्षण है। ●

एवं देहद्वयादन्य आत्मा पुरुष ईश्वरः।
सर्वात्मा सर्वरूपश्च सर्वातीतोऽहमव्ययः ॥ 40 ॥

इदानीं पूर्वोक्तमर्थमुपसंहरति—एवमिति। एवं पूर्वोक्त-प्रकारेण देहद्वयात् स्थूलसूक्ष्मलक्षणादन्यो भिन्न आत्मा। कोऽसावित्यत आह—पुरुष इति। पुरि शेते इति पुरुषः शरीराधिष्ठाता तर्हि किं जीवः नेत्याह—ईश्वर इति। तत्र हेतुः-सर्वात्मेति। तर्ह्यद्वैतहानिः स्यादित्यत आह—सर्वरूप इति। एवं सति विकारित्वं स्यादित्यत आह—सर्वातीत इति। एतादृश आत्मा चेदस्ति तर्हि कुतो नोपलभ्यत इत्यत आह—अहमिति। अहं प्रत्यक्षोऽहंशब्दप्रत्ययालम्बनत्वेन सर्वदोपलब्धिस्वरूप इत्यर्थः। तर्ह्यहङ्कारः स्यान्नेत्याह—अव्यय इति। अव्ययः अपक्षयादिविकारशून्यः। अहङ्कारसाक्षीति भावः ॥ 40 ॥

इस प्रकार आत्मा दोनों देहोंसे विलक्षण है। यह पुरुष ही ईश्वर है। 'मैं' सर्वात्मा, सर्वरूप, सर्वातीत, अव्यय हूँ॥ 40 ॥

इस प्रकार मैं स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंसे पृथक् हूँ। मैं आत्मा हूँ, स्वयंज्योति हूँ, पुरुष हूँ, परिपूर्ण हूँ, ईश्वर हूँ, सर्वात्मा हूँ, सर्वरूप और सर्वातीत हूँ तथा अव्यय हूँ।



देह और आत्माके विभागमें पूर्वपक्ष

● **संगति**

अनेक लोगोंको देहके पिछलगुये दुःख देते हैं तो कुछको देह ही दुःख देता है अतः देह तथा देहके सम्बन्धियोंको 'मैं-मेरा' नहीं समझना चाहिए।

जैसे कमरेमें बन्द होकर कोई दुःखसे नहीं बच सकता वैसे ही नेत्र बन्द करके 'मैं देहसे पृथक् हूँ', यह चिन्तन करनेमात्रसे दुःखसे नहीं बचा जा सकता। 'मैं देह हूँ' 'मेरा देह है' यह चिन्तन जब छूटेगा तभी दुःख छूटेगा। अतः विवेककी एक और प्रणाली प्रारम्भ कर रहे हैं।

जड़ताके साथ जो झूठे सम्बन्ध हैं उनसे छूटनेकी इच्छा हो और परमानन्दमय जीवन प्राप्त करनेकी आकांक्षा हो तभी मनुष्य इस पथमें प्रगति करता है अन्यथा थोड़ेमें सन्तुष्ट रहनेवाले या शौकिया परमार्थ-चर्चा करनेवालोंको परमार्थकी प्राप्ति नहीं हुआ करती।

यह जो अपनेको देहसे पृथक् अनुभव करनेपर शान्ति मिलती है यही परमस्थिति नहीं है। इससे आगे भी एक तथ्य है। वही नित्य-स्थिति है, वही संतोंका धन है और वही आत्यन्तिक सुख है।

यहाँ इस शरीरसे पृथक् करनेकी बातपर कटाक्ष किया गया है क्योंकि देहसे आत्मा पृथक् है ऐसा सिद्ध करनेमें अर्थात् देहसे अपनेको न्यारा देखनेमें यह सिद्ध होता है कि देह भी सत्य है और उससे न्यारे हम भी सत्य हैं। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे किसीके पास एक गरम, भीड़-भरा कमरा हो और एक शीतल, एकान्त कमरा भी हो। गरम कमरेको छोड़ा और शीतल कमरेमें चले गये। ऐसा करने पर वह परमार्थ हमें कहाँ मिला जिसे पाकर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

मेरे गाँवके कहार कलकत्तेमें नौकर थे। वे जब कलकत्तेसे घर आते तो कपड़ोंके बहुतसे छोटे-छोटे टुकड़े साथ लाते थे और उन्हें सीकर गुदड़ी या रजाई बना लेते थे। वे बतलाते थे कि हमारे सेठके यहाँ दूकानदारोंके नमूने आते हैं उन्हें हम लोग रख लेते हैं ये कपड़ोंके नमूने हैं, पूरे कपड़े नहीं।

इसी प्रकार समाधि या ध्यानमें जो शान्ति मिलती है वही ब्रह्म नहीं है, वह तो ब्रह्मके अनन्त सुखका एक छोटा-सा नमूना है। इस नमूनेको ही सब कुछ मान लेनेपर तो हम पृथक् और संसार पृथक्, यह द्वैत ही सत्य हो जायगा। ●

इत्यात्मदेहभागेन प्रपञ्चस्यैव सत्यता।
यथोक्ता तर्कशास्त्रेण ततः किंपुरुषार्थता॥ 41॥

अथेदानीमात्मनो देहद्वयातिरिक्तत्वप्रतिपादनमनर्थकमिति शङ्कते—इतीति। इति पूर्वोक्तप्रकारेण वर्णितेनात्मदेहविभागेन प्रपञ्चस्यैव सत्यता यथोक्ता यथा तर्कशास्त्रेण ततः प्रपञ्चसत्यत्वप्रतिपादनात्किंपुरुषार्थता कुत्सितपुरुषार्थत्वम्, भयनिवृत्त्यभावादित्यर्थः। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतेः॥ 41॥

इस प्रकार (अबतकके) देहसे आत्माका पृथक् विभाग करनेसे प्रपञ्चकी ही सत्यता सिद्ध हुई, जैसा कि न्यायदर्शन मानता है। अतः इसमें पुरुषार्थता क्या हुई! अथवा यह तो कुत्सित पुरुषार्थ हुआ॥ 41॥

यह जो आत्मा और देहको पृथक्-पृथक् करके माना इससे तो प्रपञ्च ही सत्य सिद्ध हुआ। द्वैत होगा तभी तो दोनों होंगे। देह और आत्माके इस पृथक्करणसे तो द्वैत ही सिद्ध हुआ। अभी परमार्थ कहाँ मिला, पुरुषार्थ कहाँ सिद्ध हुआ! यह द्वैत तो न्यायशास्त्रने पहलेसे मान रखा है। हमने भी वही माना तो विशेषता क्या हुई?

●

समाधान-पक्ष

● संगति

अबतक यह बताया गया कि शरीर आत्मा नहीं है, अब यह देखना है कि आत्मा सत्य है और शरीर नामक वस्तु असत् है।

नवीन प्रसङ्ग प्रारम्भ करनेके लिए यहाँ यह भूमिका बनायी गयी है। अबतक समझाया गया है कि स्थूल देह और सूक्ष्म देह दोनों ही आत्मा नहीं हैं, आत्मा इन दोनों देहोंसे पृथक् है। आत्मा देहातीत, कालातीत, देशातीत और उपाधिसे असंसृष्ट है। अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म किसी देहकी किसी स्थिति एवं धर्मसे आत्मा प्रभावित नहीं होता। आत्माका यही ऐश्वर्य है कि वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके प्रभावमें नहीं आता।

यहाँ तकका यह विवेक पूर्ण नहीं है क्योंकि इससे भेदकी ही स्थापना हुई है—जो हमसे पृथक् है वह सत्य, और हम एक सत्य। अब प्रश्न उठता है कि सत्य दो है या एक?

भेद तो सर्वशास्त्रोंसे सिद्ध है किन्तु अनुभव कहता है कि जो वस्तु तर्कसे सिद्ध होती है उसके लिए शास्त्रज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं है। जब हमको मार्गका ज्ञान है तो हम मार्गका मानचित्र क्यों देखें। इन्द्रियों और यन्त्रोंसे भी भेद सिद्ध होता है, युक्तियों और बुद्धिके द्वारा भी भेद सिद्ध होता है। यदि यही बात शास्त्र भी कहता है तब तो शास्त्र अनुवादमात्र है।

अग्निर्हिमस्य भेषजम्—अग्नि शीतलताकी दवा है, यह बात शास्त्र पढ़कर क्यों जानी जाय, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। शास्त्रका शास्त्रत्व तो अतीन्द्रिय, मन-बुद्धिसे अगोचर तत्त्वके प्रतिपादनमें है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं वदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा भी जो उपाय न जाना जा सके उसे वेदके द्वारा जाना जाता है, यही वेदका वेदत्व है।

अबतक भेद ही बतलाया गया जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि शास्त्र भी वही भेद बतलावे तो शास्त्रका क्या प्रयोजन! इस आक्षेपके उत्तरमें अब देहके असत् होनेका प्रतिपादन करते हैं। ●

इत्यात्मदेहभेदेन देहात्मत्वं निवारितम्।
इदानीं देहभेदस्य ह्यसत्त्वं स्फुटमुच्यते॥ 42॥

भेदज्ञानस्याभेदज्ञानं प्रति कारणत्वादात्मदेहविभागकथनं नानर्थकमित्याह—इतीति। इति पूर्वोक्तेनात्मदेहभेदेनात्मनो देहात्पृथक्करणेन देहस्यैव प्राप्तं चार्वाकमतेनात्मत्व तन्निवारितम्। इदानीमुत्तरग्रन्थेन तस्य देहभेदस्यासत्त्वमात्मसत्तातिरिक्तसत्ताराहित्यं स्फुटं स्पष्ट यथा स्यात्तथा हीति प्रसिद्धमुच्यते॥ 42॥

(अबतक) आत्मा देहसे विलक्षण है, इस भेदके वर्णन द्वारा 'देह ही आत्मा है' इस भ्रमको दूर किया गया। अब देह आत्मासे भिन्न असत् है इसे स्पष्ट कहा जा रहा है॥ 42॥

इत्यात्मदेहभेदेन—आत्मा और देहके भेदका वर्णन करके अबतक साधकके विवेकको जगाया गया। देहात्मभावका निवारण किया गया कि आत्मा देह नहीं है, एक शरीरमें फँसे 'मैं'को शरीरसे अलग किया गया। अब 'शरीरसे मैं पृथक् और मुझसे शरीर पृथक्' इसकी असत्यता बतलायी जा रही है।

घड़ेसे मिट्टी पृथक् है यह बात तो ठीक है किन्तु मिट्टीसे पृथक् घड़ा नामकी कोई वस्तु सम्भव नहीं है। इसी प्रकार आत्मा देहसे पृथक् है, यह बात तो ठीक है, किन्तु देह आत्मासे पृथक् है, यह बात ठीक नहीं है। इसलिए देहभेदकी असत्ता बतलाते हैं।

स्वप्नमें हाथी, गधे, घोड़े आदिका भेद जो दिखायी देता है वहाँ स्थान भी अत्यल्प है, काल भी थोड़ा है। यद्यपि अपने अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु वहाँ है नहीं किन्तु दिखायी पड़ता है पूरा विश्व। वहाँ ज्ञान और संस्कारके मेलसे वे वस्तुएँ दिखायी देती हैं। जाग्रत्में जड़सत्ताके साथ मिले संस्कारके द्वारा अनेकता भासती हैं।

मिट्‌टी एक है पर संस्कार भेदसे आम, अंगूर, सेव आदि प्रतीत होती है। जल एक है पर संस्कार भेदसे नमकीन, मीठा, खट्‌टा, कड़वा, चरपरा, कसैला लगता है। संस्कारको छोड़ दें तो स्वप्नके सब दृश्य ज्ञानरूप हैं और जाग्रत्के सब दृश्य सत्स्वरूप हैं। विचार करके देखें तो अपना आत्मा ही सत्स्वरूप और चित्स्वरूप है।



देहभेदका असत्त्व-निरूपण

● **संगति**

देह और आत्माका जो भेद बतलाया गया इससे द्वैत तो तब सिद्ध होगा जब देह और आत्मा दोनों सत्य हों। इनमें आत्मा ही सत्य है। देह तो असत् है, अतः द्वैतकी शङ्का ही नहीं है। यह समझानेके लिए देहकी असत्ता बतला रहे हैं। ●

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद् भेदो युक्तो न कर्हिचित्।
जीवत्वं च मृषा ज्ञेयं रज्जौ सर्पग्रहो यथा॥ 43॥

तदेवाह—चैतन्यस्येति। चैतन्यस्य सर्वभूतभौतिकप्रपञ्चाधिष्ठानप्रकाशस्य। 'घटः प्रकाशते, पटः प्रकाशते' इत्यादिष्वेकरूपत्वादेकाकारत्वद्धेतोः कर्हिचित् कस्याञ्चिदवस्थायामपि भेदो न युक्तो न यथार्थ इत्यर्थः। तर्हि जीवभेदः सत्यः स्यादित्यत आह—जीवत्वमिति। जीवत्वम्, चकारोऽप्यर्थः। मृषा मिथ्या ज्ञेयम्। तदुपाधेरेवान्तःकरणादेर्मायामयत्वादित्यर्थः। अधिष्ठानसत्यत्वेन कल्पितस्य मिथ्यात्वबोधे दृष्टान्तमाह—रज्जाविति। यथा रज्जौ तदज्ञानात् वक्रतादिसादृश्येन मन्दान्धकारे सर्पग्रहः सर्पबुद्धिरव्युत्पन्नस्य भवति नतु व्युत्पन्नस्य, तथैवात्मन्यात्माज्ञानात् प्रकाशसादृश्यादविशेषप्रकाशे चिज्जडग्रन्थिरूपचिदाभा[illegible]भ्रमो भवत्यविवेकिनां नतुविवेकिनामिति वेदान्तसिद्धान्तरहस्यम्॥ 43॥

चैतन्यके एकरूप होनेके कारण उसमें किसी प्रकार भेद उपयुक्त नहीं है। उसमें जीवत्वको वैसे ही झूठा जानना चाहिए जैसे रस्सीको सर्पके रूपमें ग्रहण करना मिथ्या है॥ 43॥

चैतन्यस्यैकरूपत्वात्—चैतन्य एकरूप है। इसमें किसी भी दृष्टिसे भेदकी सिद्धि नहीं होती। अत: अंगूर, आम, अनार आदिके बीज पृथक्-पृथक् भले ही प्रतीत हों, पञ्चभूतकी दृष्टिसे, सत्ताकी दृष्टिसे वे सत्, एक ही हैं। इसी प्रकार जीवभेद प्रतीत होनेपर भी चेतन एक ही है।

जड़की दृष्टिसे संस्कारयुक्त सत्ताको बीज कहते हैं। चेतनकी दृष्टिसे इसी संस्कारयुक्त 'चित्' को जीव कहते हैं। दोनोंमें अधिक अन्तर नहीं है। एक अंगूर या आमको कुछ समय पड़ा रहने दें तो उसमें कीड़े,जीव दिखायी पड़ने लग जायँगे।

जैसे ठीक शुद्ध सत्ताका ग्रहण न होनेसे हम बीजोंको पृथक्-पृथक् ग्रहण करते हैं वैसे ही ठीक चैतन्यका बोध न होनेसे हम अपनेमें और दूसरोंमें जीवकी कल्पना कर लेते हैं। जीव नामकी कोई धातु नहीं है। एक अखण्ड चिद् धातु है।

प्रश्न यह है कि चैतन्य जीव कैसे हो जाता है? स्वप्नमें भी बहुतसे जीव होते हैं किन्तु उस जीवोंमें जीव-ग्रन्थि नहीं है। वहाँ सब द्रष्टाका ही चमत्कार है। जीव-ग्रन्थि स्थूलदेह और सूक्ष्मदेहमें अहं बुद्धिके कारण बनी है। इसी बातको आगे समझाते हैं।

रज्जो सर्पग्रहो यथा—रस्सीको न जानना अज्ञान है और रस्सीको सर्प जानना भ्रम है। रस्सीको न जाननेवाला उसे माला डण्डा, हार, दरार आदि कुछ भी समझ सकता है। इसका नाम भ्रम है। ये भ्रम रस्सीको न पहचाननेसे हुए। इसी प्रकार अपने आत्माको देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित ब्रह्म न समझनेके कारण 'मैं जीव, मैं मनुष्य, मैं ब्राह्मण, मैं पापी या पुण्यात्मा, मैं सुखी या दु:खी' समझ लेना भ्रम है।



चितिकी विश्वाकारता

● संगति

एक अखण्ड ही जब चेतन है तो उसमें यह संसारकी प्रतीति कैसे आगयी, इस शङ्काका समाधान करते हैं। ●

रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी।
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला॥ 44॥

इदानीं पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तं विवृण्वन् सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपतामाह— रज्ज्वेति। केवलेतिविशेषणेन पूर्वास्थामपरित्यज्यावस्थान्तरप्राप्तिलक्षण-विवर्तोपादानत्वमेवोक्तम्, नारम्भोपादानत्वं नापि परिणामोपादानत्वमिति बोध्यम्। अन्यत् स्पष्टम्॥ 44॥

जैसे रस्सीके अज्ञानके क्षणमें ही रस्सी सर्पिणी प्रतीत होने लगती है वैसे ही केवला चिति ही अज्ञानसे विश्वके रूपमें भास रही है॥ 44॥

रज्ज्वज्ञानात्—रस्सीको न जाननेके क्षणसे ही वह रस्सी सर्पके रूपमें भासने लगती है।

एक मनुष्यको एक सर्प दिखायी दे रहा था। उसने सोचा—'इस सर्पकी आयु कितनी होगी? पचास वर्ष भी हो सकती है। यह किस जातिका है? कोबरा जान पड़ता है। कितना लम्बा है? यह लगभग पाँच फुट होगा।' किन्तु वह सर्प तो था ही नहीं। वहाँ तो रस्सी पड़ी थी।

इसी प्रकार अनन्त चैतन्यके अज्ञानसे क्षणभरमें ही यह विश्व प्रतीत होने लगता है। जैसे प्रतीयमान सर्पकी आयु 50 वर्ष लगती है वैसे ही सृष्टि अनादि प्रतीत होती है। जैसे उस सर्पकी प्रवाहरूपसे अनादि परम्परा या जाति प्रतीत होती है। वैसे ही प्रपञ्च प्रवाह-रूपसे नित्य प्रतीत होता है। प्रपञ्चकी न जाति है, न सत्ता। यह जिसमें प्रतीत हो रहा है वह ब्रह्म है और जिसे प्रतीत हो रहा है वह आत्मा है। यह जिसमें प्रतीत हो रहा है वह ब्रह्म और जिसे प्रतीत हो रहा है वह आत्मा। ये दोनों एक ही हैं। अतः जो प्रतीत हो रहा है वह भ्रमके अतिरिक्त कुछ नहीं है। चैतन्यस्वरूपके अज्ञानसे वह चैतन्य ही विश्वमें भास रहा है।



ब्रह्मकी उपादानता

● **संगति**

एक बार शैव-वैष्णवोंमें झगड़ा हो गया। एक व्यक्तिने महात्माके समीप जाकर पूछा—'आप किस पक्षमें हैं ?'

महात्मा बोले—'हम तो मनुष्यके पक्षमें हैं। हमें दोनों पक्षोंमें मनुष्य ही दिखायी पड़ता है।'

जो लोग परचर्चामें लगे रहते हैं उन्हें सबके शरीरोंमें न पञ्चभूत सूक्षता है, न ईश्वर। इन खण्ड-खण्ड तुच्छ वस्तुओंसे दृष्टि हटती है तब महान् तत्त्व दिखायी देता है। देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न बहुत छोटी-छोटी वस्तुओंसे दृष्टि हटा लें तो प्रपञ्चका उपादान समझमें आ जायगा। ●

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत्॥ 45॥

अत्र हेतुं दर्शयन् पूर्वोक्तमुपसंहरति—उपादानमिति। यस्मात्प्रपञ्चस्याकाशादिदेहान्तस्य जगद्विस्तारस्य ब्रह्मणो मायाशबलाच्चैतन्यादन्यत्परमाणवो यद्वा प्रकृतिरुपादान कारणविशेषो न विद्यते, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिश्रुतेः। तस्माद्धेतोरिति। स्पष्टमन्यत्॥ 45॥

ब्रह्मसे भिन्न और कुछ प्रपञ्चका उपादान विद्यमान नहीं है। अतः समस्त प्रपञ्च ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं॥ 45॥

उपादानं प्रपञ्चस्य—आदानका अर्थ है पकड़ना। उपादानका अर्थ है पाससे लेना। कुम्हारने घड़ा बनानेके लिए जितनी मिट्टी काममें ली, जितनी मिट्टीसे घड़ा बना, उतनी मिट्टी उस घड़ेका उपादान है।

उपादान कार्यमें ही अनुगत रहता है, जैसे घटरूप कार्यसे मिट्टीरूप उपादान पृथक् नहीं है, कपड़ेसे सूत भिन्न नहीं है।

प्रपञ्च जो दिखायी दे रहा है वह न परमात्मामें है, न हुआ। केवल प्रतीत हो रहा है।

एक बार जादूके खेलमें देखा कि एक स्त्रीने किसीसे कहा—'मेरा पति रूठ गया है। उसे समझा दीजिये।'

जब वह पुरुष उसके पतिको समझाने गया तो पति मर गया। अब स्त्री कहने लगी—'तुमने कुछ टोना-टोटका करके मेरे पतिको मार डाला है।'

मन्त्र पढ़कर फिर उसने अपने पतिको जीवित कर लिया। यह सब दृश्य वास्तविक नहीं था, जादूके बलसे प्रतीत हो रहा था।

ऐसे ही यह सृष्टि जादूसे, मायासे प्रतीत हो रही है। यह सृष्टि ऐसी है कि नरकमें भी सुख है और स्वर्गमें भी अनेक दुःख हैं। रागी भी अपने प्रेमास्पदके दुःखसे दुःखी होता है और द्वेषी भी शत्रुके दुःखसे सुखी होता है। यहाँ कुछ स्थिर नहीं है। धनी कङ्गाल होता रहता है और कङ्गाल धनी। तुम स्वतन्त्र हो, अतः यहाँ जो होता है उसे होने दो। तुम सबके उपादान हो, निर्बन्ध हो।

ईश्वर वह नहीं है जो जीवको सदा जीव बनाये रखे। गुरु वह नहीं है जो शिष्यको सदा शिष्यत्वके स्तरपर ही रखे। ईश्वर वह है जो जीवको ईश्वर बना दे। गुरु वह है जो शिष्यको गुरु बना दे।

कार्य-कारण, बड़ा-छोटा, अनन्त-सान्त आदि भेद जहाँ समाप्त हो जाते हैं वह अपना स्वरूप है। यह प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इसमें किसी प्रकारकी भ्रान्ति, स्थिति, गति, आवागमन, सुख-दुःख, जीना-मरना आदि कुछ नहीं है। यह एकरस तत्व है।

उपादानं प्रपञ्चस्य—जिससे जो वस्तु बनती है वह उससे पृथक् नहीं होती। अतः जिस मूलतत्त्वसे यह सृष्टि बनी है उससे यह पृथक् नहीं है।

कोई सोनेकी सिल्लीको ही सोना कहे और हार, कंकण आदिको सोना न समझे तो वह मूर्ख है। यद्यपि यह आश्चर्यकी बात है कि मच्छर और देवता दोनों एक ही चैतन्यसे बने हैं। मच्छर ही चैतन्य नहीं है किन्तु मच्छर चैतन्यसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार देवता ही चैतन्य नहीं हैं किन्तु देवता चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं।

सृष्टिके मूलमें चैतन्य है या जड़, इसको सूक्ष्मवीक्षण, दूरवीक्षण अथवा इन्द्रियोंके द्वारा ढूँढ़ने चलें तो सृष्टिके मूलमें जड़ मिलेगा। यदि विचारपूर्वक

अपनेमें ढूँढ़ें कि नेत्र संसारको देखते हैं और नेत्रोंका द्रष्टा मैं हूँ तो सृष्टिके मूलमें चेतन मिल जायगा।

घड़ा ही मिट्टी नहीं है। मिट्टी तो एक धातु है, जिसमें घड़ेके पेट, मुख आदि सब कल्पित हैं। जगत्के मूलतत्त्वमें-मिट्टीमें घड़ेके नाम-रूपके समान समस्त जगत्के नाना भेद कल्पित हैं। उस मूलतत्त्वका विचार करना चाहिए। उसे जानकर सब दु:ख सदाके लिए निवृत्त हो जाते हैं।

उस मूलतत्त्व अर्थात् जीव-ईश्वरके सम्बन्धमें विचार करना हो तो यह देखना चाहिए कि अन्त:करणकी उपाधिको लेकर यह विचार करना योग्य है अथवा अन्त:करणकी उपाधिको छोड़कर।

अन्त:करणकी उपाधिसे जो ईश्वर दिखायी पड़ता है वह वास्तविक ईश्वर नहीं है। वह संसारयुक्त ज्ञानसे कल्पित अथवा भावित है। अन्त:करणकी उपाधिको छोड़कर जब अपने चैतन्य-स्वरूपको देखते हैं तब देश-काल-वस्तुका वह साक्षी होता है। यह साक्षी चेतन कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको अपने भीतर रखता है। वेदान्त इसी साक्षी चेतन ब्रह्मको अपनी आत्माका स्वरूप बतलाता है।

दृष्टि दृश्यसे अनुगत रहती है। दृश्य दृष्टिसे भिन्न नहीं होता और दृष्टि द्रष्टासे भिन्न नहीं होती।

नैयायिक आरम्भवादी हैं अत: वे मानते हैं कि सृष्टि ईश्वरने बनायी है। उपासक कहते हैं कि ईश्वर स्वयं सृष्टि बन गया है।

वेदान्त कहता है कि बनाना जड़से होता है और रूपान्तरित होना दृश्यका स्वभाव है। चेतनका स्वभाव द्रष्टा रहना है। उसमें परिणाम नहीं होता। मैं बदल जाऊँ तो मेरा बदलना कौन जानेगा? जो बदलना जानेगा वही तो मैं हूँ।

जैसे कार्यसे कारण न्यारा होता है किन्तु कारणसे कार्य न्यारा नहीं होता वैसे ही दृश्यसे द्रष्टा तो न्यारा होता है पर द्रष्टासे दृश्य न्यारा नहीं होता।

माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायके राधारमणीय गोस्वामी श्री दामोदर लालजी वाराणसीमें रहते थे और वहाँके प्रतिष्ठित विद्वान् थे। एक बार वे गोरखपुर आये तो मैंने पूछा—'भगवान् श्रीकृष्णके नेत्र एवं पद-नखमें क्या अन्तर है?'

गोस्वामीजी—'कोई अन्तर नहीं है।'

मैं—'क्या उनके नेत्र ही देखते हैं, चरणोंके नख नहीं देख सकते?'

गोस्वामीजी—'ऐसा नहीं है। वे चिन्मयवपु हैं। उनके चरण-नख भी नेत्रोंके समान ही देख सकते हैं।'

मैं—'चेतन होते हुए भी क्या उनका आकार बनने और बिगड़नेवाला है?'

गोस्वामीजी—'नहीं। उनका आकार नित्य एकरस है।'

मैं—'तब इस आकारमें नेत्र-नखादिका भेद वास्तविक है या प्रातीतिक?'

गोस्वामीजी—'यह भेद प्रातीतिक है।'

अयोध्याके एक बड़े महात्मासे मैंने एक बार पूछा—'जब आप जगत्‌का उपादान कारण चेतन मानते हैं तो चेतन परिवर्तित होकर जगत् बनता है या बिना परिवर्तित हुए ही जगत् बन जाता है? यदि चेतन परिवर्तित होकर जगत् बना है तो वह दृश्य होगा और उसका साक्षी चेतन उससे न्यारा होगा।'

महात्मा—'चेतन साक्षी, द्रष्टा एवं ज्ञानस्वरूप होता है; उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता।'

इससे यह सिद्ध है कि ईश्वरकी दृष्टिमें ये जीव, यह जगत् ईश्वरसे भिन्न नहीं हो सकता। यदि ये जीव और जगत् ईश्वरको भी अपनेसे पृथक् दिखायी दें तो वह ईश्वर ही नहीं होगा, वह तो अज्ञानी होगा।

सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत्।

यह सब प्रपञ्च ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं। यह अपना, यह पराया, यह ईश्वर, यह अनीश्वर, ऐसा मानना अज्ञान है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, सब ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इसमें परम स्वातन्त्र्य है। इस ज्ञानमें कहीं कोई पारतन्त्र्य नहीं है।



भेदकी असत्यता

● **संगति**

भेद कहाँसे सिद्ध होता है? इन्द्रियोंसे। इन्द्रियोंका भेद किससे सिद्ध होता है? मनसे। मनका भेद किससे सिद्ध होता है? जिससे सब सिद्ध होता है। उसे परिपूर्ण अविनाशी दिखलाना ही वेदान्तका तात्पर्य है। उसमें कोई भेद नहीं है। ●

व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात्।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः॥ 46॥

ननु व्याप्यव्यापकतारूपे भेदे जाग्रति सति कथं प्रपञ्चस्य ब्रह्मतेत्याशङ्क्याह—व्याप्येति। व्याप्यमान्तरं व्यापकं बाह्यं तयोर्भावस्तत्ता। मिथ्या घटाकाशादिवत् कल्पितत्वादसन्नित्यर्थः। तत्र प्रमाणमाह—सर्वमिति। 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिति प्रकृत्येदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुतिरूपेश्वराज्ञाबलादित्यर्थः। ततः किमत आह—इतीति। इति ज्ञाते इत्यादि सुगमम्॥ 46॥

वेदका कथन है कि 'सब आत्मा ही है' अतः व्याप्य और व्यापकताका भेद मिथ्या है। इस प्रकार परमतत्त्वको जान लेनेपर भेदका अवसर ही कहाँ है॥ 46॥

व्याप्यव्यापकता मिथ्या—यह वचन तेजोबिन्दु उपनिषद्‌में है। ऐसी बात नहीं है कि कमरेमें जो आकाश है वह व्याप्य है और महाकाश व्यापक है। दीवार, खम्भे, कमरे आदि बननेपर भी महाकाशसे मठाकाशका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है।

नैयायिकोंकी व्याप्य-व्यापकता कुछ भिन्न है। उनके मतमें एक लोहेके गोलेको यदि अग्निमें डाल दें तो उसमें अग्नि व्यापक होगा और लौहपिण्ड व्याप्य। भेदवादी मानते हैं कि संसार लौहपिण्ड जैसा है जिसमें परमात्मा अग्निके समान व्यापक है।

वेदान्ती ऐसी व्याप्य-व्यापकतासे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि 'जैसे मिट्टीके डलेमें मिट्टी, बूँदमें जल, श्वासमें वायु, चिनगारीमें अग्नि तथा घटाकाशमें महाकाश व्यापक है ऐसे ही अनन्त अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्म है। वह अद्वय है। उसमें व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है।'

हम पापी-पुण्यात्मा क्यों होते हैं? ऐसा किया, ऐसा नहीं किया, इसलिए। ऐसा सोचा, ऐसा नहीं सोचा, इसलिए। ऐसी स्थिति हुई, ऐसी नहीं हुई, इसलिए।

यह सब तो देहको 'मैं' माननेसे है। जब हम अपनेको देहसे पृथक् जान लेते हैं और उस पृथक् हुए 'मैं'को अद्वितीय ब्रह्म जान लेते हैं तब भेदके लिए अवसर ही कहाँ है!

व्याप्यव्यापकता मिथ्या—मिट्टी व्यापक है और घट व्याप्य है, यह भ्रम है। मिट्टीके सिवा घट तो कुछ है ही नहीं। घट तो मिट्टी-ही-मिट्टी है।

घड़ा बन गया तब आकाशने उसमें प्रवेश नहीं किया। आकाश तो पहलेसे है। ऐसे ही जब जीव बन गया तब ईश्वरने उसमें प्रवेश नहीं किया। अन्तःकरण बन गया तब जीवने उसमें प्रवेश किया, यह सब अज्ञान है। आत्मा तो पहलेसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है।

श्रुति कहती है—'सर्वम् आत्मा' अर्थात् यह जीव, जगत्, ईश्वर, ब्रह्म आदि सब आत्मा ही है।

हम अकार या रूप देखनेमें लग जायँ तो मूल धातुको देखनेमें बाधा पड़ जायगी। जबतक जीव अपनेको देह, अन्तःकरणसे परिच्छिन्न मानकर अज्ञानवश अपनेको छोटा मान बैठा है तबतक तो जगत् और ईश्वर इससे बड़े हैं; किन्तु जिस उपाधिपर बैठकर यह अपनेको छोटा मान बैठा है उस उपाधिको जब छोड़ देता है तब तो यह साक्षात् ब्रह्म ही है। उस ब्रह्ममें जितनी दूरीमें सृष्टि-स्थिति-प्रलयके अनुकूल शक्ति कल्पितकी गयी है उतनी दूरीमें उस शक्तिके स्वामीके रूपमें जो चैतन्य है उसीका नाम ईश्वर है। उस शक्तिके कार्यमें मिलकर बैठा जो चैतन्य है उसका नाम जीव है। शक्तिके कार्य एवं कारणरूप भेदको जब जीव विचारसे हटा देता है तो कार्योपाधिसे अवच्छिन्न भी वही चैतन्य और कारणोपाधिसे अवच्छिन्न भी वही चैतन्य। इन दोनोंकी एकताका बोध होनेपर कार्य-कारणकी भ्रान्ति मिट जाती है।

पहले कहा गया कि चैतन्यके अज्ञानसे ही अपना स्वरूप विश्वाकार भास रहा है अर्थात् अज्ञानसे ही यह पृथक्त्वकी भ्रान्ति है। इसमें कोई यह भी कहते हैं कि ब्रह्मा कर्मानुसार सृष्टिकी रचना करते हैं।

ब्रह्माकी सृष्टि-रचना तो ऐसी है जैसे विदेशोंसे रासायनिक द्रव्य आते हैं और उन्हें यहाँ मिलाकर दवा बना ली जाती है। हवाई जहाजके पुर्जे दूसरे देशोंसे आये, उन्हें यहाँ जोड़कर वायुयान बना लिया। इसी प्रकारके सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा हैं। वे मिट्टी-पानी, अग्नि-वायु-आकाश नहीं बनाते। वे जीव, अन्तःकरण और जीवोंके कर्म भी नहीं बनाते। जीव, अन्तःकरण, उन जीवोंके कर्म-संस्कार तथा पञ्चभूत पहलेसे होते हैं। ब्रह्माका काम इनको केवल जोड़ देना है।

जैसे जल-विभागाध्यक्ष घर-घर जल पहुँचावे इसी प्रकार जो आम-अनार, जौ-गेहूँ, मनुष्य-पशु, सबमें रस-दूध पहुँचाता है, उस चैतन्य शक्तिका नाम विष्णु है।

वृक्ष सूखता है, प्राणी मरते हैं—यह जो वस्तुओंमें क्षीणता, शिथिलता अथवा ह्रास आता है इस शिथिल करनेवाली शक्तिके स्वामी चैतन्यको रुद्र कहते हैं।

सृष्टि-पालन-संहार इन तीनोंमें जो एक चैतन्य है उसे ईश्वर कहते हैं।

जिस अखण्ड अनन्त सत्यमें यह सृष्टि-व्यापार है ही नहीं, होता ही नहीं, जिसके एक कल्पित अंशमें यह सब-का-सब व्यापार कल्पित है, प्रतीतिमात्र है, वह ब्रह्म है। वही आत्मा है।

ईश्वर होनेके लिए आवश्यक है कि वह सृष्टि बनावे अथवा सृष्टिके रूपमें स्वयं बने। जो सृष्टिका उत्पत्ति-पालन-संहार न कर सके उसमें ईश्वरत्व क्या!

जीव वीर्यसे बना है, वीर्य अन्नसे, अन्न पञ्चभूतसे, पञ्चभूत अहंतत्त्वसे, अहं महत्तत्त्वसे, महत् प्रकृतिसे और प्रकृति बीजविशिष्ट सच्चिदानन्दसे व्यक्त हुई। सच्चिदानन्दमें यह बीजकी विशेषता कहाँसे आयी? यह विशेषता सच्चिदानन्दके अज्ञानसे उसमें कल्पित है। इस प्रकार कारण-कार्यकी विशेषता भी सच्चिदानन्दके अज्ञानसे उसमें कल्पित है। कारण-कार्यकी कल्पना करके ही परमात्माका निरूपण किया जाता है। वस्तुतः परमात्मामें न

कारण-कार्यभाव सच्चा है, न द्रष्टा-दृश्यभाव, न भोक्तृ-भोग्य-भाव, न जीव-ईश्वरभाव। परमात्मा एक, अखण्ड एवं अद्वितीय है।

जड़वस्तु बिना देश-कालके सम्बन्धके नहीं बनती और वस्तु-सम्बन्धके बिना देश-काल नहीं होता। इस देश-काल-वस्तुका प्रकाशक केवल चैतन्य आत्मा है। 'मैं' के बिना 'इदं' का ग्रहण ही नहीं होता।

सभी वस्तुएँ आकाशमें दिखायी पड़ रही हैं, किन्तु आकाश? घड़ी आकाशमें है, दिग्विशेष और कालविशेषमें है। यह घड़ी, आकाश, दिक् तथा काल जड़सत्तामें हैं। किन्तु इस देश-काल-द्रव्यसहित कार्य-कारणका द्रष्टा मैं हूँ। घड़ी और इसके उपादान पञ्चभूत, इनका आधार देश तथा इनका काल एक चैतन्य आधारमें ही प्रकट हो रहे हैं। इनका अधिष्ठान चैतन्य है। इस प्रकार शरीरमें चैतन्य द्रष्टा है और घड़ीमें चैतन्य अधिष्ठान है। चैतन्य-चैतन्यमें भेद सम्भव नहीं है अतएव दोनों एक हैं। इस चैतन्य-चैतन्यकी एकताका अर्थ है देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत्-भेदशून्य चैतन्य। इस चैतन्यमें 'मैं-तुम' का भेद नहीं है।

कार्य या अन्तरवृत्ति हो तो उसके पूर्वमें रहनेवाला कारण भी हो। पूर्वमें रहनेवाला कारण भी हो तो पश्चात् होनेवाला कार्य भी हो। जिस चैतन्यमें पूर्व-पश्चात् क्रम संवित् ही अपने स्वरूपके अज्ञानसे भास रही है उस अखण्ड अद्वय ब्रह्मतत्त्वमें कार्यकारण, व्याप्य-व्यापक आदिकी कोई कल्पना नहीं हो सकती।

व्यापकसत्त्वे व्याप्यता स्यात्, व्याप्यसत्त्वे व्यापकता स्यात्।
उभयाभावे..............जीवेशो वा तत्त्वमसि।

व्यापक हो तो कोई व्याप्य हो, कोई व्याप्य हो तो कोई व्यापक हो। व्याप्य-व्यापक दोनों नहीं है तो जीव-ईश्वरका भेद कैसा? सब तुम्हीं हो।

श्रुति कहती है कि आत्माके अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः आप अभी, यहीं, इसी रूपमें कृतकृत्य हैं। सर्वत्वेन प्रतीयमान जो कुछ है वह अपना आत्मा ही है। यह-वह तुमके रूपमें यहाँ-वहाँ, बाहर-भीतर, अब-तब-कबके रूपमें जो कुछ भास रहा है, सब प्रतीयमान अपना स्वरूप ही है।

इति ज्ञाते परे तत्त्वे—इस प्रकार जब परमतत्त्वका ज्ञान हो गया तो अपने और ईश्वरके बीचमें दीवार खींचनेकी क्या आवश्यकता। यदि आप ईश्वरको नहीं

पहचानते तो आपको छूट है, चाहे जिसे जानें या मानें; किन्तु ज्ञानमें माननेकी तो स्वतन्त्रता नहीं है। वहाँ तो जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही जानना होगा। जिसमें बाहर-भीतरका निषेध हो गया ऐसे अशेष-विशेष-निषेधावधितत्त्वका ज्ञान हो जानेपर किसी भी प्रकारके भेदके लिए अवकाश नहीं है।

● **संगति**

सृष्टिके मूल तत्त्वके सम्बन्धमें दो मत है। एक मत तो यह है कि मूलमें चैतन्य ही चैतन्य है। देश-काल-वस्तुके संस्कारोंसे जब उसमें विस्मृति, विकृति आती है तब समय-समयपर महापुरुष अवतीर्ण होकर विस्मृतिरूप आवरणको दूर करके उस चेतन तत्त्वका साक्षात्कार कराते हैं।

दूसरा मत है कि सृष्टिके मूलमें जड़ तत्त्व है। वे मानते हैं कि 'मेरे पिता मेरे पितामहसे अधिक जानते हैं, मैं अपने पितासे अधिक जानता हूँ और मेरे पुत्र मुझसे अधिक जानकारी रखते हैं। इस प्रकार पीढ़ी-दरपीढ़ी ज्ञान बढ़ता जा रहा है, चेतनाका विकास हो रहा है।' ऐसे लोग प्रायः व्यक्तिवादी होते हैं। वे कहते हैं कि 'मैं जो जानता हूँ वह आजसे पूर्व कोई नहीं जानता था। मेरा ज्ञान अबतकके ज्ञानमें सर्वोपरि है।' इस मतमें महापुरुष-पूजा नहीं है।

जो लोग सृष्टिके मूलमें चैतन्य मानते हैं उनका मत है कि उस मूल चैतन्यतत्त्वमें मायाके योगसे ईश्वर है। उसीमें हिरण्यगर्भ और विराट् है। उसीमें श्रीराम, श्रीकृष्णादि अवतार होते हैं। वही समय-समयपर महापुरुषोंके रूपमें अवतीर्ण होता है और लोगोंका उद्धार करता है।

भगवान् शङ्कराचार्य मूलमें चैतन्य माननेकी परम्परामें हैं। वे कहते हैं— 'रूपसे सूक्ष्म नेत्र हैं, नेत्रसे सूक्ष्म मन है, मनसे सूक्ष्म बुद्धि है, बुद्धिसे सूक्ष्म अहं है और अहंसे सूक्ष्म जीव है। जीव एवं ईश्वर जिसमें दोनों बाधित हो जाते हैं वह ब्रह्म है। आत्मा (जीव) और परमात्मा दोनों उपाधिसे ही भिन्न हैं, वस्तुतः दोनों एक हैं। जिज्ञासुकी दृष्टिसे सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है और उसका द्रष्टा आत्मा ब्रह्मसे एक है।

जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें आत्मा परमात्मासे एक है। परमात्मासे पृथक् दूसरी कोई वस्तु नहीं है अतः सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मस्वरूप ही है।

सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है यह जिज्ञासुकी दृष्टि है और दृश्य दिखायी देता,

प्रतीत होता हुआ भी साक्षात् ब्रह्म है, यह सिद्ध दृष्टि है। इसमें न जिज्ञासुकी दृष्टिमें राग-द्वेष है, न सिद्धकी दृष्टिमें।

श्रुतिमें इस अद्वैततत्त्वका सुस्पष्ट प्रतिपादन है। श्रुति नित्य है अर्थात् यह ज्ञान कालपरिच्छिन्न नहीं है। यह ज्ञान किसी व्यक्तिका ज्ञान नहीं है। व्यक्ति बोलेगा तो उसकी वाणीमें उसके संस्कार होंगे क्योंकि अन्तःकरण संस्कार-रहित नहीं होता। देवता, ऋषि कोई भी बोले, उसकी वाणी उसके संस्कारसे रहित नहीं हो सकती। ईश्वर भी बोलेगा किसीको उपदेश देगा तो जिसे उपदेश देगा उस भक्तकी श्रद्धा, रुचि, अधिकारके ही अनुसार उसके हितके लिए बोलेगा।

देवीके दो उपासक थे। दोनों ही सच्चे आराधक थे किन्तु उनमेंसे एक राज्य-प्राप्तिके लिए आराधना करता था, दूसरा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। दोनों राजा थे। दोनोंमें युद्ध हो गया। जब राज्य-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाला विजयी होने लगा तब दूसरेने देवीका आह्वान किया। देवीने दर्शन देकर उसे कहा कि 'तुमने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए मेरी आराधना की है। अतः तुम्हें वह प्राप्त होगी। तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वीने राज्यके लिए मेरी आराधना की है अतः उसे वह प्राप्त हो रहा है।'

इसी प्रकार ईश्वर उपदेश देगा तो किसी कालमें, किसी देशमें, किसी व्यक्तिविशेषके लिए बोलेगा। किन्तु ज्ञान देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। वह ज्ञान नित्य है क्योंकि श्रुति नित्य है। सत्यके समान यह वाणी अनादि है। पौरुषेय वाणीका कोई दोष इसमें नहीं है।

यदि द्वैतका निषेध करना हो तो कहिए—'जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है, सब मिथ्या है।' यदि अद्वैतका प्रतिपादन करना हो तो कहिए—'जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है, सब ब्रह्म है।' जन्म-मरण है ही नहीं क्योंकि काल ही नहीं है अथवा यह भी ब्रह्म है। स्वर्ग-नरक है ही नहीं क्योंकि देश ही नहीं है अथवा यह भी ब्रह्म है। कीट-ब्रह्माका भेद भी नहीं है क्योंकि वस्तु ही नहीं है अथवा यह भी ब्रह्म है।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्— भागवत

द्वैतमें मग्न हुए बिना भय नामकी वस्तु नहीं है। इस भयके मूल द्वैतका निवारण श्रुतिसे होता है। यही बतला रहे हैं।

श्रुत्या निवारितं नूनं नानात्वं स्वमुखेन हि।
कथं भासो भवेदन्यः स्थिते चाद्वयकारणे॥ 47॥

ननु प्रत्यक्षेण भासमानो व्याप्यव्यापकभावः कथं मिथ्येत्याशङ्क्याह—श्रुत्येति। नूनमिति निश्चये। हीति प्रसिद्धौ। श्रुत्या 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि-रूपयेत्यर्थः। नानात्वं निवारितम्। तेन च नानात्वनिवारणेनाद्वयकारणेऽभिन्न-निमित्तोपादाने ब्रह्मणि स्थिते सति भासो व्याप्यव्यापकादि-प्रतिभासः, कार्य-भूतोऽन्यः स्वकारणातिरिक्तः कथं भवेन्न कथञ्चिदित्यर्थः॥ 47॥

श्रुतिने अपने ही मुखसे निश्चयपूर्वक नानात्वका निषेध कर दिया है। अद्वय कारणके रहनेपर अन्यका भास हो ही कैसे सकता है॥ 47॥

नेह नानास्ति किञ्चन—श्रुति

'इह तत्त्वविचारे नाना न अस्ति'—यहाँ तत्त्वविचारमें नानात्वकी सत्ता नहीं है।

राग-द्वेषादि सब नानात्वसे ही हैं। जब नानात्व ही नहीं है तो अन्यका आभास कैसे होगा। तत्त्व तो कालपरिच्छेदसे रहित होनेके कारण अविनाशी; देशपरिच्छेदसे रहित होनेके कारण परिपूर्णतम, वस्तुपरिच्छेदसे रहित होनेके कारण अद्वितीय और अन्यत्वसे रहित होनेके कारण स्वात्मचेतन है।



भेदमें दोष

● **संगति**

सांख्य भी तो प्रकृति-पुरुषका भेद मानता है, द्रष्टा होनेसे ही पुरुषकी मुक्ति मानता है। हम भी भेदके द्रष्टा बने रहें। भेद रहा करे, उसके पीछे पड़नेकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें भेद माननेमें दोष बतला रहे हैं। ●

दोषोऽपि विहितः श्रुत्या मृत्योर्मृत्युं स गच्छति।
इह पश्यति नानात्वं मायया वञ्चितो नरः॥ 48॥

किञ्च भेददृष्टेर्दोषश्रवणादपि कारणादभिन्नमेव कार्यमित्याह—दोष इति। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादिरूपया श्रुत्येत्यर्थः। तत्र मृत्योरनन्तरं मृत्युं जननमरणपरम्परामित्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥ 48॥

यहाँ नानात्व वही मनुष्य देखता है जो मायाके द्वारा ठगा गया है। श्रुतिने इस नानात्व-दर्शनमें यह दोष बतलाया है कि वह (नानात्व देखनेवाला) मृत्युसे मृत्युको ही प्राप्त होता है॥ 48॥

श्रुतिने कहा है कि यदि कोई नानात्वका दर्शन करेगा, यहाँ अनेकता देखेगा, उत्तमाधमकी खोजमें रह जायगा तो मृत्युसे मृत्युको ही प्राप्त होगा।

जब सब नींबुओंमें रस खट्टा ही है तो उनमें अन्तर क्या! भले ही वे कुछ छोटे-बड़े हों। जितने भेद हैं, सब भानमात्र हैं। इतने पर भी कोई हठ करे—'हम तो एक टुकड़ेको ही पकड़ेंगे' तो गुड़ खानेका हठ कबतक? 'जबतक रसगुल्ला न मिल जाय।' इस भेदको पकड़नेसे राग-द्वेष ही होगा। भेद-बुद्धिसे ही सुख-दुःख होता है।

हमारे गुरु यदि ब्रह्म हैं, व्यापक हैं तो वे दूसरेके गुरुओंमें भी हैं। यदि हम किसी दूसरेके गुरुकी निन्दा करते हैं तो निश्चय ही इससे अपने ही गुरुकी निन्दाका दोष लगेगा। श्रीरामकी प्रशंसा और शिव या कृष्णकी निन्दा करके हम उस परमेश्वरके ही तो टुकड़े करते हैं जो सर्वरूप है।

मृत्योर्मृत्युं स गच्छति—भेद-दर्शनमें बड़े दोष हैं। मेरे एक मित्र थे। रामलीलाके स्वरूपोंमें उनकी बड़ी आसक्ति थी। एक बार वे अपना रुपया-पैसा, चद्दर-कुर्ता आदि सब रामलीलाके स्वरूपोंको देकर मथुरासे पैदल वृन्दावन आ गये। मुझे उनपर दया आयी तो मैंने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! इनकी यह आसक्ति दूर कर दीजिये।'

उस लीला-स्वरूपमें उनकी इतनी आसक्ति थी कि अपने शरीर तकका ध्यान नहीं रहता था। न जाने अचानक क्या हुआ कि उस स्वरूपसे उनकी खटपट हो गयी। पीछे उनकी एक लड़कीमें आसक्ति हो गयी। यह बात तो भी मेरे पास आयी। अब मैंने कहा—'भगवन्! आपकी जो इच्छा हो सो करें!'

यह तो कुएँमें-से निकलकर खाईंमें गिरने जैसा हुआ। अतः जिसकी जहाँ आसक्ति हो उसे वहीं लगे रहने देना ठीक है। संसारमें राग होनेका अर्थ ही है दिनमें कई बार मरना-जीना, बार-बार रोना-हँसना। अतः देहमें अभिनिवेश मत करो। दूसरेसे राग-द्वेष मत करो। विद्या-जाति-पद-धनादिसे अपनेमें अस्मिता मत करो। अविवेकके कारण नानात्वको मत देखो। अपनेको अद्वय परमात्माका स्वरूप जानकर मोह, भय, दुःखादि भयानक जलजन्तुओंसे भरे इस नानात्वके समुद्रसे बचनेका प्रयत्न करो। जो मायाके द्वारा ठगा गया है वही यहाँ नानात्व देखता है।

यहाँ ठसाठस ब्रह्म ही भरा है। उसमें परिवर्तनके लिए काल नहीं है, जाने-आनेको देश नहीं है, मैं-तू पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं है। यह मेरे समीप न आवे, यह मेरे पाससे न जाय, ऐसा भाव अपनेको नन्हा, परिच्छिन्न मानना है। यही माया है।

जिनका जाना निश्चित है उनके जानेपर हम रोते हैं। जिनका आना निश्चित है उनके आनेपर हम रोते हैं। यही अज्ञान है।

तत्त्वज्ञान सिखलाता है कि जो दिखायी दे रहा है उसे दिखायी पड़ने दो, जो आता-जाता है उसे आने-जाने दो। तुम तो अद्वय ब्रह्म हो।



ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति

● संगति

जब सब ब्रह्म ही है तो यह जगत् कहाँसे आया? इसके उत्तरमें ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति बतलाते हैं। ब्रह्म जगत्‌का कारण है यह बतलानेके लिए नहीं अपितु ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध करनेके लिए उसमें यह कारणत्वका अध्यारोप किया जाता है।

यह भ्रान्ति बहुत दिनोंतक रहती है कि जो कारण है वह ब्रह्म, जो कार्य है वह संसार। जो भीतर है वह ब्रह्म और जो बाहर है वह संसार, जो द्रष्टा है वह ब्रह्म और जो दृश्य है वह संसार।

ऐसा मानना तो द्वैतका प्रतिपादन हुआ। बाहर-भीतरकी कल्पना देशभेदसे, पहले-पीछेकी कल्पना कालभेदसे तथा द्रष्टादृश्यकी कल्पना वस्तुभेदसे होती है। ब्रह्ममें तो देश-काल-वस्तु हैं ही नहीं।

यह कारण-कार्य, द्रष्टा-दृश्य, आन्तरबाह्यका पहले अध्यारोप करते हैं। असंख्य वस्तुओंको दो भागोंमें बाँटकर एकको मिथ्या और एकको सत्य करके बतलाना वेदान्तको समझानेकी रीति मात्र है यहाँ इसी अध्यारोप विधिसे वर्णन करते हैं। ●

> **ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः।**
> **तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीत्यवधारयेत्॥ 49॥**

तर्हि किं कुर्यादित्यत आह—ब्रह्मण इति। बृहत्त्वादपरिच्छिन्नत्वाद् ब्रह्म। तद्रूपात्परमात्मनः सर्वाणि भूतानि जायन्ते उत्पद्यन्ते। जायन्ते इति स्थितिप्रलययोरप्युपलक्षणम्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतेः। यस्मादेवं तस्माद्धेतोरेतानि भूतानि ब्रह्मैव भवन्ति सन्मात्रब्रह्मरूपाणीत्यवधारयेन्निश्चिनुयादिति॥ 49॥

ब्रह्मस्वरूप परमात्मासे ही ये सब भूत यानी प्राणि-पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसलिए यह सब ब्रह्म ही हो गया है— ऐसा समझना चाहिए॥ 49॥

जगत् कैसा बना है, इस विषयमें अनेक मत हैं। कोई इसे चार भूतों (पृथिवी, जल, अग्नि और वायु)से बना मानते हैं, कोई परमाणुओंसे, कोई अजीव द्रव्यसे, कोई शून्यसे, कोई नियति (कर्म) से, कोई कालसे, कोई

यदृच्छासे तो कोई स्वभावसे। उपासकोंका कहना है कि ईश्वर ही जगत् बन गया है। इस मतमें अनेक भेद हैं। कोई जगत्का कारण नारायणको मानता है, कोई शिवको। कोई देवीको आदिकरण कहता है तो कोई गणेशको।

श्रुति इन सब मतोंका निराकरण करके कहती है—'जो अद्वितीय है, अनन्त है, जिसमें सम्पूर्ण अध्यास होते हैं, उस परमात्मा परम ब्रह्ममें यह जगत् प्रतीत हो रहा है।'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म। तद् विजिज्ञासस्व।

अर्थात् जिससे वे सब प्राणि-पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा इनका जीवन चलता है, जिससे ये क्रियाशील हैं और जिसमें ये लीन हो जाते हैं वह ब्रह्म है। उस ब्रह्मकी जिज्ञासा करो।

ब्रह्मसे उसीमें ये सब वैसे ही प्रतीत हो रहे हैं जैसे श्मशानमें भूत प्रतीत होते हैं।

परिच्छेदसामान्याभावोपलक्षिततत्वं ब्रह्मत्वम्।

परिच्छेदके जितने प्रकार हैं उनके भावाभावके अध्यारोपसे जो उपलक्षित है वह ब्रह्म है। वह परमात्मा है अर्थात् आत्माका वह परमरूप ही है। परमात्मा आत्मासे परे नहीं है। वह आत्माका परमरूप है। उसका परमत्व है उपाधिसे संश्लिष्ट न होना। उपाधि-संश्लिष्ट चैतन्य आत्मशब्दवाच्य है। जिसमें उपाधिके अध्यारोपके अनुकूल-प्रतिकूल दोनोंकी मूलभूता माया नहीं है वह परमात्मा है। अर्थात् अपने स्वरूपभूत ब्रह्ममें ही यह सृष्टि कभी भासती है, कभी नहीं भासती।

मनुष्योंको जड़से वस्तुकी उत्पत्ति तथा प्रलय समझनेका अभ्यास पड़ गया है अतः चेतनसे वस्तुकी उत्पत्ति और प्रलय समझनेमें उन्हें कठिनाई होती है।

जड़में किसी वस्तुके बनने, रहने और बिगड़ जानेको उस वस्तुकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कहेंगे; किन्तु चेतनमें किसी वस्तुके बनने, रहने और मिट जानेके लिए कारण-कार्य शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता।

जड़वादी जड़सत्ताको स्वयंभू मानते हैं। पाश्चात्य जड़वादी दार्शनिक विकासवादी हैं। वे कहते हैं—'पहले बन्दरसे मनुष्य बना होगा।' पर इधर दस-

पन्द्रह हजार वर्षोंमें कोई बन्दर मनुष्य बना हो, इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अतः प्रश्न उठता है कि विकासकी धारा अवरुद्ध क्यों हो गयी? मनुष्यका भी तो विकास होकर और कुछ बनना था। जड़में अनेक रूप हैं। इसमें अर्थज्ञान कैसे व्यवस्थित होता है, इसके लिए वे जड़सत्ताको स्वयं भवनशील मानते हैं। जड़सत्ताको वे नियत परिणामवाली, नियत गतिसे चलनेवाली मानते हैं। यह तो जड़-चेतनकी परिभाषा ही पृथक्-पृथक् करना हो गया।

जड़वादी जड़सत्ताको स्वयंभू मानते हैं हम चेतनको स्वयं प्रकाश मानते हैं। जड़सत्ताको स्वयंभू मानना चेतनको निष्क्रिय मानना है। जब चेतनको निष्क्रिय मानेंगे तो सत्ताकी अपेक्षा उसमें विशेषता क्या होगी? केवल सत्ता ही हो तब तो वह जड़ ही हुआ।

चेतनके प्राकट्यको भान कहते हैं और सत्ताके प्राकट्यको भवन या होना। कोई कहते हैं—'पहले भान रहता है, पीछे भवन होता है।'

दूसरे कहते हैं—'भूत्वा भाति' अर्थात् पहले होता है, फिर भासता है।'

एक मत है—'भानं भवनं समकालमेव' अर्थात् भान और भवन दोनों अनादि-अनन्त एककालिक हैं।

अन्य मत है—'भान और भवन अनादि तो हैं किन्तु सान्त हैं।'

मुसलमान ज्ञानात्मक ईश्वरको अनादि-अनन्त मानते हैं और सृष्टिका प्रारम्भ तो मानते हैं किन्तु अन्त नहीं मानते।

बौद्ध सृष्टिको अनादि किन्तु सान्त मानते हैं तो जैन अनादि-अनन्त मानते हैं।

वेदान्त मानता है कि 'अहं'को ही 'इदं'का भान होता है। अतः 'यह' होनेके पूर्व 'मैं'का होना आवश्यक है।

ज्ञान और वस्तुमें ज्ञान पहले है या वस्तु? वस्तुकी सिद्धि ही ज्ञानके बिना नहीं होगी। इसी चैतन्यसे देश-काल-वस्तुकी सिद्धि होती है अतः चैतन्य देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है अथच इस देश-काल-वस्तुके त्रित्वसे विलक्षण है।

तस्मादेतानि ब्रह्मैव—इसलिए यह सब ब्रह्म ही है। भोग-योग, कार्य, कारण, स्वर्ग-नरक, सब ब्रह्म ही है। भूतों या प्राणि-पदार्थोंका होना न होना दोनों ब्रह्म ही है।



ब्रह्मका विभुत्व

● **संगति**

'सब ब्रह्म ही है' यह कैसे तथा किन-किन रूपोंमें है, यह बात समझाते हैं कि सब नाम, रूप तथा क्रियाएँ ब्रह्म ही हैं। ●

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ॥ 50॥

ननु नानानामरूपकर्मभेदेन विचित्राणि भूतानि कथं ब्रह्मात्मकानीत्याशङ्कयाह—ब्रह्मैवेति। 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इति बृहदारण्यकश्रुतिर्जगौ गायनं कृतवती, स्वाधिकारिणः श्रावयामासेत्यर्थः। किमित्यत—आह—ब्रह्मैव सर्वनामान्याकाशादिदेहान्तान् संज्ञाविशेषान्, च पुनर्विविधानि रूपाण्यवकाशादिद्विपदान्तान् नानाविकारविशेषान्। अपिशब्दश्चार्थे। रूपग्रहणं गन्धादिग्रहणस्याप्युपलक्षणम्। समग्राणि कर्माणि आकाशप्रदानादीनि स्नानशौचादीन् क्रियाविशेषानपि बिभर्ति। रज्ज्वादिकमिव सर्पादिप्रतिभासं दधात्यधिष्ठानदर्शनशून्यान् प्रति दर्शयतीत्यर्थः॥ 50॥

ब्रह्म ही सब नाम, नाना प्रकारके सब रूप तथा समस्त कर्मोंका धारण करनेवाला है, ऐसा श्रुतिने कहा है॥ 50॥

अब हम ब्रह्मका चित्र अपने अन्तःकरणसे लेने चलते हैं तब उसमें हमारा दृष्टिकोण सम्मिलित हो जाता है। फलतः हम कहीं ब्रह्मको सृष्टिकर्त्ता

रूपमें समझने लगते हैं कहीं भोक्ताके रूपमें। कहीं उसे 'मैं' समझते हैं तो कहीं 'तू'। अपने अन्त:करणमें जो संस्कार है वे ईश्वरमें भी दिखायी पड़ने लगते हैं। मनुष्यका मन संस्काराक्रान्त रहता है, फलतः वह ईश्वरको अपने ही संस्कारोंके अनुसार देखने लगता है और उसी ईश्वरको चाहता है।

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म—यह बृहदारण्यकोपनिषद्‌की श्रुति कहती है कि इस परमात्माके ही ये सब नाम, रूप, कर्म तीनों हैं। वह ब्रह्म ही सर्वगन्ध-रस-रूप-शब्द-स्पर्शस्वरूप है। कर्म भी सब ब्रह्मरूप ही हैं। इसीसे कहा गया है—

> **आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं**
> **पूजा ते विषयोपभोगरचना स्तोत्राणि सर्वा गिरः।**
> **सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः निद्रा समाधिस्थिति-**
> **र्यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥**

हे भगवान् शिव! आप मेरे आत्मा हैं। गिरिजा बुद्धि हैं। आपके पार्षद प्राण हैं, यह शरीर ही आपका मन्दिर है, मैं जो कुछ शब्द-स्पर्शादि विषयोंका सेवन करता हूँ वही आपकी पूजा है, मेरी सम्पूर्ण वाणी आपकी स्तुति है, मेरा चलना आपकी प्रदक्षिणा है और मेरी नींद समाधि है। मैं जो कुछ भी करता हूँ वह सब कर्म आपकी आराधना ही है।



विश्व और ब्रह्मका एकत्व

● **संगति**

केवल द्रष्टा-दृश्य-विवेकमें लग जानेवाले समझते हैं कि दृश्य शैतानका बनाया है और द्रष्टा परमात्माका स्वरूप है। किन्तु ऐसा समझना भूल है। संसारको शैतानकी कृति समझनेपर दुःख कभी निवृत्त नहीं होगा। यह विश्व भी ब्रह्म ही है। यही बतला रहे हैं। ●

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणोजायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत्॥ 51॥

अत्र लोकप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—सुवर्णेति। सुगमम्॥ 51॥

जो स्वर्णसे उत्पन्न हुआ है उसका स्वर्ण होना शाश्वत है। इसी प्रकार ब्रह्मसे जायमानका ब्रह्मत्व भी शाश्वत है॥ 51॥

स्वर्णसे बने आभूषणका आकार मिट सकता है, आभूषणत्व मिट सकता है, किन्तु उसका स्वर्ण होना नहीं मिट सकता। उसका स्वर्णत्व तो शाश्वत है। इसी प्रकार ब्रह्ममें प्रतीयमान जगत्का रूप मिट सकता है, विश्वाकारता मिट सकती है; किन्तु उसका ब्रह्मत्व तो शाश्वत है। प्रतीयमान इसलिए कहा कि चेतनमें परिणामरूप जायमानत्व नहीं है, चेतनमें केवल जायमानत्वका भान या प्रतीति होती है।



भेदमें भय

● संगति

जगत् ब्रह्म है यह बात मान लें तो भी जीवका पृथकत्व तो है ही। इसके समाधानमें कहते हैं कि जीवको ब्रह्मसे पृथक् मानना न केवल अज्ञान ही है अपितु भयका हेतु भी है। ●

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
यः संतिष्ठति मूढात्मा भयं तस्याभिभाषितम्॥ 52॥

एवं कर्तृकर्मादिकारकघटस्यैकाधिष्ठानरूपत्वे सिद्धेऽपि भेद-दर्शिनो भयमाह—स्वल्पेति। स्वल्पमप्यन्तरमुपास्योपासकरूपं भेदं कृत्वा—कल्पयित्वा यस्तिष्ठति तस्य भयं भाषितम्। 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इत्यादि-श्रुत्येत्यर्थः॥ 52॥

जो मूढचित्त जीवात्मा और परमात्मामें थोड़ा भी अन्तर मान बैठता है। उसके लिए श्रुतिने भय कहा है॥ 52॥

अथ तस्य भयं भवति, द्वैताद्वै भयं भवति—ये श्रुतिवचन हैं। इनका अर्थ है—उस (द्वैत माननेवाले)को भय होता है। द्वैतसे निश्चित ही भय होता है।

परमात्मासे जीवात्मा आदि थोड़ा भी पृथक् है तो ऐसा क्या है जो दोनोंको पृथक् कर रहा है? वह अज्ञान है यह अज्ञान परमात्मामें तो है नहीं। जो परमात्मासे अपनेको पृथक् मानता है उसीमें अज्ञान है। जिसमें अज्ञान है वह अज्ञानी है, मूढात्मा है।

जब अज्ञान है तो अज्ञानजन्य सब अनर्थ भी अवश्य होंगे। जन्म-मरण, स्वर्ग-नरकादि सभी भय अज्ञानीको होंगे क्योंकि इनका हेतु अज्ञान है।



अज्ञानसे द्वैतकी प्रतीति

● **संगति**

जब जीवात्मा-परमात्मामें थोड़ा भी भेद नहीं है और भेद करना भयका हेतु है तो यह भेद स्पष्ट ही क्यों प्रतीत होता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रतीतिका हेतु बतला रहे हैं। ●

यत्राज्ञानाद्भवेद् द्वैतमितरस्तत्र पश्यति।
आत्मत्वेन यदा सर्वं नेतरस्तत्र चाण्वपि॥ 53॥

ननु प्रकाशतमसोरिव परस्परविरुद्धस्वभावयोर्द्वैताद्वैतयोः कुत एकाधिकरणत्वमित्याशङ्क्यावस्थाभेदादित्याह—यत्रेति। यत्र यस्यामज्ञाना-वस्थायाम् अज्ञानेन द्वैतमिव भवेत्तत्र तस्यामज्ञानावस्थायाम् 'इतरोऽन्योऽन्यत्पश्यति यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानातीति। यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेत्' इत्यादिश्रुतेः। चशब्दः पूर्वोक्ता-द्वैलक्षण्यं सूचयति। यदा यस्मिन् ज्ञानकाले सर्वमात्मत्वेन भवेत् तत्र तस्मिन् ज्ञानकाले इतरोऽण्वपि किञ्चिदप्यन्यन्न पश्यति। 'यत्र वा, अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' इत्यादिश्रुतेः सकार्याज्ञाननिवृत्त्या न द्वैतमिति भावः॥ 53॥

जहाँ अज्ञानसे द्वैत है वहाँ अपनेसे भिन्न देखता है। जहाँ सब आत्मा ही हो गया वहाँ कोई कुछ अपनेसे भिन्न नहीं है॥ 53॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तत्र इतर इतरं पश्यति....।

यत्र तु सर्वमात्मैवाभूत् तत्र कः कं पश्यति.....।—श्रुति

जहाँ द्वैत जैसा है (क्योंकि वास्तविक द्वैत तो है ही नहीं) वहाँ दूसरा (अपनेसे भिन्न) दूसरेको देखता है। जहाँ सब अपना आपा ही हो गया वहाँ कौन किसे देखेगा!

वेदान्त कहता है कि तुम परिच्छिन्न नहीं हो। जीवत्व नामकी कोई वस्तु नहीं है।

यह बात मनमें मनन करनेसे जमेगी। इसमें विकल्प न रह जाय तब स्थिरताके लिए निदिध्यासन करना चाहिए। यह 'मैं' ही साक्षात् ब्रह्म है।

शृण्वन्त्यज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।

मन्यन्तां संशयापन्नाः किमन्येऽहमसंशयः॥

अर्थात् जिनको तत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ है वे श्रवण करें। मैं तो जानता हूँ अतः मैं क्यों श्रवण करूँ। जिनको संशय हो वे मनन करें। मैं तो संशयरहित हूँ, मैं क्या मनन करूँ!

जब मैं जानता हूँ कि मुझमें परिच्छिन्नत्व नहीं है तो मुझे श्रवण करनेकी क्या आवश्यकता?

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्।

जिसे विपर्यय होता हो वह निदिध्यासन करे। मुझे तो विपर्यय होता ही नहीं अतः मेरे लिए निदिध्यासनका क्या महत्त्व है!

आत्मा और ब्रह्ममें थोड़ा भी अन्तर किया कि 'मैं-मेरा' में फँसे; पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरकके अनर्थोंमें पड़े। यह भेदकी भ्रान्ति अज्ञानसे होती है। यह अज्ञान जहाँ भेदका कारण है वही दुःखका कारण भी है। दुःखका कारण भेद नहीं है।

बचपनमें मैंने एक दृष्टान्त सुना था—कोई सेठ मारवाड़से कलकत्ता उस समय गया जब उसकी पत्नी गर्भवती थी। संयोगवश वह वहाँ बीस वर्ष रह गया और तब ढेर-सा धन कमाकर घरकी ओर लौटा। उस समय न रेल थी, न डाक। इधर घरपर उसका पुत्र बीस वर्षका हो गया था। पिताजीका कोई पता न चलनेसे वह उनसे मिलने कलकत्तेकी ओर चल पड़ा।

मार्गमें एक सरायमें दोनों सायंकाल पहुँचे और रुक गये। लड़का गरीब

था। उसे खाँसी आती थी। सेठ धनी होकर लौट रहे थे। उन्होंने सरायके जमादारको बुलाकर डाँटा—'यह किस कँगलेको टिका दिया। ऐसा खाँसता है कि नींद नहीं आती। निकालो इसे।'

जमादारने लड़केको निकाल दिया। रातभर वह बाहर सर्दीमें टिठुरता रहा। प्रातःकाल सेठ उठे और बाहर निकले तो उस लड़केपर दृष्टि गयी। दोनों एक दूसरेको नहीं पहचानते थे। सेठने क्रोधमें पूछा—'तू कौन है? कहाँसे यहाँ आ मरा?'

लड़केने अपने गाँवका नाम बतलाकर जब अपनी जाति वैश्य बतायी तो सेठ चौंके। पूछा—'किसका लड़का है?'

लड़केने जब डरते हुए अपने पिताका नाम बतलाया तब तो 'बेटा' कहकर वे उससे लिपट गये और अपनी कठोरतापर पश्चात्ताप करने लगे।

अज्ञानवश वे उसे पराया समझते थे, ज्ञान हुआ तो अपना समझने लगे। अज्ञानवश लड़केकी जो खाँसी दुःखद एवं उद्वेजक थी वही अब परिचय होनेपर उपचार्य हो गयी।

हम जब किसीका अपमान, किसीका अहित-चिन्तन करते हैं तो सचमुच हम उसे पहचानते नहीं। वह तो अपना ही आत्मा है जो एक अन्यका चोला पहने दिखायी दे रहा है। शरीर तो केवल वस्त्र है। इसमें जो आत्मा है वह तो एक ही है।

हम अपने चित्तको मलिन किये बिना दूसरेके चित्तको मलिन नहीं कर सकते। हम अपने हृदयको दुःखी किये बिना दूसरेके हृदयको दुःखी नहीं कर सकते।

एक बार मैं एक बड़े सेठके साथ उनकी मोटरमें कहीं जा रहा था। किसी बातपर उन्हें ड्राइवर पर क्रोध आगया। उनके नेत्र लाल हो गये। ड्राइवर समझ गया। मैंने सेठसे कहा—'दण्ड तो तुम दूसरेको तब देना जब तुम्हारा चित्त स्वच्छ हो। तुम्हारे नेत्र लाल हो गये, तुम्हारा चित्त क्षुब्ध हो गया, इस रीतिसे दण्ड तो तुमने पहले अपनेको ही दे लिया।'

हमको अपना अज्ञान, द्वैतभाव बहुत दुःख देता है। पुराणमें एक कथा है—'राजा शर्याति एक बार सेनाके साथ वनमें गये। सुकन्या नामकी उनकी

कन्या भी साथ थी। वह वहाँ सखियोंके साथ घूमती हुई एक बाँबीके पास पहुँची तो उसमें उसे दो ज्योति दिखायी पड़ी। कुतूहलवश उसमें उसने काँटे चुभा दिये तो वहाँसे रक्त निकलने लगा। अनजानमें ही बाँबीमें बैठे च्यवन ऋषिके नेत्र सुकन्याने फोड़ डाले थे। ऋषिके कोपसे वहाँ सबके मल-मूत्रका अवरोध हो गया। पता लगनेपर राजाने ऋषिकी बड़ी स्तुति की और उनकी इच्छा जानकर अपनी लड़की उन्हें ब्याह दी। सबके मल-मूत्रका अवरोध समाप्त हो गया और राजा लौट आये।

महर्षि च्यवन बूढ़े थे। उन्होंने देववैद्य अश्विनीकुमारोंकी कृपासे युवावस्था प्राप्त कर ली। राजा शर्याति यज्ञ करने लगे तो अपने जामाताको बुलाने तपोवन गये। वहाँ सुकन्याके पास युवाको बैठे देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने पुत्रीको बहुत खरी-खोटी सुनायी। किन्तु जब सुकन्याने बतलाया कि युवक दूसरा कोई नहीं, महर्षि च्यवन ही हैं तो राजाने पुत्रीको हृदयसे लगा लिया। न पहचाननेके कारण ही राजा शर्यातिने पुत्री और जामाता दोनोंको गालियाँ दे डाली।

जीवनमें कुछ दुःख ऐसे होते हैं जो अमुक स्थानपर रहनेसे होते हैं। वहाँ न हों तो वह दुःख न हो। किसीके घर गये। वहाँ किसीकी मृत्यु हो गयी है या उस घरमें चोरी हो गयी है। घरके सब लोग दुःखी हैं तो अपनेको भी दुःख होता है। वहाँ न होते, अन्यत्र होते तो वह दुःख न होता। अन्यत्र चले जानेसे वह दुःख चला जायगा।

कोई दुःख कालके सम्बन्धसे आता है, जैसे शीत या गर्मी। कालान्तरमें वे घट जायँगे।

अनेक दुःख सम्बन्धसे आते हैं। घर, सामान, रुपया या पशु जबतक 'मेरा' है तबतक उसके खोये जाने, चुराये जाने, क्षतिग्रस्त होनेसे, नष्ट होनेसे दुःख होता है। वही दूसरेको दे दें या बेच दें तो उसका कुछ भी हो, कोई दुःख नहीं। पुत्र-स्त्री, सगे-सम्बन्धी आदिके कारण आनेवाला दुःख भी सम्बन्धका दुःख है।

जो दुःख अपने मनकी दुर्बलतासे होता है उसकी दवा बाहर कहीं नहीं हो सकती। वह तो मनकी दुर्बलता—मैं, मेरेपनका सम्बन्ध छोड़नेसे ही दूर होगा।

जानेहु ते छीजहिं कछु पापी।

जाननेसे भी दु:ख कम हो जाते हैं। चोट लगी, फोड़ा हो गया या ज्वर आगया। ये दु:ख शरीरमें होते हैं। शरीरमें जो होना था वह तो हो गया, उसे तो सहना ही पड़ेगा। रोग तो समयसे ही जायगा। अब इसमें मनको दु:खी करनेसे क्या लाभ? देहमें जो तादात्म्य है उसके कारण देहके दु:खसे होता है।

दु:ख भी चेतनाका एक विलास है। जब हम मूर्च्छित होते हैं, सुषुप्त होते हैं, ध्यानस्थ होते हैं अथवा अन्य किसी चिन्तामें लगे होते हैं तब पुराना दु:ख भूल जाता है।

एक व्यक्तिकी उँगलीमें चोट लग गयी तो वह 'हाय-हाय' करने लगा। उसी समय उसके घरमें आग लग जाय अथवा डाकू या सर्प आजाय तो उँगलीकी चोट भूल जायगी। बड़ा दु:ख आनेपर छोटा दु:ख भूल जाता है। गोली खिलाकर या इञ्जेक्शनसे शरीरको शून्य करके जब चीर-फाड़ करते हैं तो होशमें रहनेपर भी पीड़ा नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि दु:खका सम्बन्ध आत्मासे सर्वथा नहीं है। अपने दुराग्रहसे तादात्म्य, शरीरसे तादात्म्य तथा सम्बन्धादिके कारण ही दु:ख होता है। सौमें प्राय: निन्यानबे दु:ख बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धके कारण होते हैं। केवल एक प्रतिशत दु:ख अपने शरीरसे तादात्म्यके कारण होता है।

सब दु:खोंका मूल अपने स्वरूपका अज्ञान ही है। अपने परिच्छिन्न होनेकी भ्रान्ति दु:खका हेतु है।

सोना अग्निमें गिर जाय तो अज्ञानी चिल्ला उठेगा कि 'सोना जल जायगा' किन्तु जाननेवाला तो शान्त रहेगा। वह जानता है कि सोना कोई नोट थोड़े ही है जो जल जायगा। अग्निमें गिरनेसे उसका क्या बिगड़ता है। इसी प्रकार आत्मदेवको कभी दु:ख या दोष स्पर्श नहीं करते। केवल अज्ञानसे अपनेको परिच्छिन्न मानकर हम अपनेमें दु:ख दोष मानते हैं और उससे दुखी होते हैं। लोग तो भूगोल, खगोल, इतिहास या स्थानके सम्बन्धमें भला-बुरा मान लेते हैं।

वेदान्तका प्रयोजन तीन बातें छुड़ा देनेमें है—1. दु:ख, 2. अज्ञान और भ्रान्ति तथा 3. भय। इस भयने ही झूठे शत्रु और शंकाएँ बना डाली हैं।

आत्मत्वेन यदा सर्वम्—जब सबको अपने आत्मरूपमें जान लिया तब भय, दु:ख और अज्ञान कैसे रह सकेंगे!

मनुष्य तो एक आकारका नाम है। यह जाति है। जातिका लक्षण है—**नित्यमेकमनेकानुगतं जातिः**। जो नित्य हो, एक हो और अनेकमें अनुगत हो, उसे जाति कहते हैं। नित्यका अर्थ है जो सदासे चल रही हो। मनुष्यत्व एक है, उसमें व्यक्ति अनेक हैं। घट एक है, घटत्व जाति है। घड़े-घड़ेका भेद करें तो उसमें अपना पराया भरा है।

जिनमें इतना भी बड़प्पन नहीं आया कि अपनेको समग्र भारतका समझें उनसे देशको क्या आशा हो सकती है! स्वामी रामतीर्थ कहते थे—'मैं सम्पूर्ण भारत हूँ। पश्चिम-समुद्र मेरा दाहिना हाथ है तो पूर्व-समुद्र बायाँ हाथ। जहाँ शङ्कराचार्य उत्पन्न हुए वह मेरा मस्तिष्क है। जहाँ वृन्दावन धाम है वह मेरा हृदय है।'

आज तो प्रान्तीयता राष्ट्रीयताको खाये जा रही है। वैयक्तिक मोह परिवारका नाश कर रहा है। पारिवारिक ममता जातिके सर्वनाशपर उतारू है। जातीयताने धर्मकी उपेक्षा कर दी है। किन्तु यह ज्ञान तो वह महान् ज्ञान है जिसमें ब्रह्मासे कीड़ेतक, तृणसे सुमेरुतक एक हो जाते हैं, अपने स्वरूप हो जाते हैं।



● **संगति**

एक राजनैतिक नेताका कहना है—'संघर्षके बिना कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।' किन्तु यह अशान्तिका, दु:खका मार्ग है। एक ही अद्वितीय आत्मा सर्वरूपमें प्रकट हो रहा है। इसमें संघर्ष नहीं है। इसमें एकरस, आनन्दमय, अविरोधी जीवन्मुक्तका जीवन है।

मनुष्यको स्वभावतः भोगका, भौतिकताका जीवन अच्छा लगता है जिसमें अपने तथा दूसरेके भी दु:खी होनेकी ही अधिक सम्भावनाएँ हैं। यह जीवन नाना संघर्षोंसे भरा एवं सामाजिक विषमताओंसे आच्छन्न है। इससे छूटनेका मार्ग एकमात्र ज्ञान है। उसे बतला रहे हैं। ●

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि ह्यात्मत्वेन विजानतः।
न वै तस्य भवेन्मोहो न च शोकोऽद्वितीयतः॥ 54॥

ननु द्वैतादर्शने कः पुरुषार्थं इत्याशङ्क्य तत्प्रतिपादिकाम् 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत.' इति श्रुतिं पठति—यस्मिन्निति। अर्थः—यस्मिन्नवस्थाविशेषे सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेनात्मभावेन विजानतः। अपरोक्षेण साक्षात्कुर्वतोऽधिकारिणः पुरुषस्य। तस्येति षष्ठी सप्तम्यर्थे। तस्मिन्नवस्थाविशेषे वै निश्चयेन मोहो भ्रमो न भवेत्, च पुनः शोको व्याकुलतापि न भवेत्। उभयत्र हेतुः-अद्वितीयतः तत्कारणाभावादित्यर्थः॥ 54॥

जिस ज्ञानमें सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना आत्मा ही जान लेनेके कारण प्राणीको न मोह होता, न शोक; क्योंकि वह अद्वितीय है॥ 54॥

सर्वाणि भूतानि—सब प्राणी और पदार्थोंको जब अपना स्वरूप ही जान लिया तब मोह किससे होगा, क्योंकि मोह तो 'मैं' के प्रति नहीं, 'मेरा' के प्रति, और शोक भी 'मेरा' के लिए होता है। जब नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपना आत्मा अद्वितीय है तो मोह-शोकका तो कारण ही नहीं रहा। श्रुति कहती है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि ह्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

ज्ञानी सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना आत्मा ही जानता है अतः उस एकत्वदर्शीके लिए कैसा मोह, कैसा शोक! ●

श्रुति-प्रमाण

● संगति

ज्ञानी किसी काल्पनिक स्थितिमें रहकर एकत्व नहीं देखता। एकत्व ही वस्तुसत्य है और उसमें भेद-दर्शन भ्रम है। इसमें श्रुति प्रमाण है। ●

अयमात्मा हि ब्रह्मैव सर्वात्मकतया स्थितः।
इति निर्धारितं श्रुत्या बृहदारण्यसंस्थया॥ 55॥

शोककारणद्वैताभावे प्रमाणमाह—अयमिति। 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः' इत्यादिरूपयेत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्॥ 55॥

सर्वात्मरूपमें स्थित यह आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसा बृहदारण्यककी श्रुतिने निर्धारित कर दिया है॥ 55॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय।

—बृहदारण्यकोपनिषद्

वह यह विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है।

यह आत्मा विज्ञानमय है अर्थात् ज्ञानस्वरूप है और यही ब्रह्म है।



प्रपञ्चका मिथ्यात्व

● **संगति**

जब यह आत्मा विज्ञानमय है और यही ब्रह्म है तो प्रपञ्च अवश्य इससे भिन्न होगा; क्योंकि प्रपञ्च तो स्पष्ट ही जड़ दिखायी दे रहा है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि प्रपञ्च सत्य नहीं है। यह दृश्य जगत् स्वप्नके समान असत् है। जैसे स्वप्नावस्था भंग होनेपर स्वप्नके सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं वैसे ही जाग्रत् अवस्था टूटनेपर इसके सम्बन्ध भी समाप्त हो जाते हैं। यह बात दो श्लोकोंमें कही जा रही है। ●

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन्।
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधतः॥ 56॥

नन्वयं लोक एव तत्कारणे सति कथं शोकाद्यभाव उच्यत इत्याशंक्य सदृष्टान्तमाह—अनुभूत इति। स्पष्टम्॥ 56॥

यह लोक अनुभूत होनेपर भी, व्यवहार-क्षम होनेपर भी उत्तर-क्षण (ज्ञानोत्तर क्षण) में बाधित होनेके कारण असत्-स्वरूप है॥ 56॥

वाराणसीमें मैंने एक बार वहाँके सब संस्कृतके विद्वानोंको एकत्र किया था। लगभग 250 पण्डित आये थे। उनके साथ उनके 500 विद्यार्थी भी थे। उस विद्वत्समाजमें यह प्रश्न रखा गया—'स्वप्न सत्य है या मिथ्या?'

स्वप्न तो हमें ही दिखायी देता है। जो वस्तु हमें दिखायी पड़ती है और अनुभवमें आती है उसको झूठी कैसे कह दें? इसका एक ही उत्तर था—

बाधितं भवति वा न वा?

स्वप्नके दृश्य स्वप्नावस्था बीत जानेपर बाधित हो जाते हैं या नहीं? क्योंकि वे बाधित हो जाते हैं अतः उन्हें सत्य नहीं कह सकते।

न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वामर्शेन सहामन्ति।

—भागवत

विद्वज्जन जब तत्त्वका विचार करने लगते हैं तो उसमें व्यवहारको सम्मिलित नहीं करते। आप क्या खाते, क्या करते, क्या सोचते हैं, तत्त्व-विचारमें इसपर ध्यान नहीं दिया जाता। साधनाविचार और तत्त्वविचार भिन्न-भिन्न हैं। अखण्ड चिद्घनका विचार तत्त्वविचार है।

पाप-पुण्यका निर्णय पृथक्-पृथक् सम्प्रदायोंमें पृथक्-पृथक् है। हिंसाको पाप सब मानते हैं किन्तु हिंसाकी परिभाषामें आचार्य, देश, काल, समाज एवं परिस्थितिका प्रभाव पड़ता है। जब हम अखण्ड अविनाशी वस्तुका विचार करते हैं तब इतिहासके भिन्न-भिन्न देश, सम्प्रदाय, आचार्य आदिकी ओरसे एक बार दृष्टि हटाकर विचार करते हैं।

सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिय, देखिय सो अबिबेक॥

—रामचरितमानस

इसकी एक दूसरी भूमिका है—

निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं बिरोध।

तीसरी एक भूमिका है—

सब माया ही दिखायी देती है। ब्रह्ममें विरोध है नहीं। सब ईश्वर है तो भी विरोध नहीं है। सब माया या इन्द्रजाल है तो भी विरोधके लिए स्थान नहीं है।

जिसको लगता है कि अमुक व्यक्ति भक्त है और अमुक भक्त नहीं है, वह भक्त ही नहीं है; ऐसे व्यक्ति जो भक्त नहीं हैं, उन्हें भक्त बनाना चाहता है।

जो स्वयंको और दूसरोंको भी कर्त्ता समझता है उसे अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी चिन्ता रहती है। उसे दूसरोंके लिए भी चिन्ता होती है कि तुमने यह क्यों किया? यह क्यों नहीं किया?' इसमें संघर्ष होता है।

अवतार तो ईश्वर है। महात्मा ब्रह्म है, वह अकर्त्ता है। जगत्का उद्धार अवतारका काम है। अवतार धर्मस्थान, भक्त-रक्षण एवं दुष्टोंको दण्ड देनेके लिए होता है। महात्मा तो निवृत्ति-परायण होते हैं—जैसे दत्तात्रेय, वामदेव,

ऋभु, निदाघ, शुक्रदेव आदि। ये स्वयं लोगोंको ज्ञानोपदेश नहीं करते। जिसे ज्ञान चाहिए वह महात्माके समीप जाकर प्रार्थना करे, उनकी सेवा करे। महात्माके जीवनमें संघर्षकी बात सर्वथा नहीं होती।

आत्मा मुक्त होता है, देह मुक्त नहीं होता। जब कोई कहता है कि 'मेरा मन....' तब 'मेरा' वाला 'मैं किसे समझता है? सच बात यह है कि जब कोई मनको 'मेरा' कहते हुए मनकी स्थितिसे प्रसन्न या अप्रसन्न होता है तब अपने चर्म-मांसवाले इस देहको ही 'मैं' कहता है। हम यदि साक्षी हैं तो मनके भी साक्षी ही हैं। हम यदि शरीर या मनकी स्थितिका परिवर्तन चाहते हैं तो वह व्यवहारका ही परिवर्तन है। यह व्यवहार ज्ञानके उत्तर-क्षणमें बाधित हो जाता है, अत: परमार्थ ही अपरिवर्तनीय है।

● **संगति**

यद्यपि नगर-ग्राम, नदी-पर्वतादि सारी सृष्टि अनुभवमें आ रही है पर यह केवल संस्कार है। पृथ्वीमें यह भाग भारतवर्ष है, यह संस्कार है। जैसे वस्तुओंके नाम, रूप, गुण परिवर्तित होते रहते हैं ऐसे ही व्यक्तिके संस्कार भी परिवर्तित होते रहते हैं।

नाम-रूप, धर्म-अवस्था, विचार-संस्कार, गुण-आकार सब परिवर्तनशील हैं, केवल तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है, कभी बदलता नहीं। ऐसा तत्त्व ब्रह्म है। सिनेमाके दृश्योंके समान प्रपञ्च जो प्रतिक्षण बदल रहा है, यह स्वप्नके समान मिथ्या है।

स्वप्नो जागरणेऽलीकः स्वप्नेऽपि न हि जागरः।
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्युभयोर्न च॥ 57॥

दृष्टान्तं विवृण्वन्नुक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—स्वप्न इति। अलीको मिथ्या द्वन्यं स्वप्नजागरणे। लये सुषुप्तौ शेषं स्पष्टम्॥ 57॥

जाग्रत्-दशामें स्वप्न मिथ्या है, स्वप्नावस्थामें जाग्रत् नहीं है। जाग्रत् और स्वप्न दोनों सुषुप्तिमें नहीं हैं सुषुप्ति भी जाग्रत् या स्वप्न इन दोनोंमें नहीं है॥ 57॥

जागनेपर स्वप्न झूठा हो जाता है। जाग्रत्में तो स्वप्नका स्मरण होता है किन्तु स्वप्नमें जाग्रत्का स्मरण भी नहीं रहता। स्वप्न हमारे जीवनकी एक अवस्था है अत: विचारमें उसे त्याग देना समझदारी नहीं है।

मैंने कहा—'आज सिरमें दर्द है।'

एक सज्जन बोले—'कल आप नंगे-सिर समुद्र-किनारे घूम रहे थे इसीलिए सिरमें दर्द हो गया।'

इतना कहकर उन्होंने तो कर्त्तव्य पूरा मान लिया किन्तु इससे कलका घूमना तो आज लौटाया नहीं जा सकता, अब तो औषधिकी आवश्यकता है।

एकने पूछा—'हमको अमुकसे डर क्यों लगता है?'

'इसलिए लगता है कि तुमको उसपर विश्वास नहीं है, तुम्हें उससे प्रेम नहीं है।'

'यह कारण तो ठीक है किन्तु अब तो उस भयकी दवा चाहिए।'

'प्रेम करो उससे! विश्वास करो उसपर!'

यदि प्रेम और विश्वास आज्ञा देनेसे हो जाते तो हम सबको ऐसा बना देते। इसके लिए कोई विधि, कोई उपाय होना चाहिए।

जैसे जागृति जीवनकी एक अवस्था है वैसे स्वप्न भी जीवनकी एक अवस्था है। जाग्रत्में स्वप्न झूठा, स्वप्नमें जाग्रत् झूठा और दोनों अवस्थाएँ सुषुप्तिमें झूठी। सुषुप्ति-अवस्था स्वप्न या जाग्रत्में नहीं रहती।



अवस्थात्रयका मिथ्यात्व

● **संगति**

स्वप्नमें जाग्रत् नहीं, जाग्रत्में स्वप्न नहीं। सुषुप्ति इन दोनोंमें नहीं और ये दोनों सुषुप्तिमें नहीं; किन्तु तुम कौन? यह समझाते हैं। ●

त्रयमेवं भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम्।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येकश्चिदात्मकः॥ 58॥

उक्तमुपसंहराफलितमाह—त्रयमिति। त्रयं जाग्रदाद्यवस्थात्रयमेव-मुक्तपरस्परव्यभिचारेण मिथ्या। मिथ्यात्वे हेतुः—गुणेति। गुणत्रयविनिर्मितं मायाकल्पितमित्यर्थः। तर्हि किं सत्यमत आह—अस्येति। अस्य अवस्थात्रयस्य। शेषं स्पष्टम्॥ 58॥

तीनों अवस्थाएँ जो तीन गुणोंसे निर्मित हैं, मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं। इनका द्रष्टा गुणातीत, नित्य, एक और चिदात्मक हैं॥ 58॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंके द्रष्टा तुम हो।

जैसे घटसे आवृत आकाश घटाकाश है और अनावृत आकाश महाकाश, वैसे ही तीन अवस्थाओंवाले चित्तसे अवच्छिन्न चेतनको द्रष्टा कहते हैं और अनवच्छिन्न चेतनको ब्रह्म। किन्तु घड़ेके रहने या न रहनेका आकाशपर जैसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता वैसी ही स्थिति चित्तके रहने या न रहनेपर भी है।

ये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ एक चिदाकाशमें ही भासती हैं। चिदाकाश ही इनका अधिष्ठान और प्रकाशक है। आकाशके समान चित् तत्त्वमें हृदयके होने या न होनेका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अतः हृदयावच्छिन्न चिदाकाश और अनवच्छिन्न चिदाकाशमें कोई अन्तर नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है कि जीवत्व चिदाकाशमें नहीं है। देहकी उपाधिसे ही 'मैं जीव' यह कल्पना होती है। यह तुम्हारा व्यक्तित्व और इसमें जो सद्गुण-दुर्गुण हैं वे इस अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको यहाँ भी स्पर्श नहीं करते, ठीक वैसे ही जैसे घड़ेमें धूलि, धुआँ, दूध, शराब या गङ्गाजल, कुछ भी भरा हो, वे घटाकाशको स्पर्श नहीं करते। इस असङ्ग अवच्छिन्नानवच्छिन्न अखण्ड चैतन्यसे इस सबका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अस्य द्रष्टा गुणातीतः—जैसे घटका द्रष्टा घटसे अतीत होता वैसे इन अवस्थाओंका द्रष्टा भी गुणातीत होता है। स्थानका द्रष्टा होनेसे यह नित्य है। यही वस्तुओंका भी द्रष्टा है अतः वस्तुओंमें भेद होनेसे इसमें भेद नहीं होता। यह एक है।

चिदात्मकः—द्रष्टा होनेसे यह चेतन है।



जीव-ब्रह्मका एकत्व

● संगति

द्रष्टा होनेपर भी इसमें पृथक्त्व नहीं है। पृथक्त्व तो भ्रान्तिजन्य है, यह बतला रहे हैं। ●

यद्वन्मृदि घटभ्रान्तिं शुक्तौ वा रजतस्थितिम्।
तद्वद् ब्रह्मणि जीवत्वं वीक्ष्यमाणे न पश्यति॥ 59॥

नन्ववस्थात्रयं मिथ्या भवतु जीवस्तु सत्यः स्यादित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमुत्तरमाह-यद्वदिति। ब्रह्मणि वीक्ष्यमाणे आत्मत्वेन साक्षात्कृते सति जीवत्वं न पश्यतीत्यन्वयः। अन्यत् स्पष्टमेव॥ 59॥

जैसे मिट्टीमें घड़ेका और सीपमें चाँदीका भ्रम होता है, ऐसे ही ब्रह्ममें जीवका भ्रम है। अज्ञानी इसे देखता हुआ भी नहीं देख पाता है॥ 59॥

यद्वन्मृदि घटभ्रान्तिः—जैसे घट हो या घटत्व, वह मिट्टीमें एक भ्रम ही है। घट एक हो या एक सहस्र हों, मिट्टी तो मिट्टी ही है। जल एक बिन्दु हो या समुद्र, वह जल ही है। एक चिनगारी हो या जंगल जलता हो, है वह अग्नि ही। एक शरीरसे श्वास निकले या अन्धड़ चले, वायु ही तो है। अवकाश एक देहके भीतरका हो या नक्षत्रोंसे भरा हो, आकाश ही है। ऐसे ही चिद्धातु देश-काल-देहसे खण्डित नहीं होती। वह अखण्ड है।

जैसे मिट्टीमें घड़ेके पृथक् होनेका भ्रम होता है वैसे ही परमात्मासे यह सृष्टिभ्रम है। इसमें जीवत्व और संसारत्व भ्रमसे प्रतीत होता है।



जीवत्वका निषेध

● **संगति**

ब्रह्मसे भिन्न जीवका जीवत्व कुछ नहीं है, जीवत्व केवल भ्रम है, यह बतलाते हैं। ●

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथा परे॥ 60॥

अज्ञानावस्थायां प्रतीयमानो यो जीवब्रह्मभेदः स नाममात्र इति बहुदृष्टान्तैराह-यथेति। रजतस्य ख्यातिराख्या, नामेति यावत्। परे परे परब्रह्मणि जीवशब्दस्तथा। शेषं स्पष्टम्॥ 60॥

जैसे मिट्टीमें घड़ा केवल नाम है, स्वर्णमें कुण्डल नाम है, सीपमें चाँदी जैसे प्रतीतिमात्र है, वैसे ही परमात्मामें जीव शब्द नाम-मात्र है॥ 60॥

मिट्टीमें घड़ा या स्वर्णमें कुण्डल तो नाम और आकृति हैं किन्तु परमात्मामें जीवका कोई आकार नहीं है। जैसे सीपमें चाँदीकी केवल भ्रान्ति है ऐसे ही परमात्मामें जीव केवल नाम है। जीवत्वका भ्रममात्र होता है।



संसारत्वका निषेध

● **संगति**

जैसे परमात्मामें जीव केवल नाममात्र है वैसे ही जगत् भी नाममात्र ही है। यह बात चार श्लोकोंमें कही जा रही है। ●

यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि॥ 61॥

न केवलं जीव एक नाममात्रः किन्तु सर्वविश्वमपि ब्रह्मणि नाममात्रमित्यनेकदृष्टान्तैराह-यथैवेति। स्पष्टम्॥ 61॥

जैसे आकाशमें नीलिमा, जैसे मरुस्थलमें जल या जैसे ठूँठमें भूत प्रतीत होता है वैसे ही चेतन आत्मामें विश्व प्रतीत हो रहा है॥ 61॥

आकाशमें कोई रङ्ग नहीं है किन्तु क्षितिजका रङ्ग नीला दिखायी देता है। मरुस्थलकी तपती रेतमें जलका लेश नहीं है किन्तु सूर्यकी किरणोंके वक्रीभवनसे वहाँ जल लहराता प्रतीत होता है। ठूँठमें उतनी भी सजीवता नहीं जितनी हरे वृक्षमें होती है। इसी प्रकार चेतन अद्वितीय आत्मामें सर्वथा विपरीत, भेदपूर्ण जड़ जगत् अज्ञानसे प्रतीत हो रहा है। ●

यथैव शून्ये वैतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा।
यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थितिः॥ 62॥

नाममात्रप्रपञ्चस्य मिथ्यात्ववासनादोर्ढ्यायेममेवार्थं बहुभिर्लोकप्रसिद्धदृष्टान्तैः प्रपञ्चयति—यथैव शून्यं इत्यादित्रिभिः। शून्ये निर्जने देशे वैतालः

अकस्मादाभासमानो भूतविशेषः। गन्धर्वपुरस्यापि शून्याधिष्ठानत्वं ज्ञेयम्। गन्धर्व-नगरं नाम राजनगराकारो नीलपोतादिमेघरचनाविशेषः। आकाशे द्विचन्द्रत्वम्। स्पष्टमन्यत्॥ 62॥

जैसे शून्यमें वैताल (छायापुरुष) भासता है, जैसे गन्धर्व-नगर नाममात्र है, जैसे आकाशमें दृष्टिदोषसे दो चन्द्रमा चमकने लगते हैं, ऐसे ही सत्यमें जगत्‌की स्थिति है॥ 62॥

शून्यमें वैताल होता नहीं, हमारे मनकी कल्पनासे भासता है। आकाशमें गन्धर्वनगर होता नहीं, हमारे मनकी कल्पनासे दिखायी पड़ सकता है। आकाशमें दो चन्द्रमा होते नहीं, हमारी दृष्टिमें दोष होनेसे ही दिखायी देते हैं। इसी प्रकार जब हम परिच्छिन्न देहमें 'मैं' करके फिर शून्यको देखते हैं तो संसार सच्चा प्रतीत होता है। जब हम इस परिच्छिन्न देहमें 'मैं'की स्थापना करके अपनेको देखते हैं तभी जीवकी कल्पना करते हैं।

तत्त्वकी दृष्टिसे देखें तो न जीव है, न जगत्। एक परमात्मा ही परि-पूर्ण है।

यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम्।
पात्ररूपेण ताम्रं हि ब्रह्माण्डौघैस्तथात्मता॥ 63॥

यथा तरङ्गेति सुगमम्॥ 63॥

जैसे जल ही तरङ्गोंके रूपमें लहराता है, जैसे ताँबा ही बर्तन बना है, ऐसे ही आत्मा ही ब्रह्माण्डरूप है॥ 63॥

जैसे लहरियाँ उठती हैं, ज्वार आता है, फुहियाँ उड़ती हैं, पर इन सब रूपोंमें जलका ही विलास है। जैसे ताँबा ही नाना प्रकारके बर्तनोंका रूप ले लेता है इसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूपमें स्फुरित हो रहा है।

घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः।
जगन्नाम्ना चिदाभाति ज्ञेयं तत्तदभावतः॥ 64॥

घटेति। तत्र पादत्रयं स्पष्टम्। ननु किमनेन मिथ्यात्ववासनादार्ढ्येनेत्यत आह—ज्ञेयमिति। तदभावतो नामाभावतस्तद्ब्रह्म ज्ञेयम्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिश्रुतेः॥ 64॥

जैसे घड़ेके नामसे पृथ्वी और वस्त्रके नामसे सूत ही हैं इसी प्रकार जगत्‌के उन-उन रूपोंमें भी चित् सत्ता ही है॥ 64॥

घड़ा क्या है? घड़ेका नाम है। घड़ेके नामसे मिट्टी ही स्थित है। जिसे वस्त्र कहा जाता है वह सूतोंका समूह ही है। ऐसे ही जगत्के नामसे अपना आत्मा ही है।

जो कुछ दिखायी पड़ता है उन वस्तुओंका न कोई पृथक् स्थान है न समय, न पृथक् रूप है न गुण, न पृथक् धर्म है न भार।

हवाई जहाजसे देखें तो पृथ्वीके नगर घरौंदे जैसे दिखायी पड़ते हैं। इसका अर्थ है कि हमें जो संसार दृष्टिगोचर हो रहा है उसमें हम जहाँ बैठकर देख रहे हैं उस स्थानका महत्त्व है। हम शरीरमें बैठकर देखते हैं तो संसार बहुत बड़ा दिखलायी पड़ता है। हम छोटे बन गये तो संसार बड़ा हो गया।

देहमें 'मैं' करके हमने अपनी आयु पचास या सौ वर्ष मान ली तो संसारकी आयु करोड़ों वर्ष हो गयी। हमने अपनेको साढ़े तीन हाथका मान लिया तो विश्व करोड़ों मील विस्तारवाला समझमें आने लगा। हम अपनेको डेढ़-दो मनका समझने लगे तो जगत् करोड़ों मनका लगने लगा। एक देहमें 'मैं' कर लेनेसे ही यह देश-काल-वस्तुओंकी महत्ता जान पड़ती है अन्यथा हमारे स्वरूपमें जगत् प्रतीतिमात्र है।



ब्रह्ममय व्यवहार

● **संगति**

जब जगत् आत्माके अतिरिक्त है ही नहीं तो जगत्में जो क्रिया या व्यवहार दिखायी पड़ता है, वह भी ब्रह्ममय ही है, यह बात स्पष्ट कर रहे हैं। ●

सर्वोऽपि व्यवहारस्तु ब्रह्मणः क्रियते जनैः।
अज्ञानान्न विजानन्ति मृदेव हि घटादिकम्॥ 65॥

ननु 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इत्यादिश्रुत्यर्थदर्शनेनावस्थात्रये विदेहमोक्षा-वुक्तौ नतु जीवन्मोक्ष इत्याशङ्क्याह—सर्व इति। सर्वोऽपि लौकिको वैदिकश्चेति। शेषं स्पष्टम्। अयं भावः—अज्ञाननिवृत्तिरेव जीवन्मुक्तिर्नतु द्वैतादर्शनमिति॥ 65॥

जैसे घड़े आदिसे व्यवहार करते समय लोग उसे मिट्टी नहीं समझ पाते वैसे ही सब लोग व्यवहार ब्रह्मसे ही करते हैं किन्तु इसे अज्ञानके कारण जानते नहीं॥ 65॥

ब्रह्मणि ब्रह्म जृम्भते—सब व्यवहार ब्रह्मसे ही हो रहा है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मका यह विलास है। मैं जब 12-13 वर्षका था तो बलियाके एक गाँव गया। वहाँ मुझे अपने मित्रका छोटा भाई मिला। मेरी उससे मित्रता हो गयी। पत्र-व्यवहार चलता रहा किन्तु हम दोनों अनेक वर्षोंतक मिल नहीं सके।

वर्षों बाद जब वह प्रयाग विश्वविद्यालयमें पढ़ने लगा तब मैं उससे मिलने छात्रावास गया। उसके पास पहुँचकर उससे उसके माता-पिता, भाई-बहन एवं घरके अन्य लोगोंके सम्बन्धमें पूछा। तब उसने मुझसे पूछा—'आप कौन हैं?'

वह बार-बार मेरा परिचय पूछता रहा और मैं टालता गया। उसने मुझे प्रेमसे ठहराया तथा खिलाया-पिलाया। चलते समय जब मैंने उसे अपना परिचय दिया तो वह मुझसे लिपट गया। हम दोनों देरतक साथ रहे थे, साथ ही स्नान-भोजन किया था; किन्तु जबतक पहचान नहीं हुई थी, उसे मुझसे मिलनेका आनन्द नहीं मिला था।

इसी प्रकार हम सब संसारी लोग ब्रह्ममें ही रहते हैं, ब्रह्मको ही देखते, छूते, सुनते, सूँघते हैं, ब्रह्मसे ही रूठते हैं, उसे ही मानते हैं; सब मन-इन्द्रियोंका व्यवहार-विषय ब्रह्म ही है पर उसे पहचानते नहीं। हम जानते नहीं कि जिस पत्थरसे हम चटनी पीस रहे हैं वह पारस है अतः हम दरिद्र बने हैं। तात्पर्य यह कि महत्त्व अभिज्ञानका ही है।

गयाके प्रसिद्ध कवि श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी' एक सम्मेलनमें भाग लेने कलकत्ता गये और एक स्थानपर ठहर गये। 'हिन्दूपञ्च' के सम्पादक स्वर्गीय श्रीईश्वरीप्रसादजीसे उनका पत्र-व्यवहारका परिचय था। ईश्वरी-प्रसादजी उनसे मिलने आये तो उनसे ही पूछा—'मोहनलाल तुम्हीं हो?'

मोहनलालजी बोले—'नहीं, वे मेरे मित्र हैं। इस समय बाहर गये हैं।'

ईश्वरीप्रसादजीको उन्होंने बैठाया, जलपान कराया, फिर विदा कर दिया। दूसरे दिन वे फिर आये वही प्रश्न किया तो इन्होंने फिर कह दिया—'वे अभी-अभी तो निकले हैं। आपसे सीढ़ियोंपर भेंट नहीं हुई?' फिर बैठाया और जलपान कराकर विदा कर दिया।

तीसरे दिन कवि-सम्मेलनमें सभापति श्रीअम्बिकाप्रसाद वाजपेयीजीने जब मोहनलालजीका नाम लिया तो ये उठे। श्रीईश्वरीप्रसादजीने मञ्चपर ही कहा—'ओ, छलिया! हमसे प्रतिदिन मिलता था कह देता था कि बाहर गये हैं।' वहीं लिपट गये। इस छलका नाम ही माया है। पहचान न होनेसे मिलकर भी मिलनेका आनन्द नहीं आया।

करोड़ों रूपोंमें ईश्वर ही हमारी इन्द्रियोंका विषय होता है। वही पुष्प बनकर हमारे नेत्रोंको रिझाता है, पृथ्वी बनकर हमें वक्षपर धारण किये है, वायु बनकर हमारे हृदयमें प्रवेश कर रहा है और सुख-दुःख बनकर वही हमें गुदगुदाता है। उस परम ब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। अनमिला साजन है। अनजानी राह है। अतः हम उसके साथ रहकर भी, उसके साथ खेलकर भी उसे पहचान नहीं पाते।

अज्ञानान्न विजानन्ति—अज्ञानके कारण बच्चा नहीं जानता कि मिट्टी ही घड़ा है। सारी झंझट तो इसी बातकी है कि जो अपना नहीं है उसे हम अपना समझ लेते हैं। बच्चा आँगनमें खड़ा रो रहा है—'माँ कहाँ गयी?' माता आड़में खड़ी मुस्करा रही है। बच्चा इसीलिए रो रहा था कि उसे माँके समीप होनेका ज्ञान नहीं था। सभी महापुरुषोंने इसी संसारमें ईश्वरको पाया है।

सांख्यशास्त्र कहता है—'सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं अभिव्यक्ति होती है।' कारणके विकारसे अर्थात् मिट्टीकी गोली करके, चाकपर चढ़ाकर, हाथ एवं सूतकी सहायतासे मिट्टीमें घड़ा उत्पन्न किया जाता है; घड़ा कोई तत्त्व नहीं है। मिट्टी स्वयं जलसे, जल अग्निसे, अग्नि वायुसे और वायु आकाशसे अभिव्यक्त हुआ है।

सृष्टिमें पाँच प्रकारके पदार्थ देखनेमें आते हैं—1. ठोस, जैसे पृथ्वी, 2. तरल जैसे जल, 3. वायवीय, जैसे गैस, 4. अतिवायव्य, जैसे वायु और 5. अवकाश, जैसे आकाश। जगत्की मूल सत्ताकी यह अभिव्यक्ति है।

वैष्णव, शैव, शाक्त आदि उपासकोंके मनोंमें सृष्टि प्रकृतिकी नहीं, चैतन्यकी अभिव्यक्ति है।

अद्वैतवेदान्ती कहते हैं—'चैतन्यका अनुभव 'मैं'के रूपमें छोड़कर अन्यके रूपमें हो नहीं सकता अतः जिस चैतन्यकी अभिव्यक्ति या सृष्टि है वह हमारे 'मैं'से अभिन्न है। चैतन्यकी अभिव्यक्ति जड़की अभिव्यक्तिके समान परिणामात्मक नहीं होती, विवर्तात्मक होती है। अतः जगत् 'मैं'से अभिन्न चैतन्यकी विवर्तात्मक अभिव्यक्ति है।'

जो जिसकी अभिव्यक्ति होता है वह उससे पृथक् नहीं होता, जैसे पञ्चभूतोंकी अभिव्यक्ति वृक्ष पञ्चभूतोंसे पृथक् नहीं है। अतः यह प्रपञ्च जिस परमब्रह्म परमात्माकी अभिव्यक्ति है उससे न्यारा नहीं है। इसलिए हमारा सब व्यवहार ब्रह्ममें ही हो रहा है। हम ब्रह्ममें ही खाते-पीते, नहाते-सोते, उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं।

एक धोबी अपने गधोंको लेकर कपड़े धोने घाटपर गया। कपड़े उतारकर गधोंको बाँधने लगा तो संयोगवश एक गधेकी रस्सी नहीं मिली। वह चिन्तामें पड़ गया कि खुला छोड़नेपर गधा कहीं भाग न जाय। कोई सज्जन उधरसे निकले तो धोबीको उलझनमें पड़े देखकर कारण पूछा और बोले—'प्रतिदिन इसे जहाँ जैसे बाँधते थे वहीं झूठमूठ वैसे ही बाँध दो।'

धोबीने झूठमूठ गधेको बाँधनेका नाटक कर दिया। वह वहीं दिन भर खड़ा रहा। सायंकाल उसने सब गधोंको खोलकर हाँका तो उसे भी हाँकने लगा; किन्तु वह अपने स्थानसे नहीं हटा। धोबीको लगा कि वे सज्जन उसके गधेपर कोई जादू कर गये हैं। वह उनके घर दौड़ा गया। धोबीकी बात सुनकर वे बोले—'जैसे झूठ-मूठ बाँधा था वैसे ही झूठ-मूठ पहले खोल दो उसे।'

इसी प्रकार हमारा बन्धन और मोक्ष दोनों ही अज्ञानसे है। अज्ञानके कारण ही हम नहीं जानते कि सृष्टिमें कोई भी नाम, रूप, क्रिया, भाव, विचार परमात्मासे अतिरिक्त नहीं है। परमात्माके सिवा यहाँ कुछ भी नहीं है।



● **संगति**

सब ब्रह्म ही है ऐसा विश्वास कर लें तो इससे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो जायगी। विश्वास संशयको भी निर्मूल नहीं करता, केवल दबा देता है। अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है। विश्वका कारण ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं, यह ज्ञान होना चाहिए। अतः सोदाहरण दो श्लोकोंमें यह बतला रहे हैं। ●

कार्यकारणता नित्यमास्ते घटमृदोर्यथा।
तथैव श्रुतियुक्तिभ्यां प्रपञ्चब्रह्मणोरिह ॥ 66 ॥

तत्र हेतुं सदृष्टान्तमाह—कार्येति। यथा 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' इत्यादिश्रुतिः। युक्तिस्तु कार्यकारणयोरन्यत्वे एककारणज्ञानात्सर्व-कार्यज्ञानं न स्यादित्यादि। सुगममन्यत्॥ 66 ॥

जैसे घड़ा नित्यकार्य है और मिट्टी नित्यकारण है वैसे ही श्रुति और युक्तियोंसे भी प्रपञ्च एवं ब्रह्ममें नित्य कार्यकारणत्व है॥ 66 ॥

घटमृदोर्यथा—घड़ा नहीं था तब भी मिट्टी थी, घड़ा है तब भी मिट्टी है, घड़ा फूट जाय तब भी मिट्टी रहेगी। वस्तुतः मिट्टी ही मिट्टी है। उसमें घड़ेका केवल नाम और आकार कल्पित हुआ है। इसी प्रकार अनन्त, अखण्ड, अविनाशी, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वमें यह प्रपञ्च अध्यारोपित है।

● **संगति**

दृष्टान्त अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात्।
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चेऽपि ब्रह्मैवाभाति भासुरम्॥ 67 ॥

कार्यकारणयोरनन्यत्वमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति-गृह्यमाणइति। भासुरं प्रमाण-निरपेक्षतयैव भासनशीलम्। स्पष्टमन्यत्॥ 67 ॥

जैसे घड़ेको पकड़नेपर बिना चाहे भी मिट्टी भासने लगती है वैसे ही प्रपञ्चको देखनेपर इस रूपमें प्रकाशमान ब्रह्म ही भासित होता है॥ 67 ॥

एक स्वर्णकारने बच्चेसे कहा—'सोना ले आओ।'

बच्चा घरके भीतर गया और खाली-हाथ लौटकर बोला—'पिताजी, घरमें इस समय सोना नहीं है।'

स्वर्णकार घरमें गया और सोनेके आभूषण उठा लाया—'यह सब सोना ही तो है।'

इसी प्रकार अनेक नाम-रूप होनेपर भी प्रपञ्च ब्रह्म ही है।

एक पिताने बच्चेसे कहा—'अमुक काम कर दो तो तुम्हें मिठाई देंगे।'

बच्चेने काम कर दिया। पिता पेड़ा देने लगे तो बच्चा बोला—'यह तो पेड़ा है। मुझे तो मिठाई चाहिए।'

बच्चा अब बर्फी, जलेबी, रसगुल्ला, मिश्री आदि कुछ नहीं लेना चाहता तो उसे मिठाई कैसे मिले?

जब आप संसारकी किसी वस्तुको देखते हैं तो मिट्टी देखते हैं। इस प्रकार वस्तुतः यहाँ ज्ञान-ही-ज्ञान है और ज्ञान ही परमात्मा है। ज्ञानके प्रकाशके बिना वस्तुका दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ है कि ईश्वरके दर्शनके बिना आप संसारकी कोई वस्तु वैसे ही नहीं देख सकते, जैसे मिट्टी न देखना चाहें तो घड़ा नहीं देख सकते। मैं-तू, यह-वह सब ईश्वरके प्रकाशमें ही दिखायी पड़ते हैं।

घटावच्छिन्न आकाश घटाकाश है और घटानवच्छिन्नाकाश महाकाश है किन्तु आकाशमें तो यह भेद नहीं है।

इसी प्रकार विषयावच्छिन्न आनन्द विषयानन्द है और विषयानवच्छिन्नानन्द ब्रह्मानन्द; किन्तु आनन्द न विषयके घेरेमें है, न घेरेसे बाहर है। यह भ्रान्ति है कि नन्हें-नन्हें विषयोंसे आनन्द निकलता है। विषय तो आनन्दमें मिला कूड़ा-करकट हैं। वस्तुतः तो ब्रह्म ही है। इसीलिए महापुरुष गुड़ भी खाते हैं तो उन्हें ब्रह्मानन्द ही आता है। अज्ञानीको ब्रह्मानन्द भी गुड़ानन्द ही भासता है अतएव वह विषयके अधीन हो जाता है।

आनन्द न विषयसे अवच्छिन्न होता, न इन्द्रियसे, न अन्तःकरणसे ही। समाधिकालावच्छिन्नानन्द और समाधिकालानवच्छिन्नानन्द दोनों एक हैं किन्तु योगी समाधिके अधीन हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति क्रियाके, उपासक इष्टाकृतिके, भोगी भोगके, लोभी धनके तथा मोही परिवारके अधीन हो जाता है। वास्तवमें तो जैसे घड़ा देखनेपर मिट्टी दिखायी देती है ऐसे ही संसार देखनेपर ब्रह्म दिखायी देता है क्योंकि ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

जिनके मनमें केवल भोग या उपयोगकी ही वासना है वे वस्तुके मूलतत्त्वको पहचाननेका प्रयत्न ही नहीं करते।

जिसे यह इच्छा रहती है कि बाजारमें लोग मुझे देखें या मेरी ओर ध्यान दें, वह नकली हीरे-मोती पहनकर चलता है। ऐसा व्यक्ति यह विचार नहीं करता कि चाहे एक ही असली हीरा हो, घरमें एक मूल्यवान् वस्तु तो रहेगी।

जिनको राग-रंग, भोग-उपयोगसे वैराग्य है वे वस्तुकी वास्तविकता पहचाननेकी ओर ध्यान देती हैं। जैसे किसीको क्षणिक सुखकी चाह है तो उसके लिए विवाह अनिवार्य नहीं है किन्तु जिसे स्थायी दाम्पत्यसुख चाहिए उसके लिए तो विवाहका बन्धन आवश्यक है। इसी प्रकार जिसे एक जीवनके सुखकी चाह है वह विषयोंमें भटकता है पर जिसे अनन्त सुख चाहिए वह अन्तर्मुख हो जाता है।

जीवनमें वासनाकी नहीं, बुद्धिकी प्रधानता होनी चाहिए। इन्द्रियोंके क्षणभरके सुखके लिए मनका सुख बिगाड़ लेना समझदारी नहीं है। क्षणभर सुख हो और कई दिन पश्चात्ताप हो तो बुद्धिमानी क्या हुई!

दृष्टि वस्तुपर होनी चाहिए, उसके बाहरी दिखावेपर नहीं। सर्वत्र, सदा रहनेवाला सुख ऐसी वस्तुसे कैसे मिलेगा जो यहाँ है वहाँ नहीं, आज है कल नहीं। जो वस्तु सदा और सर्वत्र रहेगी उसे पा लेंगे तभी सदा सर्वत्र रहनेवाला सुख मिल सकेगा।

हम सुख तो चाहते हैं पर ऐसा सुख नहीं चाहते जिसका पता न लगे। पता ही न लगे तो सुख कैसा! अतः हम ज्ञानस्वरूप सुख चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब हम अपनी बुद्धिको त्यागकर या कम करके सुख चाहते हैं तब वह सुख टिकाऊ नहीं होता। नशे या जुएमें जो सुख है उसमें हमारी बुद्धि हमारे नियन्त्रणमें नहीं रहती। यह अपनेको अनियन्त्रित करके मिलनेवाला सुख है अतः अस्थिर है। हमारा सुख ज्ञानस्वरूप होना चाहिए। सुख पानेमें हमें किसीकी अधीनता नहीं चाहिए। सुख स्वाधीन होना चाहिए। किसीका दास बनकर उत्तम भोजन हमें नहीं चाहिए।

हर समय, प्रत्येक स्थान, सबमें रहनेवाला, ज्ञानस्वरूप सुख, जिसमें परतन्त्रता न हो, जिसमें भ्रम न हो, वह तो अपना स्वरूप ही है।



आभास-द्वैविध्य

● **संगति**

सुख अपना स्वरूप है और प्रपञ्च ब्रह्म ही है। आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है। ऐसी अवस्थामें तो प्रपञ्चका भान ही नहीं होना चाहिए?' इस आशंकाका समाधान करते हैं।

●

सदैवात्मा विशुद्धोऽस्ति ह्यशुद्धो भाति वै सदा।
यथैव द्विविधा रज्जुर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम्॥ 68॥

ननु ब्रह्मणि भासमाने प्रपञ्चो न भासेतेत्याशङ्क्यावस्था-भेदेनोभयमपि भासत इति सदृष्टान्तमाह—सदैवेति। तत्र ज्ञानिनः सदैवात्मा विशुद्धः। अज्ञान-तत्कार्यप्रपञ्चमलरहितत्वान्निष्प्रपञ्चोऽस्तीत्यर्थः। अज्ञानिनस्तु सदैवाशुद्धोऽस्तीति भ्रमाद्विभाति। वै हीति तत्प्रसिद्धौ। उभयत्रापि दृष्टान्तः—यथेति। यथा रज्जुर्ज्ञानिनः सर्पाभावतया निर्विषत्वेनाभयङ्करी। अज्ञानिनस्तु सर्परूपतया विपरीत्वेन भयङ्करीति द्विविधा भाति। अयं भावः—ब्रह्म यद्यपि स्वयंप्रकाशत्वेन सदा भात्येव तथापि वृत्त्या रूढत्वेन पुरुषार्थोपयोगीति ज्ञानिनः प्रतिभाति नाज्ञानिनः, सूर्यदीपादिरिव चक्षुष्मदन्धयोरिति दिक्॥ 68॥

जैसे एक ही रस्सी अज्ञानीको सदा सर्प और ज्ञानीको सदा रस्सी दिखायी देती है, वैसे ही एक ही आत्मा ज्ञानीको सदा विशुद्ध और अज्ञानीको सदा अशुद्ध भासता है॥ 68॥

सदैवात्मा विशुद्धोऽस्ति—यह आत्मा सदा शुद्ध है। अर्जुनको ऐसा लगता था कि मैं भीष्म-द्रोणादिको मारूँगा तो पापी हो जाऊँगा।

भगवान्‌ने उन्हें विराट् रूप दिखलाकर समझाया कि भीष्म-द्रोणादि तो पहलेसे ही मरे हुए हैं। इससे अर्जुनका यह विचार नष्ट हो गया कि 'मैं मारनेकी क्रियाका वर्णनकर्त्ता हूँ और मैं मारनेमें पापी हो जाऊँगा।'

आत्मा विशुद्ध है अर्थात् इसमें वस्तु-क्रियादिके संस्कार-विचारका लेप नहीं है।

रस्सी एक ही होती है किन्तु जाननेवालेको रस्सी दिखायी देती है, न जाननेवालेको सर्प। इसी प्रकार जाननेवालेको आत्मा शुद्ध भासता है, अनजानको अशुद्ध।

आत्मामें कर्म या भोगका लेप मानना या शरीरके कारण अपनेमें परिच्छिन्नता मानना अज्ञान है। यद्यपि आत्मा न देह है, न कर्त्ता, न भोक्ता; किन्तु उसके स्वरूपका अज्ञान उसमें यह प्रतीत करा देता है।

तुम्हारा स्वरूप ऐसा है कि तुममें कोई धब्बा नहीं लग सकता। धब्बा तो वस्त्रमें या शरीरमें लगता है। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो। पहले भी थे, अब भी हो, आगे भी रहोगे, किन्तु अपनेको ब्रह्म समझते नहीं। यह नासमझी कबसे है? 'कब', 'कहाँ', 'क्यों' इनका आदि नहीं होता, अतः नासमझी, अज्ञानका भी आदि नहीं है। विचार करनेपर यह नासमझी मिट जाती है।



आत्मानात्म-विभागका मिथ्यात्व

● **संगति**

ऊपरकी बातको दृष्टान्तके द्वारा स्पष्ट करते हैं कि केवल प्रतीत होनेसे प्रपञ्चके ब्रह्मत्वमें अन्तर नहीं आता। ●

यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः।
आत्मानात्मविभागोऽयं मुधैव क्रियतेऽबुधैः॥ 69॥

नन्वात्मा यदि सदैव निष्प्रपञ्चत्वेन भाति तर्हि किमर्थं देहात्मभेदो वर्णित इत्याशङ्क्याविवेकिनो देहव्यतिरिक्तात्म-बोधार्थं विवेकिनस्तु व्यर्थ एवेति सदृष्टान्तमाह—यथेति। तत्राबुधैरित्यकारप्रश्लेषे मुधैव क्रियते अपितु नेति काकुव्याख्यानम्। अन्यत्सर्वं सुगमम्॥ 69॥

जैसे घड़ा मिट्टीमय ही है वैसे ही शरीर भी चिन्मय है। अज्ञानी लोग व्यर्थ ही आत्मा-अनात्माका विभाग कहते हैं॥ 69॥

वेदान्तमें सुनाया जाता है कि जैसे घटका द्रष्टा घटसे पृथक् है वैसे ही शरीरका द्रष्टा शरीरसे विलक्षण है। किन्तु यहाँ इससे भिन्न बात कह रहे हैं कि जैसे घड़ा मिट्टी ही है वैसे ही शरीर भी चिन्मय है। एक परमात्माके अतिरिक्त दूसरी तो कोई वस्तु ही नहीं है। सृष्टि जब उसी परमात्माके अतिरिक्त दूसरी तो कोई वस्तु ही नहीं है। सृष्टि जब उसी परमात्माकी अभिव्यक्ति है तो तत्त्वकी दृष्टिसे शरीर भी ब्रह्मात्मक ही है।

पहले शरीरमात्रमें जो अहं बुद्धि थी उसे मिटाना आवश्यक था अतः देहसे आत्मा भिन्न है यह विवेक कराया। अब यह समझा रहे हैं कि देह कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

अबुध अर्थात् मूर्ख लोग ही यह विभाग कहते हैं कि यह आत्मा है, यह अनात्मा है। बात यह है कि समझानेके ढङ्गको ही जो सिद्धान्त मान बैठे वह मूर्ख तो है ही।

देहदेहिविभागोऽयं अविवेककृतः पुरा।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः॥

—भागवत

जैसे जाति और व्यक्तिका विभाग वस्तुमें कल्पित है वैसे ही देह और देहीका विभाग भी अनादि अज्ञानसे है।

वैष्णव मानते हैं कि श्रीकृष्णके श्रीविग्रहमें चैतन्य-जड़का भेद नहीं अर्थात् जैसे हम विवेक करते हैं कि घटका द्रष्टा मैं घटसे पृथक् हूँ, अतः देहका द्रष्टा मैं देहसे भी पृथक् हूँ, ऐसा विवेक भगवान् नहीं कर सकते; क्योंकि सम्पूर्ण पञ्चभूत एवं प्रकृतिको वे अपना स्वरूप देख रहे हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर ये तीनों ही उनके स्वरूप हैं। इसीलिए कहा गया है—

देहदेहिविभागोऽयमीश्वरे न प्रवर्तते।

यह ब्रह्म रस्सी और सीपके समान है जिसमें यह देह सर्प और रजतके समान प्रतीयमान हो रहा है।

केवल देहको ही आत्मा समझने लगे तो यह मूर्खता होगी। परमात्म-ज्ञानका तात्पर्य यह है कि देहकी भ्रान्ति छूट जाय। शरीरको आत्मा 'मैं' तो मच्छर, चींटी, कीड़े भी मानते हैं।

शास्त्र संसारको असत्य बतलाते हैं। श्रीरामचरित मानसमें आया है—
रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुःख अहई॥

जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है। अतः जगत्के रूपमें प्रतीत हो रहा है, वह ब्रह्म ही है। यह बात प्राचीन ग्रन्थोंमें बार-बार लिखी है। इसका अभिप्राय सब अपने-अपने ढङ्गसे निकालते हैं।

उपासक कहते हैं—'जगत्को मिथ्या कहनेका तात्पर्य है कि जगत्की वासनाका त्याग करो। मिथ्याका अर्थ नगण्य है। संसारका मोह छुड़ानेके लिए इसे शास्त्रमें मिथ्या कहा है।'

गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः।
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः॥—भागवत

दिखायी पड़नेवाले ये सब पदार्थ गन्धर्वनगरके समान, स्वप्नके समान, मायाके समान अथवा मनोराज्यके समान है; किन्तु ये सब मानसिक ही हैं। वस्तुतथ्य के बिना इनकी सत्ता सही समझमें नहीं आती।

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।

भागवत का तो यह अन्तिम उपदेश ही है। वैष्णव कहते हैं—'सब ब्रह्म ही है, शास्त्रके इस वर्णनका तात्पर्य है कि कहीं रागद्वेष मत करो।'

यथैव मृन्मयः कुम्भः—घड़ा सत्य नहीं है, मिट्टी सत्य है। घड़ेमें जल भर लें, उसका उपयोग कर लें किन्तु घड़ा तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म समस्त सृष्टिकी मूल धातु है। इसमें 'मेरा-तेरा' मनकी कल्पना है। श्रुति कहती है—

'सद् हीदं सर्वम्' 'चिद्हीदं सर्वम्'
'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'स वेदं सर्वम्'
'आत्मैवेदं सर्वम्' 'अहमेवेदं सर्वम्'

'इदं सर्वम्'को ही इन श्रुतियोंमें सत्, चित्, ब्रह्म, सः, आत्मा और अहम् कहा गया है अर्थात् एक ही तत्त्व सत्, चित्, ब्रह्म, सः, आत्मा और अहम् पदोंका वाच्य है। यह सब प्रपञ्च उसी परमात्माका स्वरूप है।

जब यह सब अपना आत्म-चैतन्य ही है तब इसमें रागद्वेष किस बातका? इसमें अभाव और वासना कैसी? जीवन तो पूर्ण है किन्तु उस पूर्णताको न जाननेके कारण ही राग-द्वेष-भय आदि होता है। अतः अपनी पूर्णताको जाननेके लिए यत्न करना चाहिए।

यहाँ जड़-चेतनका विभाग नहीं है। सृष्टिका चाहे जो रूप भासता हो—वह प्रलयके समयका हो या सृष्टिके समयका, लोगोंने उसका चाहे जो नाम रख दिया हो, उसकी चाहे जो अवस्था हो, है वह परमब्रह्म परमात्मा ही।

कल पूरा दिखायी देता था, आज अधूरा, इसमें पश्चात्ताप क्यों? आज अमुक कर्म या दृश्य अधूरा है; कल पूरा होगा, यह प्रतीक्षा क्यों? जो कुछ जैसा है, अभी, इसी अवस्थामें परिपूर्ण है। तुम्हारा जीवन इसी समय पूर्ण तृप्त है क्योंकि तुम ज्ञानस्वरूप हो। जो भी समय होगा उसमें यह पूर्ण ही होगा, तृप्त ही होगा। अपनी पूर्णताको देखो, अपनी अथवा अन्यकी त्रुटियोंको नहीं। जिसने स्वर्णकी सिल्ली या हारको ही स्वर्ण जाना उसने तो स्वर्णका तिरस्कार कर दिया। कंकण, कुण्डल, हार, सिल्ली आदि सभी रूपोंमें जिसने स्वर्णको पहचान लिया उसीने स्वर्णको ठीक-ठीक पहचाना है।



● **संगति**

यह ठीक है कि आत्मा-अनात्माका विभाग नहीं है, सब ब्रह्म ही है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि देह ही आत्मा है। देह भी आत्मा है; किन्तु देहको ही आत्मा मान लेना मूर्खता है। अब यही बात समझानेके लिए पाँच श्लोकोंमें दृष्टान्तोंकी एक माला ही प्रारम्भ कर रहे हैं। ●

सर्पत्वेन यथा रज्जू रजतत्वेन शुक्तिका।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता॥ 70॥

इदानीमविवेकिनः कल्पितदेहतादात्म्यं सदृष्टान्तमाह-सर्पत्वेनेति॥ 70॥

जैसे अज्ञानी व्यक्ति रस्सीको सर्प या सीपीको चाँदी समझ ले वैसे ही अज्ञानी द्वारा देहको ही आत्मा निश्चय कर लिया गया है॥ 70॥

जो रस्सीको सर्प या सीपीको चाँदी देखता है वह तो प्रतीतिको ही सत्य माननेवाला मूर्ख है। ऐसे ही देहको आत्मा निश्चित करना तो प्रतीतिको ही सत्य मान लेने जैसी मूर्खता है।

घटत्वेन यथा पृथिवी पटत्वेनेव तन्तवः।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता॥ 71॥

घटत्वेनेति स्पष्टम्॥ 71॥

जैसे कोई घड़ेको ही पृथ्वी और वस्त्रको ही सूत मान ले, ऐसे ही विमूढ़ व्यक्तिके द्वारा देहको ही आत्मा मान लिया गया है॥ 71॥

कोई घड़ेको ही पूरी पृथ्वी मान ले तो उसे क्या कहा जाय! पृथ्वीमें लाखों-करोड़ों वृक्ष-नदी-पर्वत हैं, असंख्य शरीर हैं, फिर भी मान लिया जायगा कि घड़ा ही पृथ्वी है तो यह बुद्धि-दारिद्र्य ही कहा जायेगा। शरीरका 'मैं' मान लेना भी ऐसा ही है क्योंकि 'मैं' तो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है।

कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम्।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता॥ 72॥

कनकमिति॥ 72॥

जैसे कोई कुण्डलको ही स्वर्ण या तरङ्गको ही जल समझ ले, ऐसे ही मोहमें पड़े व्यक्तिने देहको ही आत्मा समझ लिया है ॥ 72 ॥

हार, सिल्ली या अन्य आभूषणोंको स्वर्ण न समझकर जो कुण्डलको ही सोना, अथवा तरङ्गको ही जल या समुद्र समझ ले वह मूर्ख ही कहा जायगा। अपनी मूर्खता स्वयं दूर करनी पड़ती है। किसीके बदले जैसे कोई दूसरा स्नान-भोजन-शयनादि नहीं कर सकता ऐसे ही अपने अज्ञानको स्वयं ही दूर करना पड़ता है। किसीके लिए कोई दूसरा यह काम नहीं कर सकता।

पुरुषत्वे यथा स्थाणुर्जलत्वेन मरीचिका।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥ 73 ॥

पुरुषत्व इति स्पष्टम् ॥ 73 ॥

जैसे कोई ठूँठको ही पुरुष या किरणोंको जल समझ ले ऐसे ही मूढ़ पुरुषके द्वारा शरीरको आत्मा समझ लिया गया है ॥ 73 ॥

कोई ठूँठको चोर मान ले, मृगमरीचिकाको पानी समझ ले तो माना जायगा कि उसकी बुद्धि भ्रममें है। ऐसे ही कोई अपनी आत्माको शरीर समझ बैठे तो वह मूढ़ है।

गृहत्वेनेव काष्ठानि खड्गत्वेनेव लोहता।
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ॥ 74 ॥

गृहत्वेनेति। सर्पत्वेनेत्यादिपञ्चानामप्येतेषां श्लोकानामर्थः स्फुटतर एवास्त्यातो न व्याख्यानं कृतम् ॥ 74 ॥

जैसे कोई लकड़ीको ही घर, अथवा तलवारको ही लोहा मान ले, ऐसे ही मूढ़ द्वारा देह ही आत्मा मान लिया गया है ॥ 74 ॥

लकड़ी चौड़ी हो तो उसकी छायामें सो सकते हैं; वर्षामें भीगनेसे बच सकते हैं; किन्तु इससे लकड़ीको घर तो नहीं माना जा सकता। यह भी ठीक है कि खड्ग लोहेसे बना है पर खड्गमात्र ही तो लोहा नहीं है, ऐसे ही कोई देहको ही आत्मा समझ ले तब तो यह मूर्खता है।



● **संगति**

अब तक ऐसे दृष्टान्त दिये गये जिनसे लगता है कि देह आत्मा तो है किन्तु देह ही आत्मा नहीं है। जैसे कुण्डल सोना तो है, पर कुण्डल ही सोना नहीं है। दूसरे भी दृष्टान्त इसी कोटिके हैं। अब बारह श्लोकोंमें इस बातको दृष्टान्तों द्वारा समझा रहे हैं कि आत्मामें देह प्रतीतिमात्र है, देहका नाम-रूप आत्मा नहीं है। ●

यथा वृक्षविपर्यासो जलाद्भवति कस्यचित्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 75 ॥

नन्वन्यथानिर्णये किं कारणमिति चेत्तदज्ञानमेवेति सदृष्टान्तमाह-यथा वृक्षेत्यादिद्वादशभिः ॥ 75 ॥

जैसे किसीको जलमें पड़े वृक्षके प्रतिबिम्बमें ही वृक्षका भ्रम हो जाता है वैसे ही व्यक्ति अज्ञानके कारण आत्माको देह समझ लेता है ॥ 75 ॥

सरोवरके किनारे एक भवन बना है। सरोवरमें पूरे भवनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। अब कोई उस प्रतिबिम्बको ही भवन मानकर सरोवरमें कूद पड़े तो! इसी प्रकार यह जगत् अन्तःकारणका प्रतिबिम्बमात्र है।

जैसे वृक्षका उलटा रूप जलमें दिखायी देता है वैसे ही अज्ञानके कारण अपना आपा शरीरके रूपमें दिखलायी पड़ता है। इस हड्डी-मांस, स्नायु-मज्जा, रक्त-चर्म, मल-मूत्र, नख-रोमके थैलेको 'मैं' मान लेना बुद्धिका दोष है। स्वच्छता, पवित्रताका कोई प्रेमी इस गन्दे पुतलेको 'मैं' कैसे स्वीकार कर सकता है।

पोतेन गच्छतः पुंसः सर्वं भातीव चञ्चलम्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 76 ॥

पोतेनेति। पोतेन नौकया। स्पष्टमन्यत् ॥ 76 ॥

जैसे जहाजमें बैठकर जाते पुरुषको सब दृश्य चञ्चल दिखलायी पड़ता है ऐसे ही अज्ञानके कारण आत्मामें शरीर दिखलायी देता है ॥ 76 ॥

नौकारूढ चलत जग देखा।
अचल मोह बस आपुहिं लेखा॥

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी।
कहहिं परसपर मिथ्यावादी।।
चितवहिं लोचन अंगुलि लाये।
प्रगट जुगल ससि तिनके भाये।।
उमा राम विषयक अस मोहा।
भ्रम तम धूरि धूम जिमि सोहा।।

अपने नेत्र चञ्चल हों तो संसार चञ्चल दिखायी देता है। इसी प्रकार अपने स्वरूपके अज्ञानसे मनुष्य अपनेको शरीर समझ लेता है।

पीतत्वं हि यथा शुभ्रे दोषाद्भवति कस्यचित्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 77 ॥

पीतत्वमिति ॥ 77 ॥

जैसे किसी रोगके कारण श्वेत वस्तु भी पीली दिखायी देती है वैसे ही अज्ञानसे आत्मामें शरीर दिखायी पड़ता है ॥ 77 ॥

किसीको जब पाण्डु रोग हो जाता है तब नेत्रोंमें पीला रंग आ जानेके कारण सब श्वेत वस्तुयें पीली दिखायी देती हैं। नेत्रपर रंगीन चश्मा लगा लेनेपर सब दृश्य रंगीन समझमें आता है। ऐसे ही अज्ञानका चश्मा लगा होनेके कारण आत्मामें शरीरका भ्रम होता है।

चक्षुर्भ्यां भ्रमशीलाभ्यां सर्वं भाति भ्रमात्मकम्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 78 ॥

चक्षुर्भ्यामिति ॥ 78 ॥

जैसे कोई एक स्थानपर चक्कर लगाने लगे तो नेत्रोंके घूमनेसे सब दृश्य घूमता प्रतीत होता है वैसे ही अज्ञानके कारण आत्मामें देह दिखायी देता है ॥ 78 ॥

खेलते समय बच्चे दोनों हाथ फैलाकर गोले-गोल घूमते हैं। हम भी घूमते थे। जितने वेगसे हम घूमते थे उतने ही वेगसे मकान, वृक्ष, पशु आदि घूमते प्रतीत होते थे। इसी प्रकार अंतःकरणकी जड़ता या अज्ञानके द्वारा देखे जानेके कारण आत्मामें जड़ देह दिखायी देता है।

अलातं भ्रमणेनैव वर्तुलं भाति सूर्यवत्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 79 ॥

अलातमिति ॥ 79 ॥

हाथमें उल्मुक पकड़कर घुमानेसे उसका गोला सूर्यकी भाँति चमकने लगता है। इसी प्रकार अज्ञानके कारण आत्मामें शरीर दिखायी देता है ॥ 79 ॥

उल्मुक (जलती लकड़ी) हाथमें लेकर उसे घुमानेपर गोल अग्निचक्र दिखायी देता है, वस्तुतः वह गोल है नहीं। बिजलीका पंखा चलाते हैं तो वह गोलाकार लगता है, साकार पंखा निराकार लगने लगता है। यह नेत्रका दोष है क्योंकि नेत्र पंखड़ियोंकी गतिको पकड़ नहीं पाते। इसी प्रकार पूर्णताको, द्वैत-रहित अद्वितीयताको, वृत्तिरहित ज्ञानस्वरूपताको ग्रहण न कर सकनेके कारण ही अज्ञानी पुरुष अपनेको शरीर मान लेते हैं।

महत्त्वे सर्ववस्तूनामणुत्वं ह्यतिदूरतः।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 80 ॥

महत्त्व इति। हीति सर्वलोकप्रसिद्धौ ॥ 80 ॥

जैसे सभी बड़ी वस्तुएँ बहुत दूरसे देखनेपर बहुत छोटी दिखायी देती हैं ऐसे ही अज्ञानके कारण आत्मामें शरीर दिखायी देता है ॥ 80 ॥

बहुत दूरसे देखें तो दूरीकी उपाधिके कारण बड़ा पर्वत भी छोटा दिखायी देता है। सूर्य पृथ्वीसे कई-लाखगुना बड़ा है पर दूरीके कारण छोटा लगता है। ऐसे ही अज्ञानकी उपाधिसे अपना शरीर ही आत्मा समझमें आता है।

सूक्ष्मत्वे सर्ववस्तूनां स्थूलत्वं चोपनेत्रतः।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 81 ॥

सूक्ष्मत्वे इति ॥ 81 ॥

सब सूक्ष्म पदार्थ जैसे उपनेत्र (अणुवीक्षण यन्त्र) लगा लेने पर बड़े दिखायी देने लगते हैं ऐसे ही अज्ञानसे अपने आत्मामें शरीर दिखायी देता है ॥ 81 ॥

हमारी इन्द्रियाँ वस्तुके यथार्थ रूपको नहीं बतलातीं। ये इन्द्रियाँ जो कुछ बतलाती हैं उसमें, काल, देशकी दूरी एवं वस्तुके प्रभावका हाथ है। जबतक इनके प्रभावको दूर करके नहीं जानेंगे तबतक वस्तुका सच्चा स्वरूप ज्ञात नहीं होगा। अन्तःकरणकी उपाधि, देरी या दूरी अथवा इन्द्रियोंकी शक्ति वस्तुके स्वरूपको परिवर्तित कर देती है। इन्हींके भ्रममें पड़ जानेके कारण आत्मामें शरीर भास रहा है।

काचभूमौ जलत्वं वा जलभूमौ हि काचता।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 82 ॥

काचभूमाविति ॥ 82 ॥

काँचमें जड़ी भूमिमें जैसे जलका और जलमें काँचका भ्रम होता है ऐसे ही अज्ञानसे आत्मामें शरीर दिखायी देता है ॥ 82 ॥

महाभारतकी प्रसिद्ध कथा है कि मय दानवने राजा युधिष्ठिरकी राजसभा ऐसी बनायी थी कि उसमें दुर्योधनको सूखे स्थानमें जलका भ्रम हो गया और उसने अपने वस्त्र ऊँचे उठा लिये। आगे उसे जलमें सूखे स्थलका भ्रम हुआ, फलतः वह जलमें गिर पड़ा। जैसे वह मयका रचना-कौशल था वैसे ही यह मायाका, अज्ञानका ही प्रभाव है कि चेतन आत्मामें जड़ शरीर भास रहा है।

यद्वदग्नौ मणित्वं हि मणौ वा वह्निता पुमान्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 83 ॥

यद्वदिति ॥ 83 ॥

जैसे पुरुष भ्रमसे अग्निको मणि अथवा मणिको अग्नि समझ लेता है ऐसे ही आत्मामें अज्ञानके कारण शरीर देखता है ॥ 83 ॥

कहीं चिनगारी पड़ी हो तो लगता है कि वहाँ मणि चमक रही है। कहीं सचमुच मणि हो तो लगता है अग्निकी चिनगारी पड़ी है। ऐसे ही अज्ञानके कारण अपना आत्मा जड़, दृश्य शरीर दिखायी दे रहा है। शरीरको आत्मा समझ लेना भ्रम ही है।

अभ्रेषु सत्सु धावत्सु सोमो धावति भाति वै।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 84 ॥

अभ्रेष्विति ॥ 84 ॥

दौड़ते तो मेघ है किन्तु लगता है कि चन्द्रमा दौड़ रहा है, ऐसे ही अज्ञानके कारण आत्मामें शरीर दिखायी देता है ॥ 84 ॥

बादल चलते हैं तो चन्द्र चलता प्रतीत होता है। यहाँ नेत्रको झूठा दिखला रहे हैं। हम अपनी बुद्धिका, ज्ञानका तिरस्कार करके इन्द्रियोंकी बात मान लेते हैं, जैसे कोई पुरुष सती नारीका तिरस्कार कर कुलटा पत्नीके वशमें हो जाय। इन कुलटा इन्द्रियों पर विश्वास करनेसे ही देहमें आसक्ति है। ये जो एकरस, स्थिर आत्मामें विकारी एवं चञ्चल शरीर दिखला रही हैं, यह मिथ्या है।

यथैव दिग्विपर्यासो मोहाद्भवति कस्यचित्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 85 ॥

यथेति। यथा वृक्षेत्यादिश्लोकानां स्फुटार्थत्वात् पिष्टपेषणतुल्यत्वेन व्याख्यानं कृतम् ॥ 85 ॥

जैसे मोहवश किसीको दिग्भ्रम हो जाता है ऐसे ही अज्ञानके कारण मनुष्य आत्माको शरीर समझ लेता है ॥ 85 ॥

कभी-कभी बुद्धिमान व्यक्तिको भी दिग्भ्रम हो जाता है। मेरे पितामह मुझे दस वर्षकी आयुमें गाजीपुर ले गये। मुझे ध्यान था कि जैसे मेरे गाँवसे उत्तर गङ्गाजी हैं वैसे गाजीपुरसे उत्तर हैं। फल यह हुआ कि वहाँ दक्षिण उत्तर लगने लगा क्योंकि गाजीपुरसे गङ्गाजी दक्षिण हैं। मैं कई बार वहाँ गया किन्तु वह भ्रम बना ही रहा। यद्यपि वहाँ मैं सन्ध्या करता था, सूर्यको अर्घ्य देता था, दिशाओंको बुद्धिसे ठीक सोच लेता था; किन्तु संस्कार ऐसा बन गया था कि पूर्व पश्चिम ही लगता रहा। बात करने और व्यवहारमें तो भूल नहीं होती थी किन्तु जो मुझे पूर्व लगता था उसे पश्चिम मानकर व्यवहार करना पड़ता था।

संस्कार बड़ा प्रबल होता है। प्रतीति पृथक् होनेपर भी ज्ञानमें अन्तर नहीं होता है। ज्ञानीको शरीर प्रतीत होता है पर उसके ज्ञानमें वह आत्मा है। अज्ञानी आत्मामें संस्कारवश शरीरको 'मैं' मानता है।

यथा शशी जले भाति चञ्चलत्वेन कस्यचित्।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ 86 ॥

यथा शशीति। शशीत्युपलक्षणं सूर्यादीनामपि। शेषं स्पष्टम् ॥ 86 ॥

जैसे जलमें किसीको चन्द्रमा चञ्चल दिखायी देता है ऐसे ही अज्ञानके कारण आत्मामें शरीर दिखायी देता है ॥ 86 ॥

चन्द्रमा चञ्चल नहीं है। जल चञ्चल है अतः उसमें पड़नेवाला चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब चञ्चल है। ऐसे ही अन्तःकरणका चाञ्चल्य अज्ञानसे आत्मामें आरोपित हो गया है। आत्मामें यह आने-जानेवाला सूक्ष्म-शरीर अज्ञानसे ही प्रतीत होता है।



ज्ञानसे देहाध्यास-निवृत्ति

● **संगति**

अज्ञानके कारण आत्मामें जो शरीरकी प्रतीति होती है वह ज्ञानसे मिट जाती है, यह दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं। ●

एवमात्मन्यविद्यातो देहाध्यासो हि जायते।
स एवात्मपरिज्ञानाल्लीयते च परात्मनि॥ 87॥

एवं द्वादशभिः श्लोकैरुक्तार्थमुपसंहारति-एवमिति। एवमुक्तेन प्रकारेणात्मन्य-विद्यातः आत्माऽज्ञानात् देहाध्यासो मनुष्योऽहमित्यादिबुद्धिर्जायते भवति। हीति प्रसिद्धौ। नन्वेतस्य निवृत्तिः कुतो भवेदिति चेदात्मज्ञानादे-वेत्याहोत्तरार्धेन-स इति। स एव देहाध्यास एवात्मपरिज्ञानात् ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारात्परात्मनि अज्ञानतत्कार्यरहिते प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि लीयते ब्रह्म-स्वरूपेणावतिष्ठते। नह्यधिष्ठानं विनाऽऽरोपितस्य स्वरूपमस्ति। चकारादव्यास-कारणमज्ञानमपि लीयते इति। अन्यथाऽध्यासलया-भावादित्यर्थः। नहिं करणे सति कार्यस्य लयः सम्भवति। तस्मादात्मज्ञानादेव सकारणकार्याध्यासनिवृत्तिरित्यलं पल्लवितेन॥ 87॥

इस प्रकार अविद्यासे आत्मामें देहाध्यास हो जाता है। वह अविद्या आत्मज्ञान हो जानेपर परमात्मामें लीन हो जाती है॥ 87॥

अविद्यासे आत्मामें देहाध्यास है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपको न जाननेके कारण यह विपरीत बुद्धि है कि 'मै शरीर हूँ।' यह नियम है कि जो जिसमें अध्यस्त होता है वह उसमें किंचिन्मात्र भी नहीं रहता। जैसे रस्सीमें सर्पका अध्यास है तो रस्सीमें सर्पका लेश भी नहीं है। इसी प्रकार आत्मामें 'मैं देह हूँ' यह अध्यास है तो आत्मामें देह सर्वथा नहीं है।

यह शरीर, अहंवृत्ति, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थामें आत्मामें नहीं है फिर भी उसमें इनका अध्यास हो रहा है। आत्माका ज्ञान हो जाय तो यह देहाध्यास लीन हो जाय। पञ्चभूत, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, प्रकृति आदि सब अध्यास है।

● संगति

जब ज्ञान होनेपर 'सर्वमात्मा अर्थात् सबको आत्मा जान लिया तो सर्वका भेद निवृत्त हो जानेसे शरीरके भेद ज्ञानके लिए स्थान ही कैसे रह सकता है, यही कह रहे हैं।

सर्वमात्मतया ज्ञातं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
अभावात्सर्व भावानां देहस्य चात्मता कुतः॥ 88॥

एतदेव विवृणोति-सर्वमिति। आत्मता देहस्य नेत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥ 88॥

जब चराचर सम्पूर्ण जगत्को आत्मस्वरूपमें जान लिया तो सभी भावोंका अभाव हो गया, फिर शरीरमें आत्मबुद्धि कैसे रह सकती है॥ 88॥

सचराचर अपना आपा है, यह बोध हो गया तो अपनेसे भिन्न दूसरा कोई रहा ही नहीं। अपनेसे पृथक्ताके भावका अभाव हो गया। ऐसी अवस्थामें 'शरीर मैं हूँ' यह बुद्धि कैसे रह सकती है।



मननशीलकी रहनी

• संगति

ज्ञानी इस प्रकार रहे, ऐसा आदेश तो शास्त्र भी नहीं दे सकता; किन्तु 'सब आत्मा ही है' इस प्रकार मनन-निदिध्यासन करनेवाला जो साधक है वह कैसे रहे, यह बतला रहे हैं। ●

आत्मानं सततं जानन्कालं नय महाद्युते।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि॥ 89॥

ननु ज्ञानिनो निष्प्रपञ्चात्मतया मम किं स्यात् ब्रह्मण्यभोजनेनान्यस्तृप्यतीति चेदत आह-आत्मानमिति। भो महाद्युते! (कामादिपराभवेन स्वहित-साधनोन्मुखश्चेत्तर्हि) त्वम् आत्मानं प्रत्यगभिन्नं सततम् आसुप्तिमृतिपर्यन्तं जानन् वेदान्तवाक्यैर्विचारयन् कालं नय अतिक्रामस्व। विचारसाध्यज्ञानान्तरं चाखिलं प्रारब्धं चरमदेहारम्भकं कर्म भुञ्जन् सुखदुःखाभासानुभवेन क्षपयन् समुद्वेगं कर्तुं नार्हसीत्युपदेशः॥ 89॥

हे महामतिवान्! निरन्तर अपने स्वरूपका चिन्तन करते हुए और प्रारब्ध पूर्णतः भोगते हुए समय व्यतीत करो। इसमें उद्विग्न होना उचित नहीं है॥ 89॥

महामते! आपकी मति बहुत बड़ी है, ब्रह्माधिष्ठात्री है, ब्रह्मविषया है। वह छोटी नहीं है।

अपने आपको जानो। संसारमें राग-द्वेष किये बिना जो समय बहता जा रहा है उसे बहने दो। जो अच्छा-बुरा, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि समयकी गतिमें बह रहे हैं, उन्हें बहने दो। तुम सर्वत्र सबमें परमात्माको देखो।

स्थावर-जंगम सब परमात्माका स्वरूप है। जो कहते हैं कि कर्मसे जगत् बना वे कर्मको जगत्‌का उपादान कारण मानते हैं या निमित्त कारण?

कर्म जगत्का उपादान कारण हो नहीं सकता और तबतक निमित्त कारण भी नहीं हो सकता जबतक कर्तृत्वका अभिमान न हो। कर्त्तापनके अभिमानसे ही कर्ममें निमित्तता आती है। अत: वे अपनेको कर्त्ता स्वीकार करके तब कर्मको निमित्त कारण मानते हैं।

वेदान्त आत्माके कर्त्तापनका ही खण्डन करता है। आत्मामें चार बातें नहीं हैं—

1. पाप-पुण्यका कर्त्तापन; क्योंकि आत्मा साक्षी है;

2. सुख-दु:खका भोक्तापन; क्योंकि आत्मा सुख-दु:ख तथा इनके भोक्ताका भी साक्षी है,

3. नरक-स्वर्गमें आने-जानेवाला, क्योंकि परिपूर्ण है; तथा

4. परिच्छिन्नत्व; क्योंकि आत्मा अद्वितीय है। अत: आत्मा संसारी नहीं है। यह ब्रह्म है।

महामते! आत्मानं दृश्यतयापि द्रष्टृतयापि जानन्।

हे महामति! 'मैं ही दृश्यरूप हूँ और मैं ही द्रष्टारूपमें भास रहा हूँ' ऐसा जानते हुए काल व्यतीत करो।

प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्—प्रारब्धका अर्थ है प्रारम्भ किया हुआ। जैसे बाण छोड़ दिया तो वह चोट करेगा ही। सेनापतिने कहा—'शस्त्र रख दो!' अब जो बाण छूट चुका वह तो लौटाया नहीं जा सकता। हाँ दूसरा बाण नहीं छोड़ा जायगा। इस छूटे हुए बाणका नाम प्रारब्ध है। जिससे देहेन्द्रियादिका निर्माण हुआ है उस प्रारम्भ हो चुके कर्मोंकी राशिका नाम प्रारब्ध है।

प्रारब्ध अपने शरीरके भीतर रहता है। अत: एक मनुष्यके प्रारब्धका दूसरे मनुष्यके प्रारब्धसे कोई मेल नहीं है। जैसे किसीने किसीको लाठी मारी। इसमें लाठी मारनेवालेने पाप किया। जिसे लाठी लगी उसे प्रारब्धसे लगी, अन्यथा लाठी चूक भी जा सकती थी।

एक चोरने चोरी की और पकड़ा गया तो बोला—'तुम्हारा प्रारब्ध ही ऐसा था कि तुम्हारा धन चोरी हो जाय। तुम्हारे प्रारब्धने मुझे प्रेरणा देकर चोरी करायी।'

यह तर्क ठगीका तर्क है। जिसकी चोरी हुई उसकी उसके प्रारब्धसे हुई यह बात तो ठीक है किन्तु जिसने चोरी की उसने पाप किया।

जैसे मोम या मिट्टीसे कुछ खिलौने बनाने हों तो पहले निश्चित कर लेते हैं कि क्या बनाया जाय? ऐसा खिलौना कबतक टिकेगा, यह बुद्धिमान् व्यक्तिको ज्ञात रहता है। उससे कौन-कौनसे खेल खेले जायँगे, यह भी निश्चित रहता है। ऐसे ही प्रारब्ध तीन बातें बनाता है—जाति, आयु और भोग।

1. जातिका अर्थ है मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि।

2. प्राणी जबसे जबतक जीवित रहेगा वह समय उस प्राणीकी आयु है।

3. भोग-उसे धन-मान, स्वास्थ्य-रोग, संयोग-वियोग आदिके द्वारा सुख-दुःखके कितने निमित्त कब-कब प्राप्त होंगे।

इस प्रकार प्रारब्धसे जो जाति मिली है, जो आयु है और उसमें सुख-दुःखके जो निमित्त आते हैं उनमें उद्विग्न मत बनो। उन सबका शान्त, तटस्थ, भावसे भोग करते रहो।



● **संगति**

यहाँ प्रश्न उठा कि तत्त्वज्ञान होनेपर प्रारब्ध रहता है या नहीं? दूसरोंकी दृष्टिमें शरीर रहता है तो उसकी आकृति या स्त्रीपुरुष जाति भी रहेगी। तत्त्वज्ञान हो जानेसे न कोई मरता, न अमर हो जाता, अत: आयु भी रहेगी। शरीर रहेगा तो सुख-दु:ख भोग भी मिलते रहेंगे। अत: अज्ञानीके समान ज्ञानीका भी प्रारब्ध रहता है। इस बातका चार श्लोकोंमें निराकरण करते हैं। ●

उत्पन्नेऽप्यात्मविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति।
इति यच्छ्रूयते शास्त्रे तन्निराक्रियतेऽधुना॥ 90॥

वस्तुतस्तु प्रारब्धमेव नास्ति कुतो भोग:, भोगाभावे कुत उद्वेगकारणम्, तदभावे च कुतस्तरां तन्निषेध्यापदेश इति वेदान्तसिद्धान्तरहस्यं वक्तुं प्रतिजानत आचार्या:—उत्पन्न इति। अत्रेयं प्रक्रिया, जगत्प्रतीतिस्त्रिधा-शास्त्रीया, लौकिकी, आनुभाविकी चेति। तत्राद्या पारमार्थिकी, द्वितीयाऽपारमार्थिकी, तृतीया तु प्रातिभासिकी। तासां निवृत्तिस्तु क्रमात् वेदान्तश्रवणादित्रयसाक्षात्कार-प्रारब्धक्षयैर्भवति नान्यथेति। तत्रेयं प्रतिज्ञाऽन्यप्रतीत्यभिप्रायेणेति ज्ञातव्यम्। श्लोकार्थस्तु स्फुट एव ॥ 90॥

आत्मज्ञान हो जानेपर भी प्रारब्ध किसीको छोड़ता नहीं है ऐसी बात जो शास्त्रमें सुनी जाती है उसका अब निराकरण किया जा रहा है॥ 90॥

प्रश्न यह है कि प्रारब्ध ज्ञानीकी अपनी दृष्टिमें है या अन्यकी दृष्टिमें? बड़े-बड़े महन्त-मण्डलेश्वरोंसे पूछा गया—'आप अवधूत, तत्त्वज्ञानी या जीवन्मुक्त हैं तो यह भोग-रागका विस्तार आपके पास क्यों है?'

वे कहते हैं—'यह हमारा प्रारब्ध है।'

प्रश्न—'आपका प्रारब्ध रह कैसे गया?'

उत्तर—'लेशाविद्यासे रह गया।'

इसका तात्पर्य यह कि पूरी अविद्या निवृत्त नहीं हुई, थोड़ी-सी रह गयी। यह लेशाविद्या भी स्वदृष्टिसे रह गयी तो अविद्या ही रह गयी।

● **संगति**

यदि अज्ञानी समान तत्त्वज्ञानीमें प्रारब्धकी कल्पना करें तो भले करते

रहें। अन्धा किसी वस्तुको श्वेत या लाल कहे तो उसका कहना मूल्यहीन है किन्तु ज्ञानीकी स्वदृष्टिसे क्या स्थिति है, यह विचार करते हैं।

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते।
देहादीनामसत्यत्वाद्यथा स्वप्नो विबोधत॥ 91॥

तदेवाह-तत्त्वेति। ज्ञानेन सर्वव्यवहारकारणाज्ञाननिवृत्तौ प्रारब्धाभाव इति श्लोकार्थः। पदार्थस्तु स्फुट एव॥ 91॥

तत्त्वज्ञान हो जानेपर प्रारब्ध नहीं रह जाता; क्योंकि जैसे जागनेपर स्वप्न नहीं रह जाता वैसे ही आत्मज्ञान हो जानेपर शरीरादिकी सत्ता नहीं रह जाती॥ 91॥

जब जागनेपर स्वप्न मिट गया तो स्वप्नमें जो कुछ था वह सब भी मिट गया। स्वप्नमें एक पुरुष काला था, एक गोरा। एक धनी था, एक दरिद्र। एक युवावस्थामें मरा, एक बूढ़ा होकर मरा। क्या स्वप्नके इन सब लोगोंका पृथक्-पृथक् प्रारब्ध था? क्या उनका पूर्वजन्म था और अगला जन्म भी होगा? स्वप्नकालमें तो तुम्हें कर्म-संस्कारकी कल्पना होती थी कि 'इनका प्रारब्ध ऐसा था' परन्तु जब तुम जाग गये तब पता लगा कि उस समय तो कोई दूसरा जीव था ही नहीं। स्वप्नके उन पुरुषोंके अन्तःकरण भिन्न-भिन्न नहीं थे, तब उनका प्रारब्ध कैसा!

तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो यह अपने देहसहित समग्र देहोंमें जो प्रारब्धकी कल्पना थी वह जागते ही, तत्त्वज्ञान होते ही नष्ट हो गयी। अतः ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होनेपर प्रारब्धकी कल्पना नहीं होती। ब्रह्मज्ञान होनेपर सब देव-दैत्य, पशु-पक्षी आदि आत्मस्वरूप हो जाते हैं। नानात्वके जिस स्वरूपमें अनेक जीव हैं वह स्वप्न टूट गया, जगत् सच्चा है तथा जगत् एवं जीवका नियन्ता कोई पृथक् है यह स्वप्न टूट गया। केवल अखण्ड अविनाशी परिपूर्ण अपना आत्मा ही रह गया।

जैसे स्वप्नका शरीर भासमान मिथ्या हो गया वैसे जाग्रत्‌का देह भी भासमान मिथ्या हो गया। केवल अपना ही नहीं, सबका शरीर, सम्पूर्ण जगत् भासमान मिथ्या हो गया। तब प्रारब्ध कहाँ, किसका रहेगा? ब्रह्मात्मके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अतः तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें प्रारब्ध भी नहीं है।

● **संगति**

अब इसी बातको और स्पष्ट करके समझाते हैं।

कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्।
तत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित्॥ 91॥

इदानीं प्रारब्धशब्दं व्युत्पादयन्नुक्तमुपसंहरति-कर्मेति। तत्र कर्म त्रिविधम्-सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धभेदात्। तन्मध्ये भाविदेहारम्भकं सञ्चितम्, तथा वर्तमान-देहनिर्वर्त्त्यं क्रियमाणम्। प्रारब्धं तु वर्तमानदेहारम्भकम्। तत्र यद्यपि सञ्चितं जन्मान्तरीयमेव तथापि भाविदेहस्य तत्प्रारब्धमेव भवति। तेनेदं सिद्धमात्मनः स्वतः कर्तृत्वाभावात्कालत्रयेऽपि जन्म नास्तीति सर्वमवदातम्॥ 92॥

जन्मान्तरमें किये गये कर्मोंको ही प्रारब्ध कहा गया है। वह जन्मान्तर ही पुरुषमें नहीं है, अतः उसका प्रारब्ध भी किसी प्रकार नहीं है॥ 92॥

कर्मशास्त्र जीव और उसके अन्त:करणको अनादि मानते हैं। इस जीवके अनादि जन्मोंसे अबतक जो कर्म-वासनाओंका सञ्चय है उसे सञ्चित कहा जाता है। जन्म-जन्मान्तरकृत उन सञ्चित कर्मोंमें-से जिस थोड़ेसे कर्मांशको लेकर यह जीवन बना है उसे प्रारब्ध कहते हैं। इस शरीरसे जो नवीन कर्म होते हैं उन्हें क्रियमाण कहते हैं।

जन्मान्तराभावात्-तत्त्वबोधमें तो न पहले जन्म हुआ, न अब जन्म है, न आगे जन्म होगा। अनन्त, अखण्ड, अद्वितीय तत्त्वमें जन्म कहाँ!

जब जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाएँ न हों तो उसे सुषुप्ति कहते हैं! इस सुषुप्ति अवस्थाका बोध कैसे होता है? यदि सुषुप्ति अवस्था प्रतीत हो रही थी तो तुम सोये ही कहाँ? यदि प्रतीत नहीं हुई तो उसे जाना कैसे? इसका अर्थ है कि एक ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रिय तथा अन्त:करणके सो जानेपर भी बना रहता है। वही सुषुप्तिको देखता है। वह ज्ञान तुम हो। तुम सोये नहीं थे। तुम तो जाग्रत् स्वरूप हो। बुद्धि सोयी थी, मन सोया था। जैसे तुम जाग्रत्में बुद्धिके कर्मको अपना कर्म मान लेते हो वैसे ही उस बुद्धिके शयनको ही अपनी निद्रा मानते हो। बुद्धिसे तुम्हारा तादात्म्य हो गया है।

बुद्धिका कर्म, बुद्धिका ज्ञान, बुद्धिका राग-द्वेष, बुद्धिका जागना सोना, स्वप्न देखना तुम्हारा अपना नहीं है। तुम्हारे ज्ञानस्वरूपको तो काल कभी स्पर्श

ही नहीं करता। देह ही नहीं, देहका कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भी सब अधिष्ठान ज्ञानमें बिना हुए ही भास रहा है।

तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें जब जन्मान्तर ही नहीं तो कर्म कहाँ! कर्म न होनेसे प्रारब्ध भी नहीं होता। अज्ञानियोंकी दृष्टिमें भासमान जो उनका अपना शरीर है उसका और दूसरे भी किसी शरीरका प्रारब्ध तत्त्वदृष्टिमें नहीं है।

● **संगति**

जैसे स्वप्न देखते समय हम स्वप्नके देहको व्यवहार क्षम मानते हैं, वस्तुतः वह वैसा नहीं होता, वैसे ही यह देह भी स्वप्नके देहके समान अध्यस्त है यह बतला रहे हैं।

स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः।
अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे हि तत्कुतः॥ 93॥

पूर्वोक्तं दृष्टान्तं विवृण्वन्सकारणजन्माभावे युक्तिमाह-स्वप्नेति। जन्माभावे तत्प्रारब्धं कुतः। स्पष्टमन्यत्॥ 93॥

जैसे स्वप्नका देह अध्यस्त है वैसे ही यह (जाग्रत्‌का) देह भी है। अध्यस्तका जन्म कैसा! और जिसका जन्म ही नहीं उसकी सत्ता कैसे हो सकती है॥ 93॥

अधिष्ठानके ज्ञानसे सब अध्यस्त भ्रम सिद्ध हो जाता है। विनाशीके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानको अविनाशी कहते हैं। रज्जुमें सर्पके समान एक अद्वितीय सच्चिदानन्दमें भासमान यह विनाशी, विकारी एवं अनात्मा जगत् मिथ्या है।

स्वप्नमें हमको अपना एक देह दिखायी देता है। हम स्वप्नमें उस देहसे खाते-पीते, चलते-देखते, सब व्यवहार करते हैं किन्तु स्वप्नमें जो अपना और दूसरोंका शरीर दिखायी देता है वह प्रारब्धसे नहीं बना है। वह अध्यस्त है अर्थात् जहाँ नहीं है वहाँ दिखायी पड़ रहा है।

अधि=उपरि+अस्तं=निक्षिप्तम्=अध्यस्तम्, अर्थात् किसी वस्तुपर ऊपरसे कुछ थोपी या डाली हुई वस्तुको अध्यस्त कहते हैं।

स्वप्नमें हैं तो केवल मनके संस्कार, पर वहाँ स्थूल शरीर डाल देना या देखना अध्यास है। इसी प्रकार जो 'मैं' नहीं है उसे 'मैं' मानना अध्यास है।

जैसे स्वप्नका देह अध्यास है ऐसे ही जाग्रत्‌का देह भी अध्यास है। जिस

चेतनमें स्वप्नावस्था दिखायी देती है उसी चेतनमें जाग्रत् अवस्था भी दिखायी देती है। इस अवस्थाके देश-काल-पदार्थ भी उसी चेतनमें दिखायी पड़ते हैं। ये सब भी अध्यस्त हैं। जैसे स्वप्नमें अपने भीतर ही पूरा जगत् दिखायी देता है वैसे ही जाग्रत्में भी अपने भीतर ही पूरा जगत् दिखायी दे रहा है। स्वप्नमें जैसे अपनेको एक देह मानकर देहाध्यास रहता है वैसे ही जाग्रत्में भी देहाध्यास है।

यह सृष्टि आत्मचैतन्यमें बिना हुए ही दिखायी पड़नेवाला आत्म-विलास है।

स्वप्नमें दिखायी देनेवाले व्यक्तित्व तुम नहीं हो। तुम तो पूरे स्वप्नको देखनेवाले हो। स्वप्नके सहस्रों पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, स्त्री-पुरुष, नदी-पर्वत तुम देखते हो। इसी प्रकार जाग्रत्में भी जो तुम अपनेको देह देख रहे हो वह तुम नहीं हो। तुम वह हो जिसको पूरी जाग्रत् अवस्था दिखायी दे रही है। स्थूलदृष्टिसे उसी सम्पूर्ण जाग्रत् अवस्थाको विराट् सूक्ष्मदृष्टिसे उसीको हिरण्यगर्भ तथा कारणदृष्टिसे उसे ईश्वर कहते हैं। तत्त्वदृष्टिसे वही तुरीय ब्रह्म तुम हो।

जो वस्तु बिना हुए ही दिखायी पड़ रही है उसका जन्म सम्भव नहीं है। स्वप्नमें देखा कि एक 25 वर्षके युवकका विवाह हो रहा है तो क्या युवक 25 वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था? जाग्रत् अवस्थाकी आयु भी ऐसी ही है।

जब जन्म ही नहीं है तो प्रारब्ध कैसा! यहाँ कहा जाता है कि 'प्रारब्ध न माननेसे अकृताभ्यागम और कृतविनाश दोष होगा।' इस जन्मके सुख-दुःख क्या बिना पूर्वकर्मके भोग रहे हैं? अब जो कर रहे हैं उसका क्या आगे कोई फल नहीं होगा?

इस समय जो सुख-दुःख भोग रहे हैं वह पूर्वकृत कर्मका फल है। अभी जो कर रहे हैं उसका फल आगे मिलेगा। इस प्रकार वर्तमानमें मनुष्य अपनेको कर्मका कर्त्ता एवं पूर्वकृत कर्मका भोक्ता मानता है और प्रारब्धको जोड़ लेता है।

यदि आप अपने चैतन्यस्वरूपको समझ लें तो जाग्रत्-अवस्थाके देहके साथ भी प्रारब्ध नहीं जोड़ा जायगा क्योंकि यह शरीर तो बिना हुए भास रहा है। इसका भूत और भविष्य दोनों कल्पित हैं। कठपुतली अथवा सिनेमामें दिखायी पड़ते चित्रका भला क्या प्रारब्ध! जब जन्म ही नहीं तब प्रारब्ध कहाँ!



ज्ञानसे प्रपञ्च-निवृत्ति

● **संगति**

यह देह और जगत्‌की प्रतीति भी अज्ञानसे है, ज्ञानसे इसकी निवृत्ति हो जाती है। यह बात चार श्लोकोंमें कही जा रही है। ●

उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव कथ्यते।
अज्ञानं चैव वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता॥ 94॥

ननु देहादिप्रपञ्चस्य 'यतो वा' इत्यादिश्रुतेः सत्यब्रह्मजन्यत्वात्कथं प्रांतिभासिकत्वमिति चेदुच्यते—उपादानमिति। अत्र कारणं द्विविधम्—निमित्तोपादानभेदात्। तत्र निमित्तं नामोत्पत्तिमात्रकारणम्। उपादानं तूत्पत्तिस्थितिलयकारणम्। तत्र वेदान्तै—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिभिः प्रपञ्चस्योपादानमज्ञानं पठ्यते, चकाराद् ब्रह्मापि। अत्रायं भावः—न केवलं ब्रह्मैव जगत्कारणम्, निर्विकारत्वात्। नापि केवलमज्ञानम्, जडत्वात्। तस्मादुभयं मिलित्वैव जगत्कारणं भवतीति। 'सत्यानृते मिथुनीकरोति' इत्यादिश्रुतेः। तत्र दृष्टान्तः—भाण्डस्य घटकरकादेर्मृदिव मृत्पिण्ड इव। तत्र जलस्थाने ब्रह्म, पिण्डीकरणसामर्थ्यसाम्यात्। अज्ञानं तु मृत्तिकास्थाने, आवरकत्वसाम्यात्। तत्र ब्रह्मणोऽविनाशित्वाद्ब्रह्मज्ञानेन तस्मिन्नज्ञान एव नष्टे सति विश्वता जीव-जगदीश्वरात्मकजगद्भावः क्व, न क्वाप्यस्तीत्यर्थः॥ 94॥

वेदान्तमें कहा जाता है कि जैसे घड़ेका उपादान मिट्टी है वैसे ही प्रपञ्चका उपादान अज्ञान है। उस अज्ञानके नष्ट होनेपर विश्वत्व कहाँ रह जाता है॥ 94॥

भाण्डस्य मृद् इव प्रपञ्चस्य उपादानमज्ञानं कथ्यते।

जैसे मटकेका उपादान मिट्टी है ऐसे ही प्रपञ्चका उपादान अज्ञान है। अधिष्ठानका अज्ञान ही प्रपञ्चका उपादान है। जिस अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय

आत्मतत्त्वमें यह प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है, अपने आपका वह स्वरूप न जाननेके कारण दिखायी पड़ रहा है। जिस रस्सीमें सर्प भास रहा है उस रस्सीको न जाननेसे ही सर्प भास रहा है।

जैसे निद्रादोष ही स्वप्नके प्रपञ्चका उपादान है। अनियन्त्रित निद्रादोषके कारण अनियन्त्रित मनमें स्मृतियों या वासनाओंका अनियन्त्रित विलास ही तो स्वप्न है। ऐसे ही आत्मतत्त्वके अज्ञानसे अपने आपमें प्रपञ्च भास रहा है।

अपनेको सम्पूर्ण विश्वका अधिष्ठान जानो। वह न कल्पनाका विषय है, न कल्पनाका आधार। ऐसे अपने ब्रह्मस्वरूपको जान लेनेपर जब अज्ञान मिट गया तब फिर विश्वत्व कहाँ रह गया!

● **संगति**

विश्व अज्ञानसे ही प्रतीत हो रहा है, इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्।
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ॥ 95 ॥

मिथुनीभावस्यैव जगत्कारणत्वं सदृष्टान्तं प्रपञ्चयति—यथा रज्जुमिति ॥ 95 ॥

जैसे भ्रमवश अज्ञानी मनुष्य रस्सीको छोड़कर उसे सर्प समझ लेता है वैसे ही सत्यको न जानकर उसीको जगत्के रूपमें देखता है ॥ 95 ॥

कोई रस्सीको सर्प क्यों मानता है? इसलिए कि उसे ज्ञात नहीं है कि वह रस्सी है। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष सत्यको न जानकर उसीको जगत् देख रहा है। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि उसने बिना सोचे-समझे अपनेको परिच्छिन्न मान लिया है।

● **संगति**

जगत् दिखायी दे रहा है। अज्ञानसे। अतः अज्ञान मिट जानेपर जगत् ही आत्मा दिखायी देने लगता है। जगत्का जगतपना फिर नहीं रह जाता।

रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पभ्रान्तिर्न तिष्ठति।
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चः शून्यतां व्रजेत् ॥ 96 ॥

इदानी यदुक्तं 'तस्मिन्नष्टेक्व विश्वता।' इति तत् प्रपञ्चयन् पूर्वोक्तं प्रारब्धाभावं सदृष्टान्तमुपसंहरति सार्द्धेन—रज्जुरूप इति। स्पष्टम् ॥ 96 ॥

रस्सीका रूप जान लेनेपर सर्पका एक टुकड़ा भी वहाँ नहीं रह जाता। ऐसे ही अधिष्ठान-ज्ञान हो जानेपर प्रपञ्च निःशेष हो जाता है ॥ 96 ॥

मैं बचपनमें एक मित्रके साथ राधास्वामी सम्प्रदायके लोगोंके सत्संगमें पहुँच गया। मैंने पूछा—ध्यान कहाँ करना चाहिए, हृदयमें सहस्रारमें?'

वे लोग परस्पर कहने लगे—'अभी तो यह पिण्डदेशकी बात कर रहा है।'

कभी मैं ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी बात करता तो वे आपसमें कहते—'अभी तो ब्रह्माण्डदेशकी बात कर रहा है।'

हम तो अपनी समझसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी उच्च चर्चा करें और वे तुच्छताका भाव दिखलावें। कभी हम ईश्वरकी चर्चा करें तो वे परस्पर कहें—'यह तो अभी मायादेहकी ही बात करता है।'

यह ठीक है कि ईश्वर इतना बड़ा है कि उसके सामने संसार बहुत छोटा है किन्तु ईश्वरत्वकी अर्थात् संसारके कार्य-कारणभाव एवं इसके नियन्त्रणकी चर्चा करते रहे तो परमात्माकी चर्चा कहाँ हुई!

ये उत्पन्न होनेवाले और मरनेवाले, यह भूत-भविष्य-वर्तमानके कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी समष्टि—इनकी या इनके नियामककी ही चर्चा की तो ईश्वरकी चर्चा अधूरी हुई। ईश्वर तो वहाँ भी है, जहाँ प्रपञ्चकी कोई महत्ता नहीं। ईश्वर तो तब भी है जब प्रपञ्चकी कोई सत्ता नहीं। ईश्वरमें यहाँ-वहाँ, अब-तब, यह-वह भी हैं और ये नहीं हैं—वह भी ईश्वर है। ईश्वरके स्वरूपकी उस गम्भीरतामें जाकर वेदान्तका चिन्तन होता है।

मारनहार, पालनहार, सर्जनहार तो संसारके काममें लगा ईश्वरका स्वरूप है। ऐसा भी स्वरूप है जिसमें मारण-मारणीय-मारणहार, पालन-पालनीय-पालनहार, सृजन-स्रष्टव्य-स्रष्टाका प्रश्न ही नहीं है। अद्वितीय ईश्वर ही है। उस अधिष्ठानका ज्ञान हो जानेपर प्रपञ्च दिखायी पड़ता हुआ भी बाधितस्वरूप हो जाता है।

● **संगति**

जब प्रपञ्च ही बाधित हो गया तो शरीर स्वयं बाधित हो गया अतः प्रारब्ध रहा ही कहाँ, यह स्पष्ट करते हैं।

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः।
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः॥ 97॥

किञ्च देहस्येति जीवन्मुक्तस्य ज्ञानिनः प्रारब्धाभावे सति 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'

इत्यादिश्रुतिः प्रारब्धं किमर्थं वक्तीति चेदुच्यते अर्द्धेन—अज्ञानेति। श्रुतिः अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्तीत्यन्वयः। ज्ञानेन सर्वव्यवहारकारणेऽज्ञाने नष्टे सति ज्ञानिनः कथं व्यवहार इत्यज्ञानिभिराक्षिप्ते प्रारब्धादिति तद्बोधार्थमिति। शेषं स्पष्टम्॥ 97॥

शरीर भी प्रपञ्च ही है। अतः (वह भी बाधित हो गया तो) प्रारब्धकी स्थिति कैसी! किन्तु अज्ञानियोंको समझानेके लिए श्रुति प्रारब्धका वर्णन करती है॥ 97॥

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्—यह शरीर भी प्रपञ्चका प्रपञ्च ही है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण आदि सब पाँच-ही-पाँच हैं। पञ्चमहाभूतसे यह बना है और पाँच विषयोंकी इससे उपलब्धि होती है। प्रमाण, विकल्प, वितर्क, निद्रा और स्मृति ये पाँच चित्तकी वृत्तियाँ इसमें हैं। यह भी अज्ञानका कार्य है।

प्रारब्ध ब्रह्म या आत्मा दोनोंमें नहीं है। प्रारब्ध व्यावहारिक है, पारमार्थिक तथ्य नहीं। वेदान्तमें सत्ता त्रिविध मानी जाती है—1. पारमार्थिक 2. व्यावहारिक और 3. प्रातिभासिक। इनमें जाग्रत् अवस्था व्यावहारिक सत्ता है, स्वप्नावस्था प्रातिभासिक सत्ता है और आत्माकी सत्ता पारमार्थिक है। आत्मा ब्रह्म है, यही परमार्थ है।

दूरसे कोई गेरू जैसे रङ्गका वस्त्र पहने आता दिखायी पड़ा तो अनुमान हुआ—'कोई संन्यासी या उदासीन महात्मा आ रहा है।' वस्त्र स्वच्छ दिखायी पड़े तो अनुमान हुआ—'कोई प्रतिष्ठित सन्त महन्त होंगे।' समीप आनेपर पता लगा कि वह तो स्त्री है। उसी स्त्रीमें साधुकी सत्ता प्रातिभासिक थी।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे मैं जब सर्वप्रथम मिला तो उनसे पूछा—'पुनर्जन्म किसका होता है?'

मेरा विचार था कि ये कहेंगे—सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्त्वोंका बना होता है। उसमें कर्मके संस्कार सञ्चित रहते हैं। उसी सूक्ष्म शरीरमें 'मैं' करके चेतन स्थित है। उस लिंग शरीरका रूप बदलता रहता है। जीव भी वही-वही रूप अपना मानता जाता है। सूक्ष्म शरीर जैसा-जैसा रूप बदलता है वैसा-वैसा 'मैं' होता जाता है अर्थात् जीव वही-वही अपना रूप मानता जाता है।'

मैंने सोचा था कि बाबा ऐसा ही कहेंगे और तब मैं कहूँगा—'मैं तो उस सूक्ष्म शरीरका द्रष्टा हूँ, साक्षी हूँ। मेरा जन्म-मरण कहाँ!'

उन दिनों मैं झूसीमें श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी द्वारा चलाये गये छह महीनेके अखण्ड संकीर्तन अनुष्ठानमें सम्मिलित था। वहाँके नियमानुसार मौन रहना था अतः मैंने लिखकर प्रश्न किया था। उस समय श्रीस्वामी रामसुखदासजी झूसीमें ही थे। उन्होंने मेरा प्रश्न पढ़कर श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको सुनाया।

सुनकर बाबा हँसे और बोले—'अपनी बुद्धि जन्म-मृत्युके समर्थनमें मत लगाओ। बुद्धि इसमें लगाओ कि आत्मा नित्य-शुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्द है।'

एक दिन किसी दूसरे स्थानपर मैंने बाबासे पूछा—'कर्म और भोगकी विभाजक रेखा क्या है?'

पूछनेका तात्पर्य यह था कि कोई कर्म कहाँतक कर्म रहता है और कब भोग बन जाता है। जैसे भोजन कर्म है या भोग? यदि भोजनको भोग मानें तो हम जब शास्त्रनिषिद्ध वस्तु खाते हैं तो उससे पाप नहीं होना चाहिए। पाप-पुण्यकी उत्पत्ति तो कर्मसे होती है, भोगसे नहीं होती। यदि भोजनको कर्म मानें तो भोजनमें सुख क्यों होता है? इसी प्रकार स्त्री-पुरुषका संग कर्म है या भोग? यदि वह भोग है तो अनाचार पाप क्यों? यदि कर्म है तो उसमें सुख क्यों? झूठ बोलना तो पाप है, उसे कर्म होना चाहिए, किन्तु झूठ बोलनेमें जो मनपर जोर पड़ता है, दुःख होता है, वह भोग है। कभी झूठ बोलनेमें, दूसरेको ठगनेमें गौरवबुद्धि होती है—'देखो, कैसा छकाया!' यह सुख हुआ, अतः यह तो भोग है।

यही प्रश्न एक बार सेठ जयदयालजी गोयनकासे किया था। वे बोले—'इसका विभाग नहीं किया जा सकता। यह तो अनिर्वचनीय है।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने कहा—'कर्तृत्वाभिमानसे जो हो वह कर्म है और भोक्तृत्वाभिमानसे जो हो वह भोग है।'

ये दोनों अभिमान अज्ञानसे होते हैं अतः अज्ञान निवृत्ति होनेपर न कर्म रहता, न भोग। ये तो स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। यदि अज्ञान नहीं मिटा है तो कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान एक ही अन्तःकरणमें युगपत् रहते हैं, अतः प्रत्येक कर्म भोगसे और प्रत्येक भोग कर्मसे मिश्रित ही होता है।

नाकृतिर्न च कर्माणि वैभवं न पराक्रमम्।

प्रारब्धकी न कोई आकृति है, न कर्म है, न उसका कोई वैभव या पराक्रम है।

एक किसानने अपना काम-धाम छोड़ दिया और जंगलमें यों ही भटकने लगा। उसके घरके लोग एक महात्माके समीप जाकर बोले—'कृपा करके इसे समझाइये।'

महात्मा स्वयं उसके समीप गये और पूछा—'तुम वनमें क्यों भटकते रहते हो?'

किसान बोला—'मैं एक दिन खेतमें हल जोत रहा था। बहुत गर्मी लगी तो स्नान करनेकी इच्छा मनमें हुई। हल-बैल रोककर स्नान करने सरोवर जाने लगा तो एक बड़ा-सा पक्षी मेरे शरीरसे टकरा गया। मैंने उसे पकड़ लिया। बाजारमें उस पक्षीको बेचनेसे बहुत पैसे मिले। हल जोतनेमें तो बहुत श्रम होता है। पक्षी शरीरसे टकरा जाय तो उसे पकड़नेमें कोई अधिक श्रम नहीं होता और उसका मूल्य भी अधिक मिलता है। इसलिए मैं वनमें घूमता रहता हूँ कि कोई पक्षी मुझसे टकरा जाय।'

प्रारब्धकी प्रतीक्षा करना ऐसा ही है। प्रारब्धका विधान तो दुःख-शोकमें सान्त्वना देनेके लिए है। यह व्यावहारिक है। ईश्वरकी प्राप्ति, धर्माचरण अथवा पुरुषार्थको छोड़ बैठनेके लिए प्रारब्धका विधान नहीं है।

न कर्म-कर्म हैं, न भोग-भोग हैं। ये केवल अभिमान हैं। 'यह कर्म मैंने किया' यह अभिमान कर्म बन गया। 'यह भोग मैंने भोगा' यह अभिमान भोग बन गया। यह कर्त्ता-भोक्ताका अभिमान अपने आत्मस्वरूप निष्प्रपञ्चको न जाननेसे होता है। बोध हो जानेपर न कर्तृत्वाभिमान रहता, न भोक्तृत्वाभिमान।

अज्ञानिजनबोधाय—श्रुति लौकिक दृष्टिसे प्रारब्धका वर्णन अज्ञानियोंके प्रबोध या सन्तोषके लिए करती है। यदि हम अपनेको देह मानकर विचार करें तो प्रारब्ध सिद्ध है। यदि अपनेको ब्रह्म मानकर विचार करें तो प्रारब्ध सिद्ध नहीं होता। जब यह मानकर विचार करते हैं कि शरीर हमें कैसे मिला तब प्रारब्ध मानना पड़ता है। जैन, बौद्ध, सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, सिक्ख, कबीरपंथी आदि सभी हिन्दू-सम्प्रदाय प्रारब्धको मानते हैं। न्याय, वैशेषिकादि दर्शन भी मानते हैं।

जड़वादियोंकी मान्यता है कि पञ्चभूतोंसे ही स्वतः शरीर बन गया है। मुसलमान, ईसाई आदि मानते हैं कि ईश्वरेच्छासे शरीर मिला है। इसमें ईश्वर किसीको सुखी या दुःखी, धनी या दरिद्र, अल्पायु या दीर्घायु, स्वस्थ या रोगी, सुरूप या कुरूप क्यों बनाता है? इसका उत्तर वे देते हैं—'ईश्वरकी मौज।' इससे ईश्वरमें वैषम्य (पक्षपात) और नैर्घृण्य (निष्ठुरता)के दोष आते हैं।

भारतीय दर्शन एवं धर्माचार्य कहते हैं—'ईश्वर स्वतन्त्र है किन्तु अनादि जीवोंके अनादि कर्मोंके अनुसार ही फल देता है। अपनी इच्छा जीवोंपर लादता नहीं है।'

वेदान्त कहता है—'अज्ञानीकी दृष्टिसे, देह-दृष्टिसे प्रारब्ध है। तत्त्वदृष्टिसे प्रारब्ध नहीं। जैसे पृथ्वीपर बैठते हैं तो सूर्य चलता भासता है। सूर्यको आधार बनावें तो पृथ्वी चलती भासती है। ज्योतिषके सिद्धान्त दोनों प्रकारके हैं। एकमें पृथ्वी चलती मानी जाती है तो एकमें सूर्य। दोनोंसे गणितके परिणाम ठीक आते हैं। ऐसा सिद्धान्त भी है कि पृथ्वी और सूर्य दोनों चलते हैं और ध्रुवकी परिक्रमा करते हैं, यह तो दृष्टिका भेद है।'



प्रारब्ध नहीं

● संगति

जब श्रुति प्रारब्धका वर्णन करती है तब ऐसा आग्रह क्यों करते हो कि ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता? इसके उत्तरमें कहते हैं कि श्रुति स्वयं यही बात कहती है। ●

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।
बहुत्वं तन्निषेधार्थं श्रुत्या गीतं च यत्स्फुटम्॥ 98॥

किं तर्हि ज्ञानिबोधार्थं वक्ति श्रुतिरिति चेदुच्यते—क्षीयन्त इति। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति श्रुत्या। कर्माणीति बहुत्वं यत् स्फुटं गीतं तत्तन्निषेधार्थं प्रारब्धाभावप्रतिपादनार्थम्, अन्यथा सञ्चितक्रियमाणापेक्षया कर्मणीति द्वित्वं गेयम्। तथा न गीतमतौ ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात् चिज्जडग्रन्थिभेदेन सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धाख्यत्रिविधकर्म-क्षयान्ते परमपुरुषार्थं ज्ञानिबोधार्थं श्रुतिर्वक्तीति भावः॥ 98॥

उस परावरको देख लेनेपर इस (ज्ञानी) के कर्मोंका क्षय हो जाता है, इस बातका प्रारब्ध-संचितादिके निषेधके लिए श्रुतिने स्पष्ट वर्णन किया है॥ 98॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यह मन्त्र श्रुतिमें बार-बार आया है। 'भिद्यते हृदयग्रन्थि।'—वस्तुतः हृदयमें गाँठ पड़नेका भ्रम हो गया है अन्यथा संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आत्माको बाँध सके। जैसे आकाशको कोई रस्सीसे नहीं बाँध सकता।

यह आत्मा स्थिति-गति, देश-कालके बन्धनमें नहीं आता। किन्तु—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

चैतन्य तथा चैतन्यमें प्रतीयमान जड़में ग्रन्थि पड़ना सम्भव नहीं है। स्वप्न और स्वप्नद्रष्टामें क्या कोई गाँठ पड़ सकती है?

तब ग्रन्थि क्या है? आत्मा चैतन्य है, अज्ञानके कारण जड़से मिला लगता है। 'मैं चेतन इस जड़ देहसे मिल गया। यह जो करे वह मैं करता हूँ। यह जो बोले सो मैं बोलता हूँ। यह जो भोगे सो मैं भोगता हूँ।' यही ग्रन्थि है।

यह अपरिणामी आत्म-चैतन्य जो अपनेको शरीर मान बैठा, इसीका नाम ग्रन्थि पड़ना है। यह ग्रन्थि अविद्यामूलक है—यह प्रतीति भी मिथ्या है। आत्मामें न बन्धन है, न मोक्ष।

छिद्यन्ते सर्वसंशयाः—मैं ब्रह्म हूँ या जीव अथवा देह, मुक्ति ज्ञानसे होती है या उपासनासे, बन्धन अविद्यासे हुआ या कर्मसे, इस प्रकारका कोई संशय मनमें नहीं रह गया। हम कर्त्ता-भोक्ता हैं या नहीं, हम परिच्छिन्न हैं या अपरिच्छिन्न ऐसे किसी सन्देहके लिए स्थान नहीं रहा। सब शङ्काओंकी निवृत्ति हो गयी।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि—उस परावरको देखकर सब कर्म क्षीण हो जाते हैं

परावरे—परमपि अवरं यस्मात्—पर अर्थात् कारणोपाधिक ईश्वर भी जिससे अवर है; क्योंकि जितनी दूरीमें, जितने कालमें कारणोपाधि है उतनी ही दूरीमें और उतने ही कालमें उसका नियामक भी है। वह नियामक जिसमें छोटा है, वह अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डभाण्डमहेश्वर जिससे अवर है, उस अपने स्वरूपको जानकर कर्त्ता ही जब मर गया तो फिर कर्मका सम्बन्ध कहाँसे रहा! परिच्छिन्न न होनेके कारण वह असंग, उदासीन है। उसके साथ कर्म तथा भोगका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ 'कर्माणि' में जो बहुवचन है वह 'सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणानित्रि-रूपाणि क्षीयन्ते।' यह सूचित करता है। उसके न संचित कर्म रह जाते, न प्रारब्ध, न क्रियमाण: न प्रायश्चित्तादिरूप कर्म ही रह जाते। उसके सब प्रकारके विहित-निषिद्ध कर्म बाधित हो जाते हैं।

कर्म होते हैं हाथ-पैर या वाणीसे। ये अंग शरीरमें हैं। शरीर चलता है अन्त:करणसे। ज्ञानीमें अन्त:करण ही नहीं है। अन्त:करण अविद्यामें है और उसमें अविद्या है ही नहीं।



प्रारब्ध माननेमें हानि

● संगति

सब हिन्दू-सम्प्रदायाचार्य और दर्शन जब प्रारब्धको मानते हैं तब आप ही प्रारब्धका खण्डन क्यों करते हैं? क्या हानि है प्रारब्ध माननेमें? इसका उत्तर देते हैं। ●

उच्यतेऽज्ञैर्बलाच्चैतत्तदानर्थद्वयागमः ।
वेदान्तमतहानं च यतो ज्ञानमिति श्रुतिः ॥ 99 ॥

उक्तवैपरीत्ये बाधकमाह—उच्यत इति। एतत्प्रारब्धमज्ञैः श्रुतितात्पर्यानभिज्ञैर्बलादविवेकसामर्थ्याच्चोच्यते यथार्थतया प्रतिपाद्यते। चकाराददद्वयात्मानं न पश्यन्ति। तदाऽनर्थद्वयागमो दोषद्वयप्राप्तिः। तत्र प्रारब्धरूपस्य द्वैतस्याङ्गीकारे अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग एको दोषः, मोक्षाभावे ज्ञानसम्प्रदायोच्छेदरूपो द्वितीयो दोष इति। न केवलं दोषद्वयस्यैव प्राप्तिरपि तु वेदान्तमतहानं च। वेदान्तमतस्याद्वैतस्य हानं त्यागो भविष्यति, प्रारब्धग्रहणरूपस्य द्वैतस्य याथार्थ्यादित्यर्थः। तर्हि किं प्रतिपत्तव्यमित्यत आह—यत इति। यतो यस्याः सकाशात् ज्ञानं भवति तादृशी सा श्रुतिः। ग्राह्येति शेषः। सा श्रुतिस्तु—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥' इति। एतदभिप्रायः क इति चेल्लिख्यते—धीरो विवेकी ब्राह्मणो ब्रह्म भवितुमिच्छुस्तमेव वेदान्तप्रसिद्धमात्मानं विज्ञायाऽऽदावुपदेशतः शास्त्रतश्च ज्ञात्वाऽनन्तरं प्रज्ञां शास्त्राचार्योपदिष्ट-

विषयामपरोक्षानुभवपर्यन्तां जिज्ञासापरिसमाप्तिकरीं कुर्वीत। बहून् कर्मोपासना-प्रतिपादकान् शब्दान् वाक्यसन्दर्भान्नानुध्यायान्न चिन्तयेत्। तर्हि तान् ब्रूयात्किं तेनेत्याह—वाच इति। तदद्वैतशास्त्रपठनं वाचो विग्लापनं विशेषेण श्रमकरम्। हीति सर्वानुभवसिद्धमित्यलं पल्लवितेन॥ 99॥

यदि अज्ञानी लोग बलपूर्वक कहें ही कि 'प्रारब्ध है' तो इससे दो अनर्थ आवेंगे—एक तो वेदान्त-मत अर्थात् मोक्ष सिद्ध नहीं होगा, दूसरे ज्ञान भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि श्रुतिने ज्ञानसे ही मोक्ष माना है॥ 99॥

कोई स्वप्नमें आकर सिद्ध कर दे कि प्रारब्ध होता है तो वह सिद्ध करनेवाला भी तो स्वप्न-पुरुष ही है। अध्यस्त कहे कि अधिष्ठान नहीं है, सर्प कहे कि रस्सी नहीं है तो इसका क्या अर्थ है।

अनर्थद्वयागमः—आत्मा यदि कर्त्ता हो तो कभी उसका मोक्ष नहीं हो सकता। तब सृष्टिमें कभी कोई ज्ञानी मुक्त होगा ही नहीं। अतएव वेदान्तप्रतिपादक श्रुतियोंकी ओर ध्यान देना चाहिए जिनमें अपने अखण्डत्व, अपरिच्छिन्नत्व, परिपूर्णत्व, अद्वितीयत्वका बोध हो।



साधन-वर्णनका प्रारम्भ

● संगति

अब तक जिस ज्ञानका वर्णन किया, जिसको उपलब्ध करके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं वह ज्ञान प्राप्त कैसे हो, इसका विचार करते हैं। ●

त्रिपञ्चाङ्गान्यथो वक्ष्ये पूर्वोक्तस्य हि लब्धये।
तैश्च सर्वैः सदा कार्यं निदिध्यासनमेव तु॥ 100॥

तदेवमेतावता ग्रन्थसन्दर्भेण मुख्याधिकारिणो वैराग्यादि-साधनचतुष्टयपूर्वकं वेदान्तवाक्यविचार एव प्रत्यगभिन्नब्रह्मापरोक्षज्ञानद्वारा मुख्यं मोक्षकारण-मित्यभिहितम्। इदानिमसकृद्विचार्यापि बुद्धिमान्द्यविषयासक्त्यादिप्रतिबन्धेना-परोक्षज्ञानं यस्य न जायते तस्य मन्दाधिकारिणो निर्गुणब्रह्मोपासनमेव मुख्यं साधनमित्यभिप्रेत्य ससाधनं ध्यानयोगं प्रतिजानत आचार्याः—त्रिपञ्चेति। अथोशब्दोऽधिकारिभेदार्थः। क्वचित् 'अत' इति पाठस्तस्मिन् पक्षे यतो मन्दाधिकारी विचारं न लभतेऽतो हेतोरित्यर्थः। त्रिपञ्च त्रिगुणितानि पञ्च, पञ्चदशेत्यर्थः। तत्सङ्ख्याकान्यङ्गानि निदिध्यासनाङ्गिसाधकसाधनविशेषान् यज्ञ-साधक-प्रयाजादिवदित्यर्थः। वक्ष्यमि। तैर्वक्ष्यमाणैः सर्वैरङ्गैर्निदिध्यासनमेव कार्यं नतु तूष्णीमवस्थानमुचितमित्यर्थः। निदिध्यासनकर्त्तव्यप्रतिज्ञाप्रयोजनमाह—पूर्वोक्त-स्येति। पूर्वोक्तस्य स्वरूपावस्थानलक्षणमोक्षस्य सिद्धय इति। हीति वेदान्तप्रसिद्धौ। तु शब्दः पातञ्जल वैलक्षण्यलक्षणेन मोक्षस्य सिद्धय इति। अनेनाष्टाङ्गप्रतिपादकं पातञ्जलमवैदिकत्वाद्वैशेषिकादिवदनादेयमिति ध्वनितम्॥ 100॥

पूर्ववर्णित ज्ञानकी प्राप्तिके लिए पन्द्रह अंगोंके साधनका वर्णन करूँगा। उन सब अंगोंसे सदा निदिध्यासन करना चाहिए॥ 100॥

अबतक वर्णित ज्ञान प्राप्त करनेके लिए निदिध्यासन करना चाहिए। निदिध्यासनके 15 अंग हैं।

निदिध्यासनमें 'नि' उपसर्ग है और दिध्यासनका अर्थ है ध्यानकी इच्छा। जैसे पानी पीनेकी इच्छाका नाम पिपासा या ज्ञानकी इच्छाका नाम जिज्ञासा।

ध्यान नहीं करना है, ध्यानमें लानेका प्रयत्न करना है। अद्वितीय परिपूर्ण ब्रह्म ध्यानका विषय नहीं होता। ध्यानका प्रयत्न ही निदिध्यासन है।

देश और कालके आदि-अन्तकी कल्पना करनी हो तो केवल कल्पना ही करनी होगी। आदि-अन्त मिलेगा नहीं क्योंकि आदि-अन्त है ही नहीं। जो कल्पनाका साक्षी है वही कल्पनामें कल्पित कल्प्यका भी साक्षी है। अतः साक्षी तो देश-कालकी कल्पनासे विनिर्मुक्त ब्रह्म है।

ध्यान शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुसे बना है जिसका अर्थ है चिन्तन। निदिध्यासनका अर्थ है ब्रह्म-चिन्तनका प्रयत्न। चिन्तन इस प्रकार कि 'अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणमें कल्पित विषयावच्छिन्न चैतन्य एक हैं या भिन्न। यदि एक ही है तो देश-द्रव्य-कालावच्छिन्न चैतन्य और देश-द्रव्य-काल-कल्पना-वच्छिन्न चैतन्य, ये दोनों एक हैं या नहीं। अवच्छिन्न-अवच्छिन्नका कोई भेद नहीं है।'

इस प्रकार यह ब्रह्म-चिन्तनकी चेष्टा ही इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वह असंभावना, विपरीत भावना, संशय, विपर्ययको मिटा देती है।

अब निदिध्यासनके 15 अंग बतलाते हैं। इन अंगोंसे निदिध्यासन करना चाहिए।



निदिध्यासनकी आवश्यकता

● संगति

निदिध्यासनके अंग बतलानेसे पूर्व निदिध्यासनकी आवश्यकता बतला रहे हैं। ●

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥ 101॥

मन्दाधिकार्यन्यत्सर्वं कर्म सगुणोपासनविचार रूपं साधनं च विहाय श्रद्धयाचार्योक्तप्रकारेण निर्गुणं ब्रह्मैव निदिध्यासेदित्याह—नित्येति। स्पष्टम्॥ 101॥

नित्य अभ्यासके बिना सच्चिदात्माकी प्राप्ति नहीं होती। अत: अपने कल्याणके लिए जिज्ञासुको चिरकालतक ब्रह्मका निदिध्यासन करना चाहिए॥ 101॥

संसारका अभ्यास चिरकालसे है। पता नहीं कबसे अपनेको शरीर, कर्त्ता, भोक्ता मानते आये हैं, अत: उस बद्धमूल संस्कारको मिटानेके लिए चिरकालतक ब्रह्माभ्यास करनेकी आवश्यकता है।



निदिध्यासनके अंग

● **संगति**

निदिध्यासनके इन अङ्गोंके नाम तो प्राचीन हैं किन्तु उनकी व्याख्या नवीन है, अतः उनके वर्णनकी आवश्यकता है। ●

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालता।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥ 102 ॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥ 103 ॥

ननु कानि तान्यङ्गानि यैः सह निदिध्यासनं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायां तानि निर्दिशीत—यम इति द्वाभ्याम्। उत्तानार्थावुभावपि श्लोकौ ॥ 102-103 ॥

यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृष्टिकी स्थिति, प्राणसंयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि ये निदिध्यासनके 15 अंग कहे गये हैं ॥ 102-103 ॥

योगशास्त्रमें तो इन नामोंका वर्णन है ही, इनमें-से अनेक नामोंका उपयोग बहुतसे सम्प्रदायोंमें भी किया जाता है। जैसे यम-नियम शब्द जैन सम्प्रदाय, गोरखपन्थादिमें भी चलते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचको योग-शास्त्रने यम माना है। शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, तप और ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

यहाँ भोग अथवा अन्य किसी सम्प्रदायके रूढ़ अर्थोंमें इन नामोंका उपयोग नहीं हुआ है। यमादिमें-से किस नामका किस बातमें तात्पर्य है यह स्वयं वर्णन करते हैं।



● संगति

जीवनमें कुछ अभ्यास आवश्यक होते हैं। किसीको कोई भाषा पढ़नी हो और वह शब्द, अक्षर तथा वाक्योंको न दुहरावे तो उसे भाषा-ज्ञान नहीं होगा। ऐसे ही बहुत सी बातें दुहराकर, अभ्यास करके जीवनमें लानी पड़ती हैं।

विकार प्रकृतिमें स्वयं आते हैं। उनका निवारण प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है। वृद्धावस्था तथा रोग स्वयं आते हैं किन्तु अच्छा भोजन, व्यायाम, स्नान, नियम-पालन आदिके द्वारा अपनेको स्वस्थ, युवा रखनेका प्रयत्न करना पड़ता है। पसीना स्वयं आता है। साबुन लगाकर उसे धोना पड़ता है। जो विकार-निवारणार्थ साधनकी आवश्यकता नहीं मानते वे जीवनके इस सत्यसे नेत्र बन्द रखना चाहते हैं।

जैसे शरीरके ज्वरग्रस्त होनेपर चिकित्सा करनी पड़ती है ऐसे ही मनमें भी कई प्रकारके ज्वर स्वत: आते हैं, उनके निवारणार्थ भी औषधि करनी पड़ती है। माया-छल-दम्भ-काम-क्रोधादि मनके रोग हैं। इनकी औषधि है यम-नियम। क्रमानुसार पहले यमका निरूपण किया जाता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य, ये पाँच यम हैं।

1. सत्य—जीवनमें सत्यसे प्रेम होना चाहिए। सत्य ब्रह्मके अनुभवका प्रथम सोपान है। यदि सत्यससे प्रेम नहीं है तो परमसत्यको जान लेनेसे ही क्या!

यो वै अनृतं वदति समूलं परिशुष्यति।

जो झूठ बोलता है वह अन्तत: जड़सहित सूख जाता है। सत्यका पक्षपात न होनेसे वह अपने प्रति ही अन्याय कर रहा है। हम अपने पत्नी-पुत्र, पड़ोसी-नौकर सबसे चाहते हैं कि वे हमसे सच बोलें। यह हमारी अन्तरात्माकी माँग है। अत: जिस समय हम स्वयं झूठ बोलते हैं उस समय अपनी अन्तरात्मापर कुठाराघात ही तो करते हैं। हमारे मनमें सत्यके प्रति महत्त्वबुद्धि है एवं झूठके प्रति स्वाभाविक अनादर है। जब हम झूठ बोलने लगेंगे तो वह अनादर हमारा अपने ही प्रति हो जायगा, अपने प्रति हीनत्वकी भावना आजायेगी। तब हम ईश्वरको जानना चाहेंगे तो प्रश्न होगा—क्या सचमुच जानना चाहते हैं?

2. अहिंसा—दूसरेको कष्ट देकर हम अपनेको कष्ट देते हैं, दूसरेका धन चुराकर अपना ही धन चुराते हैं। जो निन्दा हम दूसरेकी करेंगे, जो कलंक दूसरेको लगावेंगे, वही निन्दा हमारी होगी, वही कलंक हमें लगेगा। यह बात शतशः अनुभूत है।

साधकको चार बातोंका ध्यान रखना चाहिए—1. पैसेके सम्बन्धमें दूसरेका स्वत्व न मारा जाय और आवश्यकतासे अधिक एकत्र करके दूसरोंको भूखा न रखा जाय। 2. स्त्री-पुरुषका व्यवहार वैध सहवाससे आगे न बढ़े। 3. जान-बूझकर अपने कर्म, वचन या चेष्टासे किसीको कष्ट न दिया जाय। 4. झूठ न बोला जाय। सत्य बोलना धर्म नहीं है क्योंकि अपने सब रहस्य, गुप्त बातें बतलाना आवश्यक नहीं है। कोई पूछे कि आपकी तिजोरीमें कितना रुपया है? तो इसका उत्तर देनेको आप बाध्य नहीं हैं। किन्तु झूठ न बोलना धर्म है।

जीवनमें यम आवे, इसका वास्तविक आधार क्या है?

मनुष्योंकी श्रेणियोंके अनुसार उनका धर्म होता है। सब तो ज्ञानी नहीं होते। सामान्य जनोंको झूठ, चोरी, अनाचार आदिसे रोकनेके लिए शास्त्रोंमें परलोक-पुनर्जन्मका वर्णन है कि झूठ बोलोगे, चोरी करोगे, हिंसा करोगे, अनाचार करोगे तो कष्ट पाओगे, नरककी यातना भोगनी पड़ेगी।

भक्तके लिए शास्त्रने कहा है कि 'भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए दुर्गुणोंका त्याग और सद्‌गुणोंको धारण करना चाहिए क्योंकि वे दयाधाम मङ्गलमय हमारे असत्य, हिंसा, परोत्पीडनसे प्रसन्न नहीं होंगे।' मानवताकी प्रतिष्ठाके लिए, लोक-परलोक बचानेके लिए परमात्माको सन्तुष्ट करनेके लिए, मनको एकाग्र करनेके लिए अथवा अपनी प्रसन्नताके लिए भी जीवनमें सद्‌गुण-धारण आवश्यक है। जीवनमें सद्‌गुणोंका आधार धर्म, ईश्वरप्रेम और योग है। मनको एकाग्र करना चाहें तो मनसे दुर्वासना हटानी होगी। दुर्वासना रहते तो मन शान्त नहीं होगा।

3. अपरिग्रह—बिना आवश्यकताके अपने समीप सामग्री एकत्र न करना अपरिग्रह है।

4. अस्तेय—दूसरेका स्वत्व किसी प्रकार छल-बलसे अपना बने ऐसा प्रयत्न न करना अस्तेय है।

5. ब्रह्मचर्य—अनुचित रीतिसे वीर्य-संयमको भङ्ग न करना ब्रह्मचर्य है।

ये पाँच यम हैं अर्थात् ये पाँच हममें हों तो यमराज हमारी मुट्ठीमें हैं। हमको न नरक जाना पड़ेगा, न हमारा पुनर्जन्म होगा। ●

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहः॥ 104॥

इदानीमेतेषां प्रत्येकं निर्देशक्रमेण स्वाभिमतानि लक्षणान्याह—सर्वमित्याद्येकविंशत्या। तत्र प्रथमोद्दिष्टं यमं तावद्दर्शयति-सर्वमिति। सर्वमाकाशादि देहान्तं जगद्ब्रह्म, बाधसामानाधिकरण्यद्वारा स्थाणुपुषादिवदित्यर्थः। इति विज्ञानान्निश्चयाद्धेतोरिन्द्रियाणां श्रोतादीनामेकादशकरणानां ग्रामः समूहस्तस्य संयमः सम्यक् शब्दादिविषयाणां विनाशित्वसातिशयत्वदुःखदत्वादिदोषदर्शनात् यमो विषयेभ्यो निवारणम् अयं यम इति सम्प्रोक्तः, न तु केवलमहिंसादिरित्यर्थः ततश्च किमत आह—अभ्यसनीय इति। अयं मुहूर्मुहुरभ्यसनीय इति॥ 104॥

'सब ब्रह्म ही है' इस जानकारीके द्वारा इन्द्रियसमूहका संयम यम कहा गया है। यह बार-बार अभ्यास करने योग्य है॥ 104॥

सर्वं ब्रह्मेति—सब ब्रह्म ही है, इस विज्ञानमें अचिन्तनकी स्थिति यम है। ब्रह्माकार वृत्तिप्रवाह चलाना—सजातीय-प्रत्यय-प्रवाह नियम है। यममें वृत्ति नहीं है। नियममें वृत्तिप्रवाह है।

जो भीतर है वही बाहर, जो बाहर है वही भीतर, तब बाहर जानेसे कोई विशेषता तो हुई नहीं। बाहर जानेमें केवल जानेका, माँगनेका, वासनाका कष्ट हुआ, अपनेको अकारण कंगाल बना लिया।

जिसके विषयमें यह विचार होता है कि 'वह यहाँ नहीं हैं, वहाँ है, अभी नहीं है, फिर कभी होगा; अपनेमें नहीं है, अन्यमें है' वह ब्रह्म नहीं है। जो परमानन्द वैकुण्ठमें है, स्वर्गमें है, समाधिमें है, वही जब तुम्हारे हृदयमें विद्यमान है तो अन्यसे आनन्द प्राप्त करनेकी कंगाली दिखलाना व्यर्थ ही है। वह आनन्दस्वरूप तो तुममें ही है, तुम्हीं हो।

इन्द्रिय समूहका संयम तो हो, पर सब अपना ही स्वरूप है, इस आधारपर हो। जो मुझमें है उससे अधिक कहीं नहीं है, संयमका यह आधार हो।

'मैं' से अधिक 'तुम'में, उसमें, अमुक देश या कालमें है, यह वृत्ति छोड़ देनी चाहिए। सर्वत्र एकरस परिपूर्ण अविनाशी ही भरा हुआ है। इसमें

वासनाकी क्या सार्थकता! अतः इन्द्रियोंको चञ्चल करनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

इन्द्रियोंको चञ्चल करनेका स्वभाव हो गया है। यह स्वभाव करनेसे पड़ा है, अतः न करनेसे छूट जायगा। चाय पीनेका स्वभाव हो गया है। समयपर न मिले तो सिरदर्द या बेचैनी होता है। किन्तु कुछ दिन इसे सहकर चाय पीना छोड़े रहें तो फिर चायका स्मरण भी नहीं आवेगा।

हम सब लोग गंगोत्तरी गये तो पण्डेने कहा—'यहाँ सब लोग कुछ-न-कुछ छोड़ देनेका संकल्प करें। हमारे साथ एक वृद्ध पुरुष थे। उन्होंने सिगरेट छोड़नेका निश्चय किया। उस दिन उन्होंने प्रातःकालसे जो सिगरेट फूँकना प्रारम्भ किया तो दोपहर तकमें 20-22 सिगरेटें पी डालीं। कहते थे—'50 वर्षसे 20-30 सिगरेट प्रतिदिन पीता रहा हूँ।' ठीक 12 बजे दिनमें उन्होंने सिगरेट और सलाई गंगाजीमें फेंक दी। लगभग 15 वर्ष इस बातको हो चुके, उन्होंने फिर सिगरेटका स्पर्श नहीं किया।

इस संयमका आधार समत्व चाहिए। हम किसीके घर जाते हैं और वह हमें रुपया भेंट करके प्रणाम करता है तो सोच लेते हैं—'इसमें श्रद्धा है।' किसीके घर जाते हैं और वह केवल प्रणाम ही करता है तो समझते हैं—'यह हमको विरक्त मानता है।' इसमें कोई बुरा-अच्छा नहीं है। इस प्रकार समत्वका अभ्यास यम है।

एक प्राकृतिक चिकित्सक हैं। मुझे जुकाम हो जाय तो वे कहते हैं—'बड़ा अच्छा हुआ। शरीरमें एकत्र मल निकला जा रहा है।' ज्वर आजाय तो कहते हैं—'शरीरका विकार अब निकल गया।'

एक मनुष्य प्रतिदिन आता है। प्रेम है, तब तो प्रतिदिन आकर घण्टे भर बात करता है। दूसरे परिचित बुद्धिमान् हैं। वे हमारे समयका बहुत ध्यान रखते हैं। वे यह सोचकर नहीं आते कि जायँगे तो स्वामीजीको हमसे बातें करनी होंगी, उनका समय नष्ट होगा।

इस प्रकार सब ब्रह्म है, इस आधारपर इन्द्रियोंका संयम हो, इसका बार बार अभ्यास करना चाहिए।



नियम

● **संगति**

हम प्रतिदिन स्नान करके ही भोजन करते हैं, यह नियम है। नियम शब्दका प्रयोग योगी, धर्मात्मा आदि भी करते हैं। लोक-व्यवहारमें भी नियम शब्द चलता है।

जीवनमें कुछ-न-कुछ नियम होना चाहिए। मेरे एक मित्र थे। दो वर्ष पूर्व उनके पास पाँच हजार रुपये थे। उन्होंने व्यापार प्रारम्भ किया और नियम किया कि चतुर्थांश आय दान कर दिया करेंगे। अब उनके पास लाखों रुपये हैं।

भूखोंको भोजन, नंगोंको वस्त्र, रोगियोंको औषधि देना यह सत्‌का दान हैं। अज्ञानीको विद्या देना, चित्‌का दान है। दुःखीको समझाकर आश्वासन देकर, चुटकुला सुनाकर प्रसन्न कर देना आनन्दका दान है।

गुजरातमें एक सेठने नियम किया—'हमारे पास जो आवेगा उसे खाली हाथ नहीं जाने देंगे।' उनका नियम 50 वर्ष चला। जब उनके नियमका पता चल गया तो लोग उन्हें बहुत तंग करने लगे।

एक महात्माके समीप एक दम्पती गये। उनमें पतिने धन पानेकी और पत्नीने पुत्र पानेकी प्रार्थना की। महात्माने पुरुषसे कहा—'तुम्हें धन मिलेगा किन्तु उसका दशमांश धर्ममें व्यय करना।' स्त्रीसे कहा—'तुम्हें पुत्र मिलेगा पर उसे सत्संगमें लगाना।' जबतक उन लोगोंने इन नियमोंका पालन किया तबतक सब ठीक चलता रहा। 67 वर्षोंतक सब ठीक चला। नियम टूटा तो सब अस्त-व्यस्त हो गया।

एक विषयमें जब मनुष्यका संकल्प दृढ़ हो जाता है तब दूसरे विषयोंमें भी उसमें दृढ़ता आजाती है। धर्मके नियम होते हैं। नियम लेते समय इतना जप, इतनी पूजा, इतना पाठ प्रतिदिन करनेका संकल्प होता है। जैसे, 108 तुलसीदल या विल्वपत्र रोज चढ़ावेंगे।' ये उपासनाके नियम हैं।

व्यायाम-सम्बन्धी नियम स्वास्थ्यके नियम हैं। योगमें पाँच नियम माने जाते हैं—शौच, तप, स्वाध्याय, सन्तोष और ईश्वरप्रणिधान।

1. शौच—शरीर, वस्त्र, भोजन तथा मनकी पवित्रता शौच है।

2. तप—अपने धर्मके पालनके लिए कष्ट सहना तप है। जैसे भले उपवास करना पड़े किन्तु अशुद्ध अन्न नहीं खायेंगे। इससे मनका दैन्य मिट जाता है। धनका पाना या न पाना अपने हाथमें नहीं है किन्तु तपमें हमारी स्वाधीनता है। सरकारने हमपर 500) अर्थदण्ड किया तो हम उससे बच नहीं सकते, किन्तु पुरस्कार दे तो उसे त्याग तो सकते ही हैं।

3. स्वाध्याय—अपने भागका शास्त्राध्ययन स्वाध्याय है। सभीपर शास्त्रोंकी रक्षाका थोड़ा-थोड़ा दायित्व है। इसे पूरा करना आवश्यक कर्त्तव्य है। इसका एक दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है कि अपनेमें जो दोष हैं उन्हें देखकर छोड़नेका प्रयत्न करना और उनमें कितने छूटे, कितने शेष हैं, इसकी प्रतिदिन समीक्षा करना। साथ ही हममें किन-किन गुणोंका अभाव है, उनकी पूर्तिका क्या उपाय है, यह समीक्षा भी करते रहना। सबका अध्ययन अर्थात् आत्मनिरीक्षण। मनुस्मृतिमें आया है—

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्मार्थावनुचिन्तयेत्।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने धर्म तथा अर्थका चिन्तन कर ले। यह भी स्वाध्याय है।

4. सन्तोष—जो अवस्था प्राप्त हो उसीमें तुष्ट रहे। यह सन्तोष है।

5. ईश्वर-प्रणिधान—अपने सब पदार्थ एवं अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व, समस्त सम्बन्धी जो आज हैं और जो कुछ आगे अपना होगा, सब कर्म और भोग ईश्वरको अर्पित कर देना, यह ईश्वर-प्रणिधान है। ये पाँच योगशास्त्रके नियम हैं।

भक्तिशास्त्रका नियम है—

जित देखौं तित स्याममयी है।
जहाँ देखता हूँ, वहीं तू ही तू है।
तू तू करता तू भया, मुझमें रही न बू।

....................दृश्यते श्रूयते गुणः।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थिति॥

सृष्टिमें जो कुछ गुण-रूप देखे और सुने जाते हैं उनमें बाहर और भीतर व्याप्त होकर श्रीनारायण स्थित हैं।

नरस्येदं हृदयं नारमयनं यस्य स नारायणः।

नरके इस हृदयका नाम नार है, वही जिनका निवास है उनको नारायण कहते हैं।

देख मौतका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।

मरकर कहाँ जायँगे? उन श्रीनारायणकी गोदमें; क्योंकि व्यक्तित्व न नष्ट होनेवाला है और न स्वतन्त्र ही होनेवाला है।

धर्म, योग अथवा उपासनामें अपनी ओरसे भावनाकी जाती है कि 'ये भगवान् हैं।' वेदान्त कहता है—'तुम भाव करो या मत करो, सब ब्रह्म ही है। जड़ता, दुःख, मृत्यु, द्वैत नामकी वस्तु है ही नहीं। भावकी प्रधानता अपनी ओरसे होती है, ज्ञानकी प्रधानता अधिष्ठानकी ओरसे।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

देहका अभिमान गल गया और ब्रह्मात्मैक्यबोध हो गया तो जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ समाधि ही है। मनको न कहींसे खींचना है, न कहीं भेजना है। जहाँसे खींचेंगे वह भी ब्रह्म है और जहाँ भेजेंगे वह भी ब्रह्म है। ●

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥ 105॥

एवं यमं लक्षयित्वा नियमं लक्षयति—सजातीयेति। सजातीयं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म, तदेकाकारा वृत्तिः प्रवाहः सजातीयप्रवाहः। यद्वा सजातीयानामसङ्गोऽहम-विक्रियोऽहमित्यादिप्रत्यगभिन्नब्रह्मप्रत्ययानां प्रवाहः। च पुनः—विजातीय-तिरस्कृतिः। विजातीयं ब्रह्मात्मविलक्षणम्, जगत्पूर्वसंस्काराज्जायमाना तदाकारा वृत्तिरित्यर्थः। तस्य तिरस्कृतिर्दोषस्मृत्याऽधिकोपेक्षाऽनादर इत्यर्थः। अयं नियम उक्तः। न तु केवलं शौचादिरित्यर्थः। हीत्युपनिषत्प्रसिद्धौ। नन्वनयोरुप-निषत्प्रसिद्ध्या कः पुरुषार्थ इति चेदत आह—परानन्द इति। ततश्च किमत आह—नियमादित्यादि। सुगमम्॥ 105॥

सजातीय प्रत्ययका प्रवाह और विजातीय प्रत्ययका त्याग परमानन्द देनेवाला नियम है। बुद्धिमान् इसी नियमके पालनको नियम बनाते हैं॥ 105॥

सजातीय-प्रत्यय-प्रवाह अर्थात् सब चेतन-ही-चेतन है, सब आनन्द ही आनन्द है। इसके अतिरिक्त जो भी प्रतीत हो रहा है वह बिना हुए भास रहा

है। वह तुच्छ है, हेय है। यह नियम परमानन्दरूप है। ज्ञानी इस नियमका पालन करता है।

यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तद्तद् ब्रह्मेति भावयेत्।
यद्यच्छृणोति श्रोत्राभ्यां तद्तद्ब्रह्मेति भावयेत्॥
यद्यज्जिघ्रति नासाभ्यां तद्तद्ब्रह्मेति भावयेत्।
यद्यत्स्पृशति पाणिभ्यां तद्तद्ब्रह्मेति भावयेत्॥

जो कुछ नेत्रोंसे देखता है, जो कानोंसे सुनता है, जो नाकसे सूँघता है और जो कुछ हाथसे छूता है, वह सब ब्रह्म है, ऐसी भावना करे। ब्रह्मातिरिक्तका दर्शन ही भ्रममूलक है।

मनकी स्थिरतामें किसीने आजतक संसार नहीं देखा, मनकी चञ्चलतामें संसार दिखायी देता है। नेत्र टेढ़े या विकृत होनेपर ही दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं। इसमें जो दूसरा चन्द्रमा दिखायी देता है वह न चन्द्रमाका पिता है न पुत्र, न भाई न बहिन, न चाचा न ताऊ, न स्त्री न पति, न शत्रु न मित्र। वह तो है ही नहीं। केवल नेत्रके दोषसे बिना हुए ही दिखायी पड़ता है।

इसी प्रकार चैतन्यसे विजातीय जो कुछ दिखायी देता है वह हमारी मन-इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण बिना हुए ही दिखायी देता है। चेतनका विजातीय कोई है नहीं।

वेदान्तका नियम है कि द्वैत है ही नहीं, सब अद्वैत है। निरवधि असीम अखण्डपरमानन्दसिन्धुसे हम आज अभी यहीं परमानन्द हो जायँ।



● **संगति**

'सब ब्रह्म है'—यह भाव जब विरक्तमें आवेगा तो वह अवधूत हो जायगा। उसके मनमें आवेगा—'जब सब अपना स्वरूप ही है तो किसकी उपेक्षा, किसकी कामना, किसका संग्रह-परिग्रह या याचना!' इसीलिए ब्रह्मज्ञानका अधिकारी वैराग्यवान् माना गया है।

यदि गृहस्थको ब्रह्मज्ञान होगा तो वह भोगी हो जायगा। चित्तमें वैराग्य न हो और ब्रह्मज्ञान हो जाय तो त्याज्य कुछ न रहनेसे भोग-प्रवृत्ति बढ़ जायगी। अतः त्याग आवश्यक है। ●

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः॥ 106॥

इदानीं तृतीयं त्यागं लक्षयति—त्याग इति। प्रपञ्चरूपस्य प्रपञ्चो नामरूपलक्षणः। रूप्यते घटोऽयं पटोऽयम् इत्यादि नामरूपतो निरूप्यते व्यवह्रियते प्रकाश्यते येन तत् प्रपञ्चरूपं सर्वाधिष्ठानभूतं पदार्थस्फुरणं तस्य। चिदात्मत्वावलोकनाच्चिदजडं स्वत एव प्रकाशमानं ब्रह्म, तदात्मस्वरूपं यस्य तद्भावस्तस्यावलोकनमनुसन्धानं तस्माद्धेतोर्यस्त्यागः नामरूपोपेक्षा स एव त्यागस्त्यागशब्दवाच्यः, 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतेः। हीति विद्वदनुभवप्रसिद्धौ। नन्वयं त्यागो न कुत्रापि प्रसिद्ध इत्याशङ्क्याह-महतां पूज्य इति। तत्र हेतुः सद्य इति। यतोऽयं त्यागः सद्योऽनुसन्धानकाल एव मोक्षमयः परमानन्दस्वरूपावस्थानरूपः, अत एवात्मतत्त्वविदामिष्टत्वादतिप्रसिद्धोऽयं त्याग इत्यर्थः। तस्मादयमेव मुमुक्षुणा कर्त्तव्यो नान्यः। केवलस्वकर्माद्यकरणरूप इति भावः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्॥ 106॥

चिदात्माके रूपमें देख लेनेके कारण प्रपञ्चरूपका स्वतः त्याग हो जाता है। यह त्याग महापुरुषोंके द्वारा भी पूजनीय है क्योंकि यह तत्काल मोक्षमय है॥ 106॥

जो ठीक-ठीक नहीं समझते उनकी त्यागके सम्बन्धमें यह धारणा है कि जो वस्त्र न पहने, मकानमें न जाय तथा सर्दी-गर्मी सहन करे वही त्यागी है। योगवासिष्ठमें एक कथा है—देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कच षडङ्ग-वेदाध्ययन करके लौटे तो उन्हें अभिमान हो गया कि मैं अपने पितासे भी अधिक विद्वान् हो गया हूँ। पुत्रका अभिमान लक्षित कर बृहस्पतिने पूछा—'तुमने समस्त विद्याओंका अध्ययन कर लिया, अब तो तुम्हें शान्ति मिल गयी होगी?'

विद्याका फल शान्ति है, अभिमान नहीं। कचको कहना पड़ा-'शान्ति तो नहीं मिली।'

बृहस्पति—'तो शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करो।'

कच—'वह कैसे मिले?'

बृहस्पति—'त्याग करनेसे शान्ति मिलती है।'

सब कुछ त्यागकर कच घरसे निकल पड़े। एक वर्षतक तीर्थोंमें घूमते रहे। एक वर्ष पीछे घर लौटे तो बृहस्पतिने पूछा-'शान्ति मिली?'

कच—'नहीं मिली।'

बृहस्पति—'त्याग करो तो शान्ति मिलेगी।'

कचने दण्ड-कमण्डलुका भी त्याग कर दिया। एक वर्षतक फिर तीर्थयात्रा करके लौटे तो पिताने फिर वही प्रश्न किया। कचके 'नहीं' कहनेपर फिर त्याग करनेको कहा तो कच बोले—

'मैं तो अकिञ्चन हो गया हूँ। कौपीनतक तो मैंने छोड़ दी है।'

बृहस्पतिने फिर वैसे ही कहा—'त्याग करो।'

अब कचको लगा कि शरीर ही तो है, चलो इसका भी त्याग कर देते हैं। उन्होंने चिता बनायी और उसमें अग्नि लगाकर जब कूदनेको उद्यत हुए तो बृहस्पतिने आकर पकड़ लिया—'ऐसे कहीं देह-त्याग होता है? यह तुम्हारा शरीर अग्निमें जल जायगा तो वासनानुसार दूसरा शरीर मिल जायेगा। इस प्रकार तो शरीरपर शरीर मिलते जायँगे। जबतक वासना है, जबतक शरीरमें 'मैं मेरा' की भ्रान्ति है, तबतक देह-त्याग कैसे होगा?'

कच—'पिताजी, तब त्याग क्या है?'

बृहस्पति—'चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागम्—चित्तको त्याग देना सर्व-त्याग है। महात्माओंने देह इन्द्रिय अन्तःकरणको ही त्याग दिया है।'

चित्त और चित्तमें आनेवाले संस्कारोंका त्याग अर्थात् 'चित्त न मैं हूँ, न चित्त मेरा है' इस संसर्गाध्यास एवं अर्थाध्यासका त्याग ही वास्तविक त्याग है।

जो वस्तु अपने समीप है उसे 'मेरी' कहना, जैसे 'यह घड़ी मेरी, यह शरीर मेरा' यह संसर्गाध्यास है। अपने 'मैं'के अतिरिक्तको सच्चा मानना अर्थाध्यास है। घड़ा सचमुच है, यह अर्थाध्यास, और घड़ा मेरा है, यह संसर्गाध्यास है। ये दोनों ही ज्ञानाध्यास हैं क्योंकि बिना हुई वस्तुको 'मैं-मेरा' मान लिया गया है।

एक लड़केने कहीं पार्कमें एक लड़की देखी। उसने मनमें सोचा-'यह सुन्दर है। मैं इससे विवाह करूँगा और फिर इस प्रकार रहूँगा।' इतनेमें एक दूसरा लड़का आया और उस लड़कीकी ओर देखने लगा तो पहला उससे लड़ पड़ा-'मेरी होनेवाली पत्नीको क्यों देख रहा है?'

मिर्जापुरमें दो किसान एक चौपालमें बैठे थे। बातचीत करते हुए एकने पूछा—'इस वर्ष तुम गन्ना कहाँ बोना चाहते हो?'

दूसरा—'तुम्हारे द्वारके सामनेवाले खेतमें। तुम इस वर्ष क्या करोगे?'

पहला—'मेरा मन तो भैंस खरीदनेका है।'

दूसरा—'इस वर्ष भैंस मत खरीदो।'

पहला—'क्यों?'

दूसरा—'तुम्हारे द्वारके समीप मुझे गन्ना बोना है। भैंस मेरे खेतमें जायगी तो व्यर्थ लड़ाई होगी।'

पहला—'भैंस तो खरीदनी ही है। पशु है, कभी भूल-चूकसे छूटकर खेतमें जा भी सकती है। इसमें लड़ाई की क्या बात है।'

दूसरा—'खेतमें जायगी तो मैं उसकी टाँग तोड़ दूँगा।'

पहला—'ऐसे कहीं भैंसकी टाँग तोड़ी जाती है। देखूँगा कैसे टाँग तोड़ते हो।'

दूसरा—'देखूँगा, मेरे खेतमें भैंस कैसे जाती है।'

पहला लाठीसे चिह्न बनाते हुए बोला—'अच्छा यह रहा तुम्हारा खेत' और उस लकीरके भीतर लाठी ले जाते हुए बोला—'यह मेरी भैंस तुम्हारे खेतमें गयी। अब तोड़ो टाँग।'

फिर तो तड़ातड़ लाठियाँ बजने लगीं। दोनोंके सिर फूट गये। दोनों पकड़े गये। कचहरीमें मुकदमा गया तो न्यायाधीशने पूछा—'तुमने इसे लाठी क्यों मारी?'

दूसरा—'इसने मेरे खेतमें भैंस चरने भेज दी।'

न्यायाधीश—'कहाँ है तुम्हारा खेत? उसमें क्या बोया है?'

दूसरा—'खेत इसके द्वारके सामने है। उसमें अभी तो कुछ बोया नहीं पर मैं उसमें गन्ना बोनेवाला हूँ।'

न्यायाधीश पहलेसे बोला—'तुमने इसे लाठी क्यों मारी?'

पहला—'इसने मेरी भैंसकी टाँग तोड़नेको लाठी मारी तो मैंने इसे लाठी मारी।'

न्यायाधीश—'तुमने कब भैंस ली? कितने रुपयोंकी भैंस है?'

पहला—'अभी ली नहीं है, लेनेवाला हूँ।'

इन किसानोंके समान ही सब हैं, क्योंकि परमब्रह्म परमात्मामें दूसरी कोई वस्तु उत्पन्न हुई ही नहीं किन्तु 'मैं—मेरा' करके झगड़ा कर रहे हैं।

चित्त और चैतन्य अर्थात् चित्तमें आनेवाले समस्त विषयोंका त्याग कि 'न ये मेरे, न मैं'। इसका नाम त्याग है।

संसारमें न कुछ पक्षपात या प्रशंसाके योग्य है, न निन्दा करनेयोग्य। आकाशमें नीलिमाके समान ब्रह्ममें यह प्रपञ्च अस्तित्वहीन होकर भी भासता है। इससे उलझनेकी आवश्यकता नहीं है।

एक महात्मा हाथमें माला रखते और जिह्वासे भगवन्नामका जप करते थे। उनका नियम था कि किसीको पैर नहीं छूने देते थे क्योंकि पैर छूनेवाले जपका पुण्य ले लेते हैं। लोग जाकर आग्रहपूर्वक पैर छूना चाहते। उन्हें बार-बार कहना पड़ता-'पैर मत छूना नहीं मुझे उपवास करना पड़ेगा।' अब भगवन्नाम छूट गया और इस 'पैर न छूना, मुझे उपवास करना पड़ेगा'का जप होने लगा। पैर न छूने देनेके अति आग्रहसे उन्हें कष्ट होने लगा।

अतिगर्वो हतो बालिः अतिगर्वाच्च रावणः।
अतिगर्वो हतो कंसो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत्॥

एक त्यागी महात्मा थे। सब मार्गसे चलें तो वे मार्ग त्यागकर काँटे कंकड़ोंपर चलते थे। सब प्रतिदिन ताजी रोटी खाते तो वे एक दिनके अन्तरमें

बासी रोटी खाते थे। सब वस्त्र पहनते तो वे नंगे रहते। इस प्रकार जीवनको सबसे विशेष बनानेकी प्रक्रिया उन्होंने अपना ली थी। एक बार सिद्ध सन्त उनके समीप गये और बोले—'पहले तो तुम बड़े भोगी थे?'

वे बोले—'आप ठीक कहते हैं। मेरे जैसा भोगी भी उस समय कदाचित् ही कोई रहा हो।'

महात्मा—'अब तो तुम बहुत त्यागी हो गये हो।'

वे—'मेरे जैसा तपस्वी-त्यागी इस ओर तो कोई दूसरा साधु है नहीं।'

महात्मा—'सुनते हैं कि तुम पहले वीणा बहुत अच्छा बजाते थे।'

वे—'आपने ठीक सुना है।'

महात्मा—'वीणाके तार ढीले छोड़ दें तो स्वर ठीक निकलेंगे?'

वे—'नहीं, कोई स्वर ठीक नहीं निकलेगा।'

महात्मा—'वीणाके तारोंको कसते ही जायँ तो?'

वे—'तब तो वे तार टूट ही जायँगे।'

महात्मा—'तब तुम यह क्या कर रहे हो?'

कभी-कभी जिसे त्यागना चाहते हैं उसीका चिन्तन होने लगता है। कभी जिसे ग्रहण करना चाहते हैं उसका ही चिन्तन होता है। मार्ग यह है कि संसारके किसी व्यक्ति अथवा वस्तुका चिन्तन न त्यागके लिए हो, न ग्रहणके लिए। संसारका चिन्तन, अनात्मचिन्तन हो ही नहीं। वीणाके तारकी जो मध्यम स्थिति होती है, जीवनकी वह मध्यम स्थिति ठीक जीवन है।

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया।

स्वर्णके बने हार, कुण्डल, कंकणको हम घरसे निकालकर फेंक नहीं देते क्योंकि वह स्वर्ण ही है। इसी प्रकार संसारका स्वरूपतः त्याग नहीं किया जाता। नगर छोड़कर वनमें गये या भवन छोड़कर झोपड़ीमें रहने लगे तो इसका नाम त्याग नहीं है।

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य—अपनी इन्द्रियों और मनसे प्रपञ्चका जो रूप दिखायी पड़ रहा है वह रूपमात्र ही तत्त्व नहीं है। तत्त्व यह है कि 'यह चिदात्मा है। भान ही प्रपञ्चरूपमें दिखायी दे रहा है। यह अपना शरीर, अपना अन्तःकरण और दूसरे सब शरीर, सब अन्तःकरण भी ज्ञानके ही एक रूप हैं।' इस प्रपञ्चके रूपको न देखें, इसके तत्त्वको देखें। इसका तत्त्व चेतन है। इस

दृष्टिसे जीवन-मृत्यु, संयोग-वियोग एक समान हो जाते हैं। अतः प्रपञ्च देखते हुए भी इसके विशेषको न देखें तो इसका नाम त्याग है।

न्याय-वैशेषिक एवं जैनदर्शन मानते हैं कि प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र होती है। उसकी अपनी विशेषता होती है। जैसे अंगूर आम नहीं हो सकता और आम अंगूर नहीं हो सकता। आम-अंगूर करेला-परवल, मच्छर-खटमल, बिच्छू-सर्प, कौआ-कोयल, गाय-गधा आदि सबकी अपनी पृथक्-पृथक् विशेषता है। इन दर्शनोंमें ईश्वरकी चर्चा या तो है ही नहीं अथवा बहुत कम है।

प्रत्येक इकाईका स्वातन्त्र्य एवं विशेषता वेदान्तको मान्य नहीं है। देह तथा अन्तःकरणकी उपाधिसे ही इकाई स्वतन्त्र प्रतीत होती है। अपने अखण्ड अद्वितीय स्वरूपके अज्ञानके कारण ही यह प्रतीति है। यदि जीवको इकाईके रूपमें रहना पड़ेगा तो देशमें रहना पड़ेगा। कालक्रमसे उसकी गति होगी। फिर उसे उपाधियोंका सम्बन्ध प्राप्त होगा। उसका मोक्ष तो सम्भव ही नहीं है।

चिदात्मा—प्रकाश-ही-प्रकाश, चेतन-ही-चेतन, केवल ज्ञानमात्र ही है। उसमें कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार ज्ञानमात्र ही देखना, वस्तुरूपमें प्रपञ्च न देखना, यही प्रपञ्चका त्याग है।

त्यागो हि महतां पूज्यः—महात्मा ऐसा त्याग आदरसे स्वीकार करते हैं। इसमें बन्धन नहीं है। यह सद्यः मुक्तिरूप है। चित्-यह प्रकाशमात्र है। हृत्—यह आहरणकर्ता अर्थात् वस्तुओंका फोटो लेनेवाला है। यही संस्कार ग्रहण करता है। तुम चित् हो। तुम कैमरा नहीं हो, यन्त्र नहीं हो।

महान् पुरुष प्रपञ्चका त्याग नहीं करते। वे प्रपञ्चत्वका त्याग करते हैं। वे दृश्यका नहीं, दृश्यत्वका त्याग करते हैं।



मौन

● **संगति**

एक महात्मा ऋषिकेशमें रहते हैं। उन्होंने अपना नाम 'सहज मौनी' रखा है। खूब बोलते हैं। आत्मदृष्टिसे वे सहज मौनी हैं।

धर्मशास्त्रका मौन है—हवन करते समय न बोलें क्योंकि बोलनेसे थूक निकलता है। पूजामें, जपके समय मौन रहा जाता है। मल-मूत्र-त्यागके समय मौन रहना चाहिए। स्नान और भोजनके समय मौन रहना चाहिए। मौनरूप क्रियासे धर्म उत्पन्न होता है।

मैं एकबार तेरह महीने मौन रहा। दो तोलेकी जीभ हिलाना तो बन्द हो गया किन्तु पाँच सेरका सिर हिलाते थे, हाथ-पैर हिलाते थे। वस्तुतः व्यक्ति चित्तकी शान्तिके लिए मौन होता है। चित्तमें विक्षेप बना रहा तो वह मौन क्या हुआ!

स्त्री रूठकर पतिसे मौन बन जाती है। यह मौन धर्मका अंग नहीं है।

भक्तिका मौन है—भगवान्‌से बातें करना, संसारसे मौन हो जाना। भगवन्नामोच्चारणमें मौन नहीं रखा जाता।

एक काष्ठमौन होता है। उसमें सङ्केत भी नहीं किया जाता। मौनको लोग बहुत बड़ा तप मानते हैं।

मैं एकबार गंगोत्तरी जा रहा था। एक चट्टीपर एक कुटिया थी। उसमें जो महात्मा रहते थे वे अठारह वर्षसे मौन थे। जब मौन तोड़ा और विचरण करने लगे तब मेरे पास भी आये। उन्होंने मुझसे कहा—'अमुक महात्मा जन्मसे ब्राह्मण हैं और मैं क्षत्रिय हूँ। उन्होंने उस सेठको शिष्य बना लिया जो मुझे बीस रुपये मासिक व्यय देता था। उन्होंने वह व्यय बन्द करा दिया।' घूम-घूमकर वे उन दूसरे महात्माके विरुद्ध प्रचार कर रहे थे। इस मौनसे चित्तका क्या निर्माण हुआ?

एक महात्मा वाराणसीमें एक वर्षके लिए मौन हुए। जब उनके मौनके ग्यारह महीने पूरे हो गये तब उनके भक्तोंमें इस समस्यापर विचार होने लगा

कि 'महात्माजी मौन भङ्ग करेंगे तो सबसे पहले किस शब्दका उच्चारण करेंगे?' इस बातको लेकर कमेटियाँ होने लगीं। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे एकादशीको कोई व्रत रहकर दिनभर सोचता रहे—'द्वादशीको क्या खायँगे?' लोग तो पैसेके लाभके लिए भी गाली सुनकर चुप लगा जाते हैं अतः जीभको रोके रहनेका नाम मौन नहीं है। मौन क्या है, यह तीन श्लोकोंमें बतला रहे हैं। ●

यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः॥ 107॥

अथ मौनं लक्षयति—यस्मादिति। शब्दप्रवृत्तिनिमित्तजातिक्रियादेरभावात् मनोवाचामगोचरं यन्मौनं वक्तुमशक्यं यद्ब्रह्म तथापि योगिभिर्गम्यं ज्ञानयोगिभिः प्रत्यगभिन्नत्वेन प्राप्यं तत्प्रसिद्धमेव ब्रह्मरूपं मौनं सर्वदा बुधो विवेकी भवेत्। तदहमस्मीत्यनुसन्दध्यादित्यर्थः॥ 107॥

वाणीके साथ मन जिसे प्राप्त न करके लौट आता है, जो मौनतत्त्व योगियोंका गम्य है, बुद्धिमान् वह मौन सर्वदा होवे॥ 107॥

महात्मा लोग राग-कथा, रोग-कथा, भोग-कथा या रूप-जगत्की चर्चा नहीं करते। संसारमें जितने शब्द हैं उनको बोलनेवाली सब वाणियाँ एक बार एकत्र हुईं। उन्होंने निश्चय किया—'हम परमात्मासे मिलने जायँगी।'

ब्रह्माने पूछा—'मार्ग सूनसान है, जाओगी कैसे?'

वाणियाँ—'किसीको साथ दे दीजिये?'

नारियोंके साथ पुरुषको कर देना उचित नहीं था। एक नपुंसक को, मनको साथ दे दिया। मन नपुंसक है। यह सोचता बहुत है किन्तु कर कुछ नहीं सकता। जो कुछ करता है, इन्द्रियोंके माध्यमसे ही करता है।

मनके साथ वाणियाँ परमात्माको पाने चलीं। जहाँतक गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द या मनोराज्यका क्षेत्र मिला, प्रसन्नतासे चलती गयीं। आगे जब शून्य आया तो मनका साहस टूट गया। मन लौटा तो सब लौट आयीं। परमात्माके पासतक कोई नहीं पहुँच सका।

तात्पर्य यह कि हम जो वाणीसे बोलते या बोल सकते हैं अथवा मनसे सोचते हैं वह परमात्माका स्वरूप नहीं है जो वाणीके बोलने और मौन, मनके सोचने और शान्त रहनेका साक्षी है वह चैतन्य है, वही ब्रह्म है। इस वाणी-

मनकी पहुँचसे परे उस योगिगम्य स्थितिका नाम मौन है। उसमें जो स्थित है वह विद्वान् है।

● **संगति**

मन-वाणी जहाँसे लौट आती हैं वह क्या स्थिति है?

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः॥ 108॥

नन्विदं प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुसन्धानं ध्यानरूपं चतुर्दशमङ्गं प्रतीयते इत्याशङ्क्य स्वारस्यात्प्रकारान्तरेण मौनमेव लक्षयति सार्द्धेन वाच इति। अयं भावः— शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावाद् ब्रह्म यथा वागविषयं तथा नामरूपजात्यादिप्रपञ्चोऽपि सदसदादिविकल्पासहत्वाद्वागतीतः॥ 108॥

जहाँसे वाणी लौट आती है उसका वर्णन किसके द्वारा शक्य है! यदि प्रपञ्चका ही वर्णन करना हो तो वह भी शब्द-वर्जित, अनिर्वचनीय है॥ 108॥

जहाँसे वाणी ही लौट आयी उसका वर्णन कोई कर कैसे सकता है! यदि कोई कहे कि वाणीसे उसका न सही, संसारका तो निरूपण हो सकता है? तो प्रपञ्च भी तो अनिर्वचनीय है। इसका वर्णन कैसे होगा? कौन-सा काम धर्म है और कौन-सा अधर्म? धर्माधर्म भी तो देश, काल तथा अधिकारीके अनुसार होते हैं। कोई वस्तु सत् हो तो वाणीसे कहें अथवा असत् हो तो उसको वाणीसे बतलावें। प्रपञ्चको असत् कह नहीं सकते क्योंकि यह अनुभवमें आ रहा है। परमब्रह्म परमात्माकी दृष्टिसे देखें तो यह सत् भी नहीं है। अतः प्रपञ्च भी कुछ वर्णन करने योग्य नहीं है।

दृश्य होगा तो निर्विकार नहीं होगा। अदृश्यका देखा किसने कि वह विकारी है या निर्विकार। संसारके विषयमें कुछ कहने योग्य बात ही नहीं है।

एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।— भागवत

ऐसा विचार करके सद्बुद्धि पुरुष बोलनेसे ही विराम कर लेते हैं।

● **संगति**

परमात्मा और प्रपञ्च दोनोंका वर्णन नहीं हो सकता तो यह जो लोग मौनव्रतकी बात करते हैं, यह क्या है? इसका समाधान करते हैं।

इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम्।
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः॥ 109॥

इतीति। इत्युक्तप्रकारेण ब्रह्मजगतोर्विवादत्यागरूपं वा तन्मौनं भवेत्। केषामित्याकाङ्क्षायां सतां चेदं प्रसिद्धमित्याह—सतामिति। सत्पुरुषाणां सहज-स्थितिनाम्ना प्रसिद्धमित्यर्थः। ननु वाङ्नियमनमेव प्रसिद्धं मौनमिति चेदत आह अर्द्धेन—गिरेति॥ 109॥

इस प्रकारका जो सन्तोंका मौन होता है वह सहजसंज्ञक होता है। यह वाणीका मौन तो वेदज्ञ पुरुषोंने बच्चों (अज्ञों)के लिए कहा है॥ 109॥

वाङ्मनसा अगोचर होनेसे परमात्माका निरूपण नहीं हो सकता और सदसद्विलक्षण होनेसे प्रपञ्चका भी निर्वचन नहीं हो सकता, तब बोलनेका अर्थ ही क्या! इसलिए महात्मा लोग सहज मौन रहनेको कहते हैं।

गिरा मौनं तु बालानाम्—वाणीका मौन तो बालकोंके, प्रारम्भिक साधकोंके लिए है। एक सज्जन 30 वर्ष मौन रहे। बोलने लगे तो उनका स्वर बहुत रूक्ष था। बच्चे जब बोल-बोलकर तंग कर देते हैं तो उनसे कहा जाता है—'चुप रहो! बोलो मत!' ऐसे ही महात्माओंने प्रारम्भिक साधकोंको वाणीका मौन रखनेको कहा है जिससे वे अनर्गल प्रश्न न करके साधनमें लगे रहें।

वाणीमें वही बात आती है जो इन्द्रियोंके द्वारा मनमें भासती है। मन भी इन्द्रिय-प्रत्यक्षके आधार पर ही विचार करता है। जो इन्द्रियों और मनसे ज्ञात हो तथा जो साक्षीको ज्ञात हो उसीका वाणीसे वर्णन हो सकता है किन्तु जिसे यह सब ज्ञात होता है वह अवाङ्मनसगोचर अपना आपा है। उसका वर्णन नहीं हो सकता।

वस्तुओंके वर्णनकी कुछ रीतियाँ हैं। किन्हीं वस्तुओंका वर्णन उनके गुणोंके द्वारा होता है, जैसे पुष्प पीला है। ये गुण इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं। कुछका वर्णन क्रिया द्वारा होता है, जैसे रसोइया, ड्राइवर। क्रिया भी इन्द्रियों द्वारा जानी जाती है। कुछका वर्णन जाति द्वारा होता है, जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी। किन्हींका वर्णन सम्बन्धसे होता है, जैसे अमुकका पुत्र या पत्नी। कोई वर्णन रूढ़ि द्वारा होता है, जैसे मान लिया कि इस बच्चेका नाम रामदास, इसका श्यामदास। शब्द अनियमित वर्णन किसीका नहीं कर सकते।

परमात्मामें शब्दादि गुण नहीं हैं, वह निर्गुण है। उसमें क्रिया नहीं है, वह निष्क्रिय है। उसकी जाति नहीं और किसीसे उसका सम्बन्ध नहीं। वह दृश्य

हो तो उसमें रूढ़ि-संकेत बने, वह तो अदृश्य है। जगत्में शब्दार्थ-संकेत काल्पनिक होता है किन्तु परमात्मामें कल्पनाकी भी गति नहीं है। जो कभी मनमें, ध्यानमें नहीं आया और साक्षि-भास्य भी नहीं हुआ, उसका वर्णन शब्दके द्वारा कैसे सम्भव है!

तब वेदान्तमें उसका वर्णन कैसे होता है?

वेदान्त उसका वर्णन लक्षणासे करता है। लक्षणा तीन प्रकार की होती है—1. अजहल्लक्षणा (अजहत् लक्षणा) 2. जहल्लक्षणा (जहत् लक्षणा) और 3. भागत्याग-लक्षणा।

अजहल्लक्षणा—किसीसे कहा 'दो ग्रास खा लीजिये।' इसका अर्थ दो ग्रास भोजन करना नहीं, अपितु और अधिक खिलानेमें कहनेवालेका तात्पर्य है जिसमें कहे हुए दो ग्रासका भोजन भी सम्मिलित है अर्थात् दो ग्रासको छोड़ा नहीं गया।

जहल्लक्षणा—जो कहा गया वह नहीं। उसके समान या उससे सम्बन्धित बातका ग्रहण होता है। जैसे कहा 'हाय, मर गये।' इसमें मरण तो सर्वथा नहीं हुआ। मरणके समान कष्टको इसने सूचित किया। कहा कि 'गङ्गायां घोषः'—गंगामें गाँव है। गंगामें गाँव होना सम्भव नहीं है अतः गंगाके तटपर गाँव है, यह कहनेका तात्पर्य है। जो कहा गया उसका शाब्दिक अर्थ छोड़ दिया गया।

भागत्यागलक्षणा—जो कहा गया वह न पूरा लिया गया, न पूरा छोड़ा गया। जैसे 'यह वही कलका देखा मनुष्य है जो सजाधजा था।' यहाँ कलका स्थान और वस्त्र छोड़ दिया गया पर मनुष्य वही है। अवस्थात्रय-वर्णनमें इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें एक ही चेतन रहता है, यह भागत्याग लक्षणा है। अवस्थाएँ छोड़ दीं, उस एक चेतनका ही ग्रहण कर लिया।

वेदान्त यह नहीं कहता कि—'हम सत्यका वर्णन करते हैं।' वेदान्त कहता है—'हम शब्दके द्वारा सत्यका परिमार्जन करते हैं। सत्यका निरूपण हम नहीं करते। सत्यमें जो असत्य भ्रम हो गया है उसे दूर करते हैं। सत्य पर जो नाम रूप विशेषका आरोप हुआ है उसका निषेध करते हैं।' झाड़ूका काम पृथ्वीको दिखलाना नहीं है, पृथ्वीपर पड़े कूड़ा करकटको हटा देना है। वेदान्ती शब्दका प्रयोग केवल दृष्टिसे करते हैं। शब्द प्रयोग अनुभव मार्गके प्रतिबन्धोंके निवारणार्थ है।

मौनं मुनिवृत्तिः, मुनेर्भावं मौनम्, मननान्मुनिः।

साधन दशामें सत्यके अनुसन्धानका नाम मौन है। सिद्ध दशामें मौनका अर्थ है सत्यस्वरूपसे अवस्थान। श्रुतिमें मौनका वर्णन है—

पाण्डित्येन निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत, बाल्येन निर्विद्य मौनेन तिष्ठासेत, मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणो भवन्ति।

पहले संसारसे विरक्त होकर शास्त्रको ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। जब यह समझदारी या पाण्डित्य आजाय कि 'अखण्ड वस्तुमें भेद या व्यवहार नहीं है' तब पाण्डित्य त्यागकर बाल्यभावसे रहना चाहिए। फिर यह बाल्यभाव भी छोड़कर मौन हो जाना चाहिए।

अपना जीवन वैसा न व्यतीत करे जैसा इन्द्रियोंको प्रिय है। जैसा जीवन अपनी अन्तर्दृष्टिसे प्रिय है वैसा जीवन व्यतीत करे।

ज्ञानबलभावेन—ज्ञानके बलके भावके अनुसार रहना चाहिए। पहले अध्यात्मविद्या प्राप्त की, फिर उसे अनुभूतिमें परिणत किया। इसके बाद विषय और अनुभूति दोनोंसे असंग होकर मौन हो गये। इसको भी त्यागकर सहज भावसे रहना ज्ञानीका जीवन है।

गिरा मौनं तु बालानाम्—केवल वाणीका मौन तो बच्चोंका मौन है। एक कथा सुननेमें आती है कि एक व्यक्तिके चार बालक थे। सब हकलाते थे। अतः उनका विवाह नहीं होता था। लड़कीवाले उन्हें देखने आये तो पिताने समझाकर उन्हें अच्छे कपड़े पहनाकर बैठा दिया। लड़कीवालोंने देखकर कहा—'लड़के तो सुन्दर हैं।'

यह सुनकर उत्साहमें एक लड़का बोल पड़ा—'अभी क्या डेखटे हैं टंडन-मंडन लगा लें टब देखना।'

दूसरा पहलेको डाँटकर बोला—'टुप्प।'

तीसरेने कहा—'पिटाजीने कहा ठा टुपटाप रहना।'

चौथा बोला—'हम टौ टुप्पै टाप।'

एक मौनीजीने तीन वर्षके लिए काष्ठमौन लेनेका संकल्प किया। उनको संकेत भी नहीं करना था। लगभग डेढ़ वर्ष व्यतीत होनेपर मैं उनके पास गया तो वे अपनी कुटियासे बाहर आ गये। हाथ पकड़कर मुझे कुटियामें ले गये और द्वार बन्द कर लिया। अब जो लिखकर बातें प्रारम्भ की तीन घण्टे लिखते

रहे। 21 पन्ने लिख डाले। बात कोई विशेष नहीं थी। मध्यम श्रेणीकी जो बातें प्राय: चलती हैं वही थीं।

गीताप्रेस बगीचेमें एक बार मौन रहकर, फलाहार करते हुए वर्षभर तक जप तथा कीर्तनका अनुष्ठान हुआ। उसमें 25-30 व्यक्ति साधक थे। मैं भी था। वहाँ भगवन्नामोच्चारणकी छूट थी; पर उसके अतिरिक्त भी प्राय: सभी संकेत करते, लिखते थे। ऐसे सब मौन व्यर्थ तो नहीं हैं किन्तु ये बालकोंके लिए अर्थात् प्रारम्भिक साधकोंके लिए उपयुक्त हैं। मौनसे कुछ शान्ति मिले, संयम हो, वासनाओंमें कमी आवे तो वह मौन साधन है अन्यथा वह साधन ही नहीं है।

मौन ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे न अपना हित हो, न दूसरेका। जब बोलना आवश्यक न हो तो न बोले। वाग्ज्योतिका अपव्यय न करे। जैसे हमें घरमें न रहना हो, दूसरा भी कोई न हो और चोरोंका भय भी न हो तो बत्ती जलती छोड़ना व्यर्थ है।

एक महात्माने कहा था—'कभी कुछ बात कहनी हो तो पहले तीन बार उसे मनमें बोलो। बाहर उसे बोले बिना अपना या दूसरेका कोई काम बिगड़ता हो तो बोलो अन्यथा मत बोलो।'

लोग अपनी जानकारी प्रकट करनेके लिए बोलने लगते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं—

बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानौ।

इस सम्बन्धमें कुछ नियम सदा पालन करने योग्य हैं—

1. अनावश्यक बात मुखसे न निकालें।

2. दूसरेका दोष अपने मुखसे न कहें।

3. अपने गुण अपने मुखसे न कहें। इससे अभिमान बढ़ता है। ईश्वरकी इतनी बड़ी सृष्टिमें अपने अहंका भला क्या महत्त्व है! बोलना हो तो परमेश्वरके सम्बन्धमें बोलें।

तात्पर्य यह है कि परिच्छिन्नताको पुष्ट करनेवाली नहीं, पूर्णताको पुष्ट करनेवाली चर्चा करनी चाहिए।

जैसे दूसरेके दोषोंका वर्णन तथा चिन्तन हमारी जिह्वा तथा हृदयको मलिन कर देता है वैसे ही सांसारिक वस्तुओंका गुणचिन्तन भी चित्तमें राग

उत्पन्न करता है। संसारकी सब वस्तुएँ अन्तमें भस्म होनेवाली हैं। मानसिक दृष्टिसे निद्राके समय वे अज्ञानमें मिल जाती हैं।

अपने दोषोंका भी बहुत चिन्तन अपनेमें हीनभाव उत्पन्न करता है और अपने गुणोंका चिन्तन अभिमान बढ़ाता है अतः गुण-दोष दोनोंका चिन्तन न अपनेमें करना, न दूसरेमें।

किसी-किसीका स्वभाव ही बोलनेका हो जाता है। इसे बदलनेके लिए थोड़ी देर प्रतिदिन मौन रखना उत्तम है।

अब मौनके स्वरूपपर कुछ विचार आवश्यक है। गीतामें तपके वर्णनमें मौनको मानसिक तप बतलाया गया है। आयुर्वेदकी एक प्राचीन पुस्तक कश्यप-संहिता जो नेपालमें मिली है उसमें कहा गया कि मनुष्य पहले बोलकर दुःखी होता है, अतः रोगोंसे बचनेके लिए बोलनेमें पाँच बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

सत्यं हितं मितं ब्रूयादभिसंवादि पेशलम्।

1. सत्य, 2. हित, 3. सीमित, 4. मतभेदरहित और 5. कोमल वाणी बोलनी चाहिए।

न बोलना यद्यपि वाचिक तपमें आता है किन्तु अमुक प्रकारका बोलना मानसिक तप है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

एक घरके लोगोंमें मतभेद होकर दो पक्ष हो गये। कारखाने उनके ज्यों-के-त्यों चलते रहे किन्तु घरमें मतभेद होनेसे कभी एक पक्ष दुःखी रहता तो कभी दूसरा। अतः मौनका अर्थ वाणीसे चुप रहना मात्र नहीं है, मौनका अर्थ है मनका मौन।



देश

● **संगति**

लोगोंके मनमें एकान्त देशकी भव्य कल्पना होती है। मैं एकान्त-सेवनके लिए गंगोत्तरी गया। एक वृद्ध महात्माने मुझसे वहाँ कहा-'देखो, तुम यहाँ पहले-पहल आये हो, गंगा-किनारे मत बैठना। वहाँ एकबार गंगाजीकी ओरसे शीतल वायु आती है और एकबार भूमिकी ओरसे उष्ण वायु। इससे मनुष्य बीमार हो जाता है।'

कमरे कि यह दशा कि रात्रिमें लोग जो रसोईं बनाते है, अग्नि जलाते हैं, उसका धुआँ शीतके कारण ऊपर तो जाता नहीं, सर्वत्र भर जाता है। वह नेत्रोंमें पीड़ा दे, उसमें बैठें तो भुनगे (छोटी जातिके मच्छर) नेत्रमें घुसें।

तात्पर्य यह है कि कोठीमें, स्थानमें एकान्त नहीं चाहिए एकान्त मनमें चाहिए। मनमें दूसरा न हो।

एकबार एकान्त-सेवन करने बद्रीनाथ गये। एक सज्जनने सुखाई हुई सब्जियाँ, आटा, चावल, दाल भेजा। किन्तु वहाँ तो वर्षा हो, ओले पड़ें, पानीके स्थानपर चाय पीनी पड़े। काली-कमलीवाले क्षेत्रने हममें-से प्रत्येकको तीन-तीन कम्बल दिये। एक-एक कम्बल पंजाब-सिन्धक्षेत्रसे लिये। शीत इतना कि स्नानके लिए कमरेसे बाहर निकलनेका साहस न हो। फलतः चार ही दिनोंमें ऊबकर लौट आये।

जङ्गलमें जाकर बैठे तो वहाँ गाय-भैंस चरानेवाले आकर बैठ गये। गाँवमें गये तो गाँववालोंने विचित्र-विचित्र प्रश्न किया, किसीने पूछा— 'कांग्रेसका भविष्य कैसा है?'

दूसरेने पूछा—'ताड़काके पिताका नाम क्या था?'

इस प्रकार स्थानमें एकान्त देश पानेका प्रयत्न व्यर्थ है। एकान्त अपने भीतर होना चाहिए। यदि तुम्हारे मनने सत्यके टुकड़े कर रखे हैं तो एकान्त कहाँ है! एकान्त देश तो परमात्मा ही है। ●

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥ 110॥

इदानीं देशं लक्षयति—आदाविति। अत्र जनस्य त्रैकालिकाभाव आनुभविकः स्वप्रतीत्या ज्ञेयः, न तु लौकिकशास्त्रीयप्रतीतिभ्याम्। विरोधादिति भावः। स्पष्टमन्यत्॥ 110॥

आदि-मध्य और अन्तमें जिसमें कोई है ही नहीं और जिसके द्वारा यह विश्व निरन्तर व्याप्त है, उसे ही एकान्त देश कहना चाहिए॥ 110॥

'जायत इति जनः' जो उत्पन्न होता है वह जन है। यह समस्त प्रपञ्च जन है। एक ऐसे आकाशकी कल्पना करें जिसमें मिट्टी-पानी, आग-हवा, सूर्य-चन्द्र, कुछ न हो। अपना शरीर भी जन है अतः यह भी वहाँ न हो। तब वहाँ न दिशा होगी, न काल होगा। वह चिताकाश है; किन्तु चित्त भी जन है अतः उसे भी छोड़ दें। अब जो भानात्मक आकाश रहा, यही एकान्त है। अर्थात् अपने स्वरूपको जानकर उसीमें रहना एकान्त है। अपने स्वरूपको छोड़कर एकान्त है ही नहीं।

जिसके आदि-मध्य-अन्तमें जन नहीं हैं, जो सबमें भरपूर है, जिसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं, वह विजन है।

प्रपञ्चको कालप्रधान दृष्टिसे जगत् कहते हैं क्योंकि यह जा रहा है। 'सर्व' की दृष्टिसे इसे विश्व कहते हैं।

बचपनमें घरसे निकलता और अरहर या गन्नेके खेतमें जाकर बैठ जाता कि यहाँ भजन करेंगे। आसपास कोई किसान देख लेता तो ढूँढ़नेका प्रयत्न करता और आकर कहता—'अरे, तुम यहाँ बैठे हो!' उस समय वही एकान्त समझमें आता था।

एक बार राजघाट गया तो जङ्गलकी ओर निकल गया। जङ्गल अच्छा लगा। भजन करने बैठ गया। कुछ ही देरमें चींटियाँ, दीमक आने लगे। दूसरे दिन गंगा-स्नान करने गया तो साथमें ढेर-सी बालू बाँध लाया और उसे एक वृक्षके नीचे बिछा लिया। चींटियाँ तो रुक गयीं किन्तु अब मच्छर तथा दूसरे उड़नेवाले कीड़े-मकोड़े काटने लगे। दो-तीन दिन बाद गाँववालोंने कहा—'आपको भिक्षा करने गाँवमें आना पड़ता है, हम वहीं भोजन पहुँचा देंगे।' वे भोजन देने आते थे और वहीं बैठ जाते थे। कहते थे—'दोपहरमें घरपर हमें काम नहीं रहता।'

इस प्रकार एकान्त ढूँढ़नेसे नहीं मिला करता। सच्चा एकान्त यह है कि अनेकमें एकका बोध हो जाय। जिससे सब व्याप्त है, जिसके आदि-मध्य-अन्तमें कोई जनन-मरणशील पदार्थ है ही नहीं, इससे जो भानमात्र है, उसे अपने आत्मस्वरूप एकान्तका सेवन करना चाहिए।

धर्मकी दृष्टिसे यज्ञशालामें बैठना एकान्त है। पूजाकी दृष्टिसे मन्दिरमें बैठना एकान्त है। वैराग्यकी दृष्टिसे गंगातटपर, पर्वतपर या जङ्गलमें बैठना एकान्त है। योगाभ्यासकी दृष्टिसे मनकी एकाग्रतामें बैठना एकान्त है।

तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अपने आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है ही नहीं—

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥

—अष्टावक्रगीता

यह भीड़-भाड़ भी मुझे अपनेसे पृथक् नहीं दिखायी देती। मेरा अपना आत्मा ही द्वैतके रूपमें प्रकट हो रहा है। मुझमें द्वैतदृष्टि है ही नहीं। अत: जैसे घोर जङ्गलमें रहना, वैसे भीड़-भाड़में रहना। इनमें भीड़से या वनसे प्रीति करनेका कोई अर्थ ही नहीं है।

जहाँ सम्बन्ध नहीं होता अथवा अत्यन्त आत्मैक्य होता है वहाँ उसे एकान्त ही कहते हैं। होते तो पति-पत्नी हैं अथवा दो व्यापारी हैं; किन्तु कहते हैं—'वे एकान्तमें हैं।' इसका अर्थ है कि अनुकूल व्यक्ति अपने साथ हो तो एकान्त है अन्यथा दो के रहनेपर एकान्त कैसा!

एक महात्माके पास दो शिष्य थे। उन्होंने प्रार्थना की—'हमें उपदेश कीजिये।'

महात्माने दोनोंको एक-एक खिलौनेका पक्षी देकर कहा—'जहाँ कोई न देखता हो वहाँ इसे तोड़कर ले आओ तो उपदेश करेंगे।'

एक शिष्य गया और थोड़ी देरमें पक्षीको तोड़ लाया। दूसरा दो-तीन दिन पीछे वैसे ही लेकर लौटा। उसने कहा—'मुझे ऐसा कोई स्थान नहीं मिला जहाँ कोई न देखता हो। दिनमें सूर्य और रात्रिमें चन्द्रमा या तारे देखते हैं। गुफाओंमें चींटी, मच्छर, कीड़े देखते हैं। दूसरा कोई न देखे तो ईश्वर देखता है और स्वयं मैं देखता हूँ। अत: मैं पक्षीको तोड़ नहीं सका।'

यह विचारवान् अधिकारी है। वस्तुत: तो वस्तुको देखकर ही उसके ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिमादिकी कल्पना होती है। वस्तु-भेद न हो तो अधिष्ठान चेतनसे देश अपनेको पृथक् दिखलावे ही नहीं।

ब्रह्माभिन्न देशमें पूर्वादि-कल्पना अन्त:करणकी उपाधिसे कल्पित हैं और अन्त:करण अपने स्वरूपमें बाधित है। अत: द्वैतका बाध हो जाना ही एकान्त है।



● **संगति**

प्रतिदिन प्रातः ब्राह्ममहूर्त्त होता है। यह सोते रहनेका समय नहीं है। स्थूल समष्टिमें जब सूर्योदय सन्निकट होता है तब सूक्ष्म-व्यष्टिमें भी विचारोदय सन्निकट होता है।

धियो यो नः प्रचोदयात्।

हमारी बुद्धिका प्रेरक सूर्य है।

उदेत्ययं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशो विश्वाय सूर्यम्।
सूर्यमात्मा जगतस्तस्थुषश्च।

आदि वाक्य श्रुतिमें मिलते हैं। जो उगते सूर्यका आदर नहीं करेगा वह उदित होते ज्ञानका भी क्या आदर कर सकेगा? अतः मनमें प्रकाशके प्रति आदर होना चाहिए, तब ज्ञानके प्रति मनमें आदर-भाव बनेगा। वस्तुतः ज्ञानके बिना कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। अतः ज्ञानका आदर ही अभ्युदय है।

अभि=सर्वतोमुख, उदय=अभ्युदय। अतः प्रकाशके आदरका अर्थ है सर्वतोमुखी उन्नतिका आवाहन। जब कर्मी श्रान्त होकर निद्राकी गोदमें होता है, जब भोगी भोग-श्रान्त होकर सो जाता है, जब प्रकृतिका कण-कण शान्त होता है, जब मछलियाँ, पक्षी, लता-वृक्षतक सुप्त होते हैं, उस समय उठकर उस शान्त नीरव वातावरणमें अपनेको परमब्रह्म परमात्मासे अभिन्न देखना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्या श्रीमद्भागवतमें दी गयी है, वहाँ वर्णन है—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥ 10.70.4

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर श्रीमाधवने आचमन किया और तब निर्मल चित्तसे तमससे परे अपने स्वरूपका ध्यान करने लगे।

कालमें किसी आचार्यने सम्प्रदाय-भेदसे सोमवार, किसीने मङ्गलवार, किसीने रविवार, किसने शुक्रवार (जुम्मा)को पवित्र माना है। एकादशी,

अमावस्या, पूर्णिमा, जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि आदि पर्व पवित्र माने जाते हैं। वैशाख, कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ आदि महीने पवित्र कहे गये हैं। किन्तु वस्तुतः जितने समय तुम्हारा मन पवित्र रहे, वह समय पवित्र है। जब लोभ, मोह, पर-पीड़न या कामसे आक्रान्त न हो, जब तुम भोगका त्याग कर सको, उत्तम कार्य कर सको, वह समय पवित्र है। कर्मकाण्डमें भी कहते हैं—

तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं दैवबलं तदैव लक्ष्मीपतेस्ते चरणं स्मरामि॥

भगवान् श्रीपति! जब हम आपके चरणोंका स्मरण कर सकें तभी उत्तम लग्न है, उत्तम दिन है, तारा और चन्द्रमा तभी अनुकूल हैं, विद्या बलवती है तथा भाग्य भी प्रबल है।

एक राजाके मनमें प्रश्न उठा—'संसारमें सबसे बड़ा मनुष्य कौन? सबसे श्रेष्ठ कर्म कौन? सर्वोत्तम काल कौन-सा?'

राजाने विद्वानोंको बुलाकर पूछा। सबसे अपने-अपने मान्य-पुरुषोंको श्रेष्ठ बतलाया। जिसे जो कर्म प्रिय था उसे उसने उत्तम बतलाया। जैसे औषधालय खोलना, विद्यालय चलाना, ध्यान, जप, तप, यज्ञादि। आजकल एक बड़े नेता कहते हैं—जो काम सरकार कर रही है शिक्षा-चिकित्सादिका, उधर ध्यान देना अनावश्यक है। वे काम तो हो ही रहे हैं। जिन कामोंकी सरकारने उपेक्षा कर दी है, जैसे प्राचीन संस्कृति, ऐसे कामोंकी ओर ध्यान देना चाहिए।

भिन्नरुचिर्हि लोकः—कोई काम सर्वोत्तम सिद्ध नहीं हो सका। इसी प्रकार तिथियों, वारों, मासोंकी श्रेष्ठताको लेकर विवाद हुआ। राजाका समाधान नहीं हो सका। किसीने बतलाया—'राज्यके बाहर वनमें एक सन्त रहते हैं, उनसे पूछिये।'

राजा थोड़ेसे व्यक्तियोंको साथ लेकर सन्तसे मिलने चल पड़े। अवसर देखकर एक शत्रुने उनपर आक्रमण कर दिया। किन्तु राजा सावधान थे। वह आक्रमणकारी ही घायल हुआ और भाग खड़ा हुआ। वह भी भागता हुआ वनके टेढ़े-सीधे मार्गोंसे उन सन्तकी ओर ही चला।

राजा जब सन्तके समीप पहुँचे तो वे अपनी फुलवारीके पौधे सींच रहे थे। हाथ जोड़कर जब राजा प्रणाम करके खड़े हुए तो सन्तने कहा—'खड़ा क्यों है, पौधे सींचनेमें मेरी सहायता कर।'

राजाने पानी भरकर लाना प्रारम्भ कर दिया। सन्तोंका स्वभाव अटपटा होता है। काशीमें स्वामी श्रद्धानन्दजीका दशाश्वमेध घाटपर एक मठ था। एक नरेश उनका दर्शन करने आये। स्वामीजीका भव्य मठ देखकर उन्होंने पूछा—'संन्यासीकी क्या पहचान है?'

स्वामीजीने पुकारा—'यहाँ कोई है?'

शिष्य आगये दो-तीन तो स्वामीजीने आज्ञा दी—'इसे कान पकड़कर द्वारके बाहर खड़ा कर दो।'

नरेशको द्वारके बाहर खड़ा कर दिया गया; किन्तु वे श्रद्धालु थे। पूरी रात्रि हाथ जोड़े शीतऋतुमें सर्दीसे काँपते खड़े रहे। प्रातःकाल स्वामीजी उठे और गंगा-स्नान करने निकले तो नरेशको काँपते, दाँत कटकटाते देखा। मठमें लाकर अग्निके समीप बैठाया, गरम दूध पिलाया और फिर बोले—'साधुकी यह पहचान है।'

वह राजा सन्तको पौधे सींचनेके लिए पानी भरकर दे रहा था, इतनेमें उसका घायल शत्रु वहाँ आगया। महात्माने उसे लिटाया, उसके घाव धोये, पोंछे और उसकी पगड़ी जलाकर वह भस्म घावमें भरी। अब राजासे बोले—'इसे पंखा करो। माँगे तो जल पिलाओ।'

राजाने रात भर पंखा किया उस शत्रुको। प्रातः जब महात्माने उन्हें जानेको कहा तो बोले—'मैं कुछ पूछने आया था।'

महात्मा हँसे और बोले—'तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर तो हो गया। पहले जो कर्म तुम कर चुके या आगे करोगे वे उत्तम नहीं हैं। वर्तमानमें जो कर्म सामने है, तुम्हारे लिए वही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। उसे पूरे मनसे, पूरी एकाग्रतासे करो। मनुष्य वह सर्वश्रेष्ठ है जिसकी सेवा करनेका अवसर तुम्हें प्राप्त हुआ है। समय वर्तमान श्रेष्ठ है, जो अपने हाथमें है। उसका ठीक सदुपयोग करो।'

यदि आजका समय नष्ट कर रहे हो तो कलका, भविष्य भी नष्ट हो जायगा। जिसका वर्तमान रूठा है उसका भूतकाल झूठा हो गया और भविष्य उससे रूठा हुआ है। वर्तमान मीठा है तो भूत-भविष्य दोनों मीठे हैं।

व्यक्ति, कर्म और समयके सम्बन्धमें निर्णय यह है कि प्राप्तका सदुपयोग करो। अप्राप्त अथवा भविष्यकी या विगतकी चिन्तामें वर्तमानको नष्ट मत करो। ●

कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टो ह्यखण्डानन्द अद्वयः॥ 111॥

अथ कालं लक्षयति—कलनादिति। निमेषत आरभ्य कलनात्सर्गस्थिति-प्रलयाधारत्वादित्यर्थः। शेष स्पष्टम्॥ 111॥

ब्रह्मादि समस्त प्राणियोंको निमेषमें ही कलन-आकलन (सृष्टि-स्थिति-प्रलय) करनेके कारण अखण्ड आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म ही काल शब्दसे निर्दिष्ट है॥ 111॥

नवीनके जन्म और प्राचीनकी मृत्यु जो प्रतिक्षण हो रही है उस गति-सातत्यका ही नाम काल है। शरीरमें नवीन कीटाणु उत्पन्न हो रहे हैं, मर रहे हैं, नदीका जल बहता जा रहा है, दीपककी लौ बदलती जा रही है, किन्तु इनकी गतिका पता नहीं लगता। संसार इन्हींके समान प्रतिक्षण बदलता जा रहा है। जीवन और मृत्युका क्रम सतत ही चल रहा है। कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक क्षण-क्षणमें मर रहे हैं, जी रहे हैं।

कालको मापनेकी प्राचीन प्रथा यह थी कि जितने समयमें सूर्य परमाणु-स्थानका अतिक्रमण करता है उतने कालका नाम परमाणुकाल रख दिया गया। दो परमाणुका एक अणु। तीन अणुका एक त्रसरेणु। सूर्य एक वस्तु और परमाणु स्थान है। चला सूर्य और स्थानमें चला। सूर्य, अन्य, परमाणु अन्य। इससे टुकड़ा कल्पित किया गया काल। अन्यके खण्ड होनेसे अन्यका खण्ड मान लेना कल्पना है। खण्ड तो केवल द्रव्यमें ही होता है। परमाणु द्रव्य है। अवकाशात्मक देशमें परमाणुसे सचमुच कोई अवच्छेद नहीं हो सकता। देश और परमाणुसे कल्पित खण्डदेशमें सूर्यकी गतिसे काल खण्डित नहीं हो सकता। काल देश और वस्तुके छोटा-बड़ा होनेसे छोटा-बड़ा नहीं हो सकता। काल तो एक और अखण्ड है।

कालमें भूत-भविष्य-वर्तमान भेद नहीं होता। भूत-भविष्य-वर्तमान शरीरका होता है—पदार्थोंका होता है। कालमें ये उपाधि हैं। इन उपाधियोंसे कालमें भूत-भविष्य-वर्तमान आरोपित हैं।

इसी प्रकार देशमें पूर्व-पश्चिमादि दस भेद वस्तु-द्रव्यकी उपाधिसे आरोपित हैं। उपाधिसे आरोपित भेद वस्तुमें नहीं होता।

देखना यह चाहिए कि देश-काल-वस्तुका भासक या प्रकाशक और

अधिष्ठान क्या है ? यह चिन्तन आपको अपने अद्वितीय अखण्ड स्वरूपमें ले जायगा। देश-काल-वस्तु ये तीनों तीन नहीं, एक ही हैं। अखण्ड देश-काल-सत्ताका चिन्तन अखण्ड अद्वय तत्त्वका ही चिन्तन है।

कालके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बहुत गणना है। ज्योतिषकी सब गणना काल-गणना है। आजसे 5000 वर्ष पूर्व भी किसी ज्योतिषीसे वर्तमान संवत्के ग्रहणका दिन पूछते तो वह बिना किसी यन्त्रकी सहायताके बतला देता। हमारी तिथियाँ चन्द्रमाकी ह्रास-वृद्धिसे सम्बन्ध रखती हैं।

महात्माओंने निश्चय किया कि द्रव्यसे ही कालका ज्ञान होता है। द्रव्यमें परिणामका जो क्रम होता है उस क्रमकी संवित्का नाम काल है। इस प्रकार काल ज्ञानका ही एक रूप है।

काल अनादि-अनन्त है। कालका आदि या अन्त सोचा नहीं जा सकता। जो वस्तु कल्पनाके साथ उत्पन्न हो और कल्पनाके साथ मिट जाय वह वस्तु कल्पनासे भिन्न नहीं होती। कालका आदि-अन्त, कालके अवयवोंकी कल्पना हमारे मनमें है तो वे हैं, कल्पना नहीं है तो नहीं है। कल्पनावच्छिन्न चैतन्य ही कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य होता है। अतः कोई अनादि-अनन्त काल नहीं है। कल्पना ही काल है। अतएव कल्पनामें स्थित काल चैतन्यसे अभिन्न है। हृदयावच्छिन्न चैतन्य 'मैं' है अतः हृदयमें दिखायी देनेवाले कालका द्रष्टा 'मैं' हूँ। काल अनादि नित्य है तो उसका द्रष्टा होनेसे मैं अनादि और नित्यसे बड़ा हूँ। अनादि और नित्यसे बड़ा सत्य ही होगा।

काल मिथ्या रूपसे अनादि और नित्य है। अतः मिथ्याकल्पनारूप काल अधिष्ठानरूप ही है। उत्तम काल वह है जिसमें कालके अवयव घण्टा, मिनट, दिन आदि न भासें। निरवयव काल अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे अभिन्न ही है।

'मैं ब्रह्म नहीं' अपनेको इस भ्रान्त बुद्धिसे जिस समय मुक्त कर लिया वही सर्वोत्तम काल है। इसीमें रहना चाहिए।



आसन

● **संगति**

बैठनेका ढंगका नाम आसन है। बैठनेका ढंग अपने लक्ष्यके अनुरूप चाहिए। थोड़ी देर कोई काम करना हो तो भी सोचना पड़ता है कि कैसे बैठें, किस प्रकार बैठनेपर यह कार्य ठीक होगा। परमात्माका अनुभव थोड़ी देरके लिए नहीं करना है अत: इसमें आसन वह चाहिए जो सदा रहे। शरीरका कोई भी आसन सदा तो रहेगा नहीं। सहज वस्तुकी प्राप्तिके लिए सहज आसन चाहिए। वेदान्त सम्प्रदायमें वह आसन श्रेष्ठ मानते हैं जो बैठकर हो—आसीन: सम्भवात्। अर्थात् बैठकर ही भजन-चिन्तन सम्भव है।

एक सज्जन चलते-चलते भजन करते थे। एक दिन गड्ढेमें पैर पड़नेसे गिर पड़े तो दाँत टूट गया। एक साधु सिद्ध बनते हुए मकानकी वल्लीमें पैर फँसाकर चमगादड़की भाँति उलटे लटककर भजन करने लगे। पैर ढीले पड़े तो गिर पड़े, सिर फूट गया। एक सज्जन लेटकर भजन करते थे और भजन करते-करते खर्राटे भरने लगते थे।

चित्त एकाग्र होता है तो श्वासकी गति मन्द पड़ जाती है। सुषुप्तिमें श्वासकी गति बढ़ जाती है। लेटकर भजन करना लयका हेतु होनेसे और चलते हुए भजन करना विक्षेपका हेतु होनेसे वर्जित है। खड़े होनेमें चित्त एकाग्र करना कठिन है। अत: स्थिर बैठकर ही भजन करना चाहिए। जैसे सुखपूर्वक स्थिर बैठ सकें वही आसन है।

व्यायामके लिए आसन करना हो तो किसी व्यायामशालामें जाकर सीख लें। मनुष्यका अन्त:करण पूर्व-पूर्व योनियोंमें विभिन्न पशु-पक्षी आदिके शरीरमें रहा है। उनके कुछ संस्कार मनुष्यमें शेष हैं। अपने शरीरको तो वैसा बनाया नहीं जा सकता, उन पशु-पक्षियोंके अनुकरणपर आसन बनाना है। उष्ट्रासन, वृश्चिकासन, मयूरासनादि व्यायामके आसन हैं।

वेदान्तमें उस अवस्थाका नाम आसन है जब श्रम न हो, कर्तृत्वका उदय न हो और इस अवस्थाका भोग भी न हो।

श्रम छोड़ दें, श्रमका कर्तृत्व छोड़ दें, भोग और भोक्तृत्व भी छोड़ दें। 'मैं इस शरीरमें सीमित हूँ' यह भ्रान्ति छोड़ दें। 'मैं कहीं बैठा नहीं हूँ। सम्पूर्ण सृष्टि

मुझमें बैठी भास रही है। पृथ्वी-आकाश मुझमें प्रकाशित हो रहे हैं। मैं पृथ्वीपर आकाशमें नहीं बैठा हूँ।' इस स्थितिका नाम आसन है।

एक फक्कड़ महात्मा मिले। बोले—'मान लो कि जब तुम शौचके लिए बैठे हो उसी चित्तमें शान्ति या आनन्दकी लहर आयी तो क्या करोगे? उस लहरमें शरीरका चिन्तन छूट रहा है तो छूट जाने दो। शौच-लघुशंकाका विचार छोड़ दो। यह जो जीवनमें सौभाग्यका क्षण आया है कि संसारका चिन्तन, कर्तृत्वभोक्तृत्वका चिन्तन छूट रहा है, द्वैतहीन स्थितिका सहज उदय हो रहा है तथा तुम्हारी परिच्छिन्नता उसमें डूब रही है, इस सौभाग्यक्षणका तिरस्कार मत करो। शारीरिक स्थितिका उतना महत्त्व नहीं है जितना इस द्वैतरहित स्थितिका महत्त्व है। यह स्थिति ही आसन है।' ●

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम्॥ 112॥

आसनं लक्षयति—सुखेनैवेति। यस्मिन्सुखे सुखरूपे ब्रह्मणि चिन्तनं कर्त्तव्याकर्त्तव्यचिन्ता नैव भवेत् तद्ब्रह्मासनं विजानीयादित्यन्वयः। कीदृशं ब्रह्म अजस्रं कालत्रयावस्थायीत्यर्थ। सुगममन्यत्॥ 112॥

जिस प्रकार सुखसे अजस्र ब्रह्म-चिन्तन हो उसे आसन समझना चाहिए। इससे भिन्न आसन तो सुख-नाशन है॥ 112॥

किसी-किसीको आसनका अभ्यास करके आसन-सिद्ध हो जानेका देहाभिमान हो जाता है। सीधे स्थिर कई घण्टे बैठे रहना शरीरका आसन है। कई लोग ऐसा कर लेते हैं। यह अभ्यासकी दृढ़ता है।

स्थिरसुखमासनम्। योगदर्शन

जिसमें शरीर या पैर स्थिर रहें वह आसन नहीं है। आसन वह है जिसमें सुख स्थिर रहे।

सुख क्या है? सुख है—सु+ख। सु=सुष्ठु+ख=हृदयाकाश। अपना हृदयाकाश जिसमें सुष्ठु वह सुख। हृदयाकाश जिसमें दूषित हो जाय वह दुःख।

हृदयमें कुछ भी भरें तो वह निर्मल नहीं रहेगा। जब हृदयमें किसी कमीका अनुभव नहीं होता, किसी वस्तुकी प्यास नहीं रहती, तब सुख रहता है। हृदयकी इस निर्मलतामें स्थित रहना आसन है। हृदयमें संसारका

कोई चिन्तन न हो। वृक्ष न हो, जल न हो, किन्तु शीतलता हो; पुष्प न हो पर सुगन्धि हो तो समझना चाहिए कि हृदयमें आत्माका सौन्दर्य मूर्त हो रहा है।

हृदयमें जगत्का-शवका स्पर्श नहीं, अपितु अमृतका स्पर्श हो रहा हो। शवका स्पर्श करके तो स्नान करना पड़ता है। अन्तःकरण उस समय अशुद्ध हो जाता है जब हम शवको अर्थात् बीते हुएको सोचते हैं।

मैं पहले पद्मासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासनसे बैठता था। स्वामी योगानन्दजी महाराजने वीरासन बतलाया था। ये चार ही मेरे बैठनेके आसन थे। घंटे-दो-घंटे बैठनेपर पैर जकड़ जाते थे। उन्हें हाथसे पकड़कर फैलाना पड़ता था। दर्द होता था और पैर सूने पड़ जाते थे।

एक बार मैं और सुदर्शनजी कैलाशाश्रम ऋषिकेशमें ठहरे थे। रातमें लघुशंका करने गया तो बिच्छूने डंक मार दिया। मैं पद्मासन लगाकर बैठ गया और सुदर्शनजीको किसीसे कहनेके लिए रोक दिया। थोड़ी देरमें पैर सूना पड़ गया, वहाँका रक्त-सञ्चार बन्द हो गया। उन्होंने सब बिस्तर-कम्बल आदि समेटकर मेरी पीठके पीछे सहारा लगा दिया। मैं सो गया।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार स्थिर रूपसे ब्रह्मचिन्तन हो सके उस प्रकार बैठना आसन है।

नेतरत्—जिससे सुखका नाश हो, बैठनेमें कष्ट हो, वह आसन नहीं है। बहुत देर स्थिर बैठनेपर 'हम आसनसिद्ध हो गये' यह अभिमान बढ़ा तो सुखका नाश हुआ।

इतरत् आसनं न भवति। जिसमें सुख न हो, दुःख हो, पीड़ा हो, वह आसन नहीं है। वह तो सुखका नाश करनेवाला है।

हठयोग शारीरिक स्थितिसे, मन्त्रयोग वाक्की प्रधानतासे, लययोग मनकी प्रधानतासे, राजयोग बुद्धिकी प्रधानतासे, महाराजयोग आत्माकी प्रधानतासे, राजाधिराजयोग ब्रह्मकी प्रधानतासे और अधिरूढ़ राजाधिराजयोग आत्मा-ब्रह्मकी एकतासे होता है। यह सहज स्थिति ही आसन है।



सिद्धासन

● **संगति**

आसन अनेक प्रकारके होते हैं। व्यायामके आसन तो करने नहीं है। भजनके आसनोंमें भी पद्मासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन आदि अनेक आसन हैं। इनमें सिद्धासन सरल है। अत: सिद्धासनकी ही बात करते हैं। ●

सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥ 113॥

प्रसङ्गादासनविशेषं लक्षयति-सिद्धमिति। सिद्धं च तदासनं च। अथवा सिद्धानामासनं सिद्धासनमिति। कर्मधारयतत्पुरुषसमासाभ्यां ब्रह्मैवेत्यर्थः॥ 113॥

जो सब भूतोंका आदि और विश्वका अधिष्ठान अव्यय सिद्ध है, जिसमें सिद्धजन समाविष्ट होते हैं, उसीको सिद्धासन जानना चाहिए॥ 113॥

सिद्धासन यह है कि सिद्ध स्थितिमें बैठे। हमारी इन्द्रियाँ विषयोमें जाती हैं, उससे पूर्व जो उपस्थित है वह सिद्ध है। हमारा मन किसीका चिन्तन करता है, उससे पूर्व जो विद्यमान है, वह सिद्ध है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके आनेसे पूर्व जो है वह सिद्ध है और इन अवस्थाओंके न रहनेपर भी जो रहता है वह सिद्ध है।

एक साध्य स्थिति होती है, एक सिद्ध। मन या इन्द्रियोंसे किसीको सोचना-पकड़ना चाहते हैं तो वह साध्य है। हमारा मन विषयको पकड़ना चाहता है! विषय और मनसे भी पूर्व जो तत्त्व रूपसे विद्यमान चेतन है वह सिद्ध है।

कर्त्तापन, भोक्तापन, संसारीपन या परिच्छिन्नता बुद्धिमें दृढ़ बैठी है। इन सबसे पूर्व जो आत्मा है उसका न कर्मसे सम्बन्ध है, न भोगसे, न ही वह परिच्छिन्न है। अतः अपनेको सिद्ध साक्षीके रूपमें ज्यों-का-त्यों विराजमान रखना सिद्धासन है।

सुखी होनेके लिए अपनेको किसी वस्तु या व्यक्तिके पराधीन नहीं करना चाहिए। एक मनुष्यके दाँत टूट गये। वे बोले—'हाय-हाय! अब हम पूड़ी कैसे खायेंगे!' पीछे वे खीर-चूरमा खाने लगे। हम बिना भोगके सुखी नहीं हो सकते अथवा बिना कर्मके निर्माण नहीं कर सकते, ऐसा सोचना भ्रम है। हम स्वयंप्रकाश सिद्ध वस्तु हैं। इसे सिद्ध करनेके लिए इन्द्रियोंको न चञ्चल करना आवश्यक है, न स्थिर करना। मनकी चञ्चलता या स्थिरताकी दोनों दशाओंमें जो आनन्दस्वरूप है, जो सब भूतोंके आदिमें है, समस्त विश्व उसीमें है। उसका कभी नाश नहीं होता। इसी सत्यमें सिद्ध लोग बैठते हैं।

एक शिष्यने गुरुसे पूछा—'हम भजन करने कहाँ बैठा करें?'

गुरु—'जहाँ हम बैठते हैं।'

शिष्य—'जहाँ आप बैठते हैं वहाँ मैं कैसे बैठ सकता हूँ।'

गुरु—'हम-तुम एक ही हैं। जहाँ, जिस स्थितिमें हम बैठे हैं वहीं, उसी स्थितिमें तुम भी बैठो।'



मूलबन्ध

● संगति

आसनसे बैठकर बन्ध किये जाते हैं। योगमें बन्ध होते हैं। मध्यमकालके संतोंने बन्धोंको बन्द कहा है। वे एक बन्द (मुख बन्ध), द्विबन्द (मुख और नेत्र बन्द), त्रिबन्द (मुख, नेत्र और कर्ण बन्द) और चतुर्बन्द (मुख, नेत्र, कर्ण तथा नासिका बन्द) की बात करते हैं। ये बन्द योगके बन्धोंसे भिन्न हैं।

योगमें तीन बन्ध प्रधान हैं—1. उड्डीयान-बन्ध, 2. जालन्धर बन्ध और 3. मूल-बन्ध। उड्डीयान-बन्ध प्राणोंको सुषुम्नामें पहुँचाकर ऊर्ध्वगतिकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। इससे ऊर्ध्वलोकोंमें गति होती है। जालन्धर-बन्ध का अर्थ है चिबुकको हृदयमें लगा देना। इससे सर्वज्ञत्व आदि सिद्धियोंकी प्राप्तिका वर्णन है। मूलबन्ध है गुदाद्वारका संकोच करना। इससे अपानवायुको ऊपर चढ़ाया जाता हैं। इससे अधोगति नहीं होती और जीवन निर्विकार बनता है। यह तो योगका मूलबन्ध है। वेदान्तका मूलबन्ध कैसा है, यह बतला रहे हैं। ●

यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योगोऽसौ राजयोगिनाम्॥ 114॥

अथ मूलबन्धनं लक्षयति-यन्मूलमिति। आकाशादिसर्वभूतानां यन्मूलमादि-कारणं ब्रह्म तथा चित्तबन्धनं चित्तस्य बन्धकारणं मूलाऽज्ञानं तदपि यन्मूलं यदाश्रयं पृथक्सत्ताशून्यात्वादिति। यद्वा चित्तस्य बन्धनमेकत्र लक्ष्ये निग्रहस्तदपि यन्मूलं यस्य ब्रह्मणः प्राप्तिनिमित्तमित्यर्थः। स मूलबन्ध इत्यन्वयः। राजयोगिनां व्यवहारेऽप्य-विक्षिप्तचिरत्तत्तालक्षणो राजयोगस्तद्वतां ज्ञानपरिपाकयुक्तानामित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्॥ 114॥

जो सब भूतोंका मूल है, जो चित्तकी स्थितिका मूल है, उस मूलमें सदा अपनी स्थिति करनी चाहिए। यह मूलबन्ध राजयोगियोंका है॥ 114॥

यन्मूलं सर्वभूतानाम्—जो सर्वभूतोंका मूल है। सबका मूल कौन है? 'मैं'। नेत्र अपने पहचान करनेकी शक्ति हमसे ही लेते हैं और पहचाननेका निष्कर्ष हमें देते हैं, पहचानकर हमें बतलाते हैं। कर्ण, नासिका, त्वचा, रसना, सब हमसे शक्ति लेते हैं और अपनी पहचानकी निष्कर्ष हमें देते हैं। मन हमें प्रिय-अप्रिय बतलाता है। इनका स्वामी, इनका मूल 'मैं' हूँ। सबका मूल आत्मा है। उपनिषद्‌की श्रुति है—

एवमेव प्राणबन्धनः खलु सौम्य मनः।

मन और सब इन्द्रियाँ हमारे साथ बँधी हैं। जाग्रत् और स्वप्नमें घूम-फिरकर, देख-सुनकर ये सुषुप्तिमें हममें लौट आती हैं।

ब्रह्माण्डोंका भावाभाव, उदय-विलय पञ्चभूतोंमें होता है। पञ्चभूतोंका उदय-विलय विराट्‌में। विराट् चैतन्यकी उपाधिका उदयास्त हिरण्यगर्भ में होता है। हिरण्यगर्भका भावाभाव ईश्वरमें और ईश्वरका मायाकी उपाधिमें।

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं—'जगत्‌का उदय-विलय अचित् अंशमें होता है।'

यह माया जिसमें कल्पित भास रही है वही सबका मूल है। वह दूसरा नहीं है। वही अनन्त सर्वत्र है। सारी सृष्टिके भावाभाव जिसमें होते हैं वह 'तत्' पदका लक्ष्यार्थ है। चित्त जिसके साथ बँधा है, समस्त मानसिक एवं ऐन्द्रिय प्रतीतियाँ जिससे बँधी हैं, वह प्रत्यक्‌तत्त्व 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ है।

जो चित्ताधिष्ठान है वही चैत्याधिष्ठान भी है, चित्त भी उपाधि है और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भी उपाधि है। इन दोनों उपाधियोंका बाध करके परिच्छेदसामान्यसे रहित जो चिन्मात्र है, यह राजयोगियोंका मूल है। यही मूलबन्ध राजयोगियोंको सदा करना चाहिए। एड़ीसे गुदाद्वार बन्द करके अपानवायुको ऊपर चढ़ाना तो हठयोगियोंका मूलबन्ध है।



देहसाम्य

● **संगति**

योगशास्त्र कहता है कि मनुष्यको अपने अंग सम रखने चाहिए। गीतामें आया है—

समं कायशिरोग्रीवम्।

श्रीकृष्णने बचपनमें माता यशोदाको मक्खन निकालते बहुत देखा था। अतः गीताके रूपमें उन्होंने भी समस्त वेदशास्त्रका मक्खन ही निकालकर रख दिया है।

प्राणका सुषुम्ना नाड़ीमें सञ्चार हो इसके लिए आवश्यक है कि देह सीधा रहे, मेरुदण्ड सीधा रहे। मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त शरीर सीधा हो तो सुषुम्ना नाड़ी सीधी रहती है। यह सुषुम्ना सब नाड़ियोंमें सूक्ष्म है। उससे सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति है। कुण्डलिनीके जागने पर सुषुम्नामें-से चैतन्य-रस स्रवित होता है।

समाधि लगानेके लिए, कुण्डलिनी-जागरणके लिए, इष्टके ध्यानमें तन्मय होनेके लिए सीधे बैठना आवश्यक है। शरीर हिलेगा तो मन हिलेगा और मन चंचल होगा तो प्राणोंको नियमन नहीं हो सकेगा। जबतक शरीर, मन, प्राण और वीर्य, ये चारों स्थिर नहीं होंगे तबतक समाधि लगना सम्भव नहीं है।

ध्यान, मन्त्र, गुरु, आत्मा और परमात्मा इन सबका एकत्व हुए बिना न कुण्डिलीनी-जागरण होता, न समाधि लगती। वैसे तो शरीर 12 मिनटतक सर्वथा निश्चल रहे तो मन एकाग्र हो जाता है, दो घण्टेतक शरीर सर्वथा निश्चल रहे तो लय समाधि हो जाती है, किन्तु ये योगकी बातें हैं। यहाँ वेदान्तमें देह-साम्य क्या माना जाता है इसका वर्णन करते हैं। ●

अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नो चेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत्॥ 115॥

इदानीं देहसाम्यं लक्षयति-अङ्गानामिति। अङ्गानां ब्रह्मण्यध्यस्तानां स्वभाव-विषयाणामधिष्ठानसमत्वदृष्ट्या समतां विद्याज्जानीयात् चेत्समे ब्रह्मणि। अङ्गवैषम्यमित्र्याध्याहारः। तच्चेन्नो लीयते समब्रह्मरूपतया न तिष्ठतोत्यर्थः। तर्हीत्यत्र शेषः। शुष्कवृक्षवदङ्गानामृजुत्वं सरलत्वमचञ्चलत्वं च यत्तत्समानत्वं नैव भवेदिति सम्बन्धः। अङ्गानां विषमस्वभावत्वादिति भावः॥ 115॥

अंगोंकी समता इसे समझना चाहिए कि वे समब्रह्ममें लीन हो जायँ अन्यथा सूखे वृक्षकी भाँति अंगोंका समान रहना समानता नहीं है॥ 115॥

अंगोंके स्थिर रखनेसे होनेवाली समाधि नित्य नहीं है। वह आती-जाती रहती है। अपने अंगोंको अंगोंके उपादान पञ्चभूतसे एक करके उन्हें समब्रह्ममें लीन कर देना तथा 'मैं यह देह और यह देह मेरा, इस कल्पनाको छोड़ देना चाहिए। यह शरीर पञ्चभूतोंसे पृथक् नहीं है और पञ्चभूत ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। अतः सम्पूर्ण अंगोंका ब्रह्ममें लीन होना समता है।'

यदि शरीरके अंगोंको सीधा रखना ही समता मान लिया जाय तो शरीर ठूँठे वृक्ष-जैसे स्थिर बन जानेसे क्या विशेष बात हुई? गरुड़पुराणमें वर्णन है—

एक मनुष्यने एक महात्मासे पूछा—'हम प्रतिदिन गंगा-स्नान करते हैं। इससे क्या हमको परामर्थ प्राप्त हो गया?'

महात्मा बोले—'गंगामें जो मछलियाँ, मेढ़क, कछुये आदि रहते हैं उनके विषयमें तुम्हारा क्या विचार है?'

वह मनुष्य—'उन्हें कैसे परामर्थ मिलेगा।'

महात्मा—'तब तुम्हें कैसे मिलेगा?'

वह—'मेरी तो गंगाजोमें बड़ी श्रद्धा है, बड़ा भाव है।'

महात्मा—'तब ठीक है। तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारा भाव तुम्हारा कल्याण करेगा।'

श्रीरामानुजाचार्यने भगवान्से कहा—'मैं यह तो जान गया कि मैं आपका हूँ।'

भगवान् बोले—'बस हो गया। अब और क्या चाहिए?'

आचार्य—'नहीं, इतनेसे सन्तोष नहीं होता।'

भगवान्—'तब माँगों, क्या चाहते हो?'

आचार्य—'अपनी अनन्य भोग्यतामयी भक्ति दीजिये। हमारा उपभोग और कोई करे, ऐसा न हो। हमारा प्रेम और कहीं न हो।'

केवल शरीरकी ऋतुतासे समाधि हो भी जायगी तो 'मैं समाधिवाला' यह अहंभाव ही दृढ़ होगा। इससे शरीरमें अहंभावकी प्रधानता हो गयी। समता वह है जिससे शरीरमें अहंभाव मिटता है।

त्याग, तप, विद्या या वैराग्यसे अपना अहंभाव बढ़े तब तो ये साधक न होकर बाधक ही सिद्ध होंगे। अहंभाव बढ़ानेवाली जितनी वृत्तियाँ हैं वे बाधक ही होती हैं। अतः हमें सूखे वृक्षकी भाँति स्थिर नहीं बनना, ब्रह्मकी स्थिरतामें स्थिर बनना है। हमें तो अपनी वृत्ति ऐसी बनानी है कि 'हम परमात्मासे एक हैं। हममें कोई वैषम्य नहीं, कोई चाञ्चल्य नहीं।'



दृक् स्थिति

● **संगति**

आसन हुआ, बन्ध हुआ, शरीरकी समता हुई तो इस क्रममें दृष्टि कैसी रखनी चाहिए, इसका ज्ञान भी चाहिए। योगमें आया है—'नासाग्रावलोकिनी' दृष्टि चाहिए।

नासिकाके अग्रभागके विषयमें मतभेद है। कोई नाकके नीचेवाले भागको नासाग्र मानते हैं तो कोई ऊपर भ्रूमध्यमें नासाग्र मानते हैं।

बचपनमें एक पुस्तक देखी थी—'योगी गुरु'। उसमें त्राटकका उत्तम वर्णन था। नेत्र दो हैं किन्तु दृष्टिका लक्ष्य एक ही होता है। जब नाककी नोकपर दृष्टि एकाग्र की जाती है तो पहले पीला रंग दिखायी देता है, फिर क्रमशः श्वेत, लाल, धूम्र और अन्तमें नीला रंग दिखायी पड़ने लगता है। इस प्रकार पाँचों भूतोंके पाँच रंगोंका साक्षात्कार होता है। इन रंगोंमें-से किसी विशेषपर संयम किया जाय तो वस्तुके बिना ही गन्ध, स्वाद, रूप आदिकी अनुभूति होने लगती है। ये त्राटककी सिद्धियाँ हैं। किन्तु यह तो वही बात हुई कि 'निकले थे हरि-भजनको, ओटन लगे कपास।' चले थे ईश्वरसे मिलने और फँस गये सिद्धियोंमें।

योगमें पूर्णा दृष्टि, अमादृष्टि तथा प्रतिपद् दृष्टिका वर्णन है। जो साधन करने बैठा है उसने नेत्र खुले रखे तो यह पूर्णा दृष्टि हो गयी। मनोराज्य होता हो तो नेत्र खुले रहते हैं। कहीं दृष्टि इधर-उधर जाती हो तो बन्द कर लो, यह अमादृष्टि हो गयी। इनका बहुत महत्त्व नहीं है। बन्द दृष्टिमें नींद आने लगी तो नेत्र अधखुले रखे, यह प्रतिपद्दृष्टि शाम्भवी मुद्रा कही जाती है।

धर्मदृष्टि यह है कि कहीं दुर्भावनासे दृष्टि जाय तो सूर्य-दर्शन कर ले। सूर्य नेत्रके देवता है। उनसे क्षमा माँगे कि 'हमने आपकी वस्तुका दुरुपयोग किया।'

उपासना-दृष्टि यह है कि भगवन्मूर्ति सामने हो तो वहाँ नेत्र बन्द न करे। वहाँ भगवान्‌के दर्शन करे। अब वेदान्तमें कैसी दृष्टि है, यह दो श्लोकोंमें बतलाते हैं। ●

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी॥ 116॥

इदानीं दृक्स्थितिं लक्षयति-दृष्टिमिति। ब्रह्मणि फलव्याप्यत्वाभावेऽपि वृत्तिव्याप्यत्वात् दृष्टिमन्तःकरणवृत्तिं ज्ञानमयीमखण्डब्रह्माकारां कृत्वा जगत्सर्वं ब्रह्ममयं पश्येत्। ब्रह्मैवेदं सर्वमित्येतावन्मात्रैव वृत्तिः कार्येति भावः। स्पष्टमन्यत्॥ 116॥

ज्ञानमयी दृष्टि करके जगत्‌को ब्रह्ममय देखे, यह परम उदार दृष्टि है। नासाग्रावलोकिनी दृष्टि परमोदारा नहीं है॥ 116॥

ज्ञानमयी दृष्टि परमोदार दृष्टि है। इस दृष्टिको दृश्यमयी न करे। दृष्टि जहाँ जाती है, उस दृश्यकी प्रधानता न रहने दे, जहाँसे दृष्टि निकलती है उसे प्रधान बनावे तब यह स्थिति प्राप्त होगी कि—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

किसीको छोटा-बड़ा नहीं समझना चाहिए। सब एक साथ परमात्मा है। घरमें स्वर्णकी बनी एक गधेकी मूर्ति हो और एक घोड़ेकी, तो गधेको फेंक तो नहीं देते! सृष्टि गधे-घोड़े-सी भासती अवश्य है; किन्तु है वह सब ब्रह्म ही। अतः ज्ञानमयी दृष्टि करके सबको, सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्मरूप देखना चाहिए।

जगत्‌को ब्रह्ममय किस साधनसे देखें?

दृष्टिको ज्ञानमय बना लें। यह अच्छा है, यह बुरा, यह न देखें। लम्बा-गोल, लाल-काला न देखें। ज्ञानमयी दृष्टिका अर्थ है कि वस्तुसत्तामयी चिन्मयी दृष्टि हो। नाम-रूपको छोड़कर केवल अस्ति, भाति, प्रिय देखें। यह अज्ञानसे दिखायी पड़नेवाला जगत् जो जा रहा है, बदल रहा है, उसमें वस्तुको बदलती हुई न देखकर गतिके अधिष्ठान एवं गतिके प्रकाशक अद्वितीय ब्रह्मको देखना है।

यह दृष्टि परमोदारा है। इसमें कृपणता नहीं है। कृपण पुरुष न दूसरोंको

खिला सकता, न स्वयं खा सकता। अज्ञानी ही कृपण है। उदारता तो यह है कि 'जो मैं, वही तुम।' अतः सम्पूर्ण विश्वका सुख तथा स्वार्थ अपना ही है। सम्पूर्ण विश्वका 'अहंबुद्धि' परमोदारा-दृष्टि है।

'एक व्याप्य है, एक व्यापक। घड़ेमें मिट्टी ही है।' यह उदार दृष्टि है।

'व्याप्य—व्यापकका भेद कल्पित है। सब ब्रह्म ही है।' यह परमोदार दृष्टि है।

एक मित्र अपने मित्रके समीप कुछ रुपये लेने गया और उसकी पत्नीसे बोला—'चाबी मुझे दे दो।'

पत्नीने चाबी दे दी। तिजोरी खोलकर उसने पाँच सौ रुपये निकाले और तिजोरी बन्द करके चाबी लौटा दी। जाते समय मित्रकी पत्नीसे कह गया—'पाँच सौ रुपये ले जा रहा हूँ।'

पति घर आये तो पत्नीने बताया—'आपके मित्र आये थे। पाँच सौ रुपये ले गये हैं।'

पतिने पूछा—'तुम्हें कैसे पता लगा? क्या वह तुमसे माँगकर रुपये ले गया है?'

पत्नी—'रुपये तो चाबी लेकर उन्होंने स्वयं निकाले थे किन्तु जाते समय कह गये हैं कि पाँच सौ रुपये ले जा रहा हूँ।'

यह सुनकर पति उदास हो गया। पत्नीने पूछा—'आप उदास क्यों हो गये? वे आपके मित्र हैं। उन्हें आप सर्वस्व देनेकी बात करते हैं, फिर वे पाँच सौ रुपये ले गये तो इसमें उदास होनेकी क्या बात है?'

पति-'वह सबका सब ले जाता तो भी कोई बात नहीं थी किन्तु जब मैं तिजोरीसे रुपया निकालकर ले जाता हूँ तो क्या तुम्हें बतलाकर ले जाता हूँ? उसने इस घरको अपना नहीं माना, तभी तो तुम्हें बतलाकर ले गया। मुझे दुःख यह है कि अभी हम दोनोंका हृदय एक नहीं हुआ।'

ईश्वर जब हमारी आत्मा है, हमसे अभिन्न है तो उसकी जो इच्छा हो ले जाय, जो इच्छा हो वह रख जाय। हममे उसमें भेद रहे, दुःखकी बात यह है।

न नासाग्रावलोकिनी—नासिकाका अर्थ 'इयं आसिका न भवति इति नासिका' अर्थात् यह बैठनेका स्थान नहीं है। नासत्यदेवः स्यात्—इसके

देवता नासत्य यानी अश्विनीकुमार हैं। इसी नासिकापर दृष्टि जमाये रखना योग नहीं है। वियोग-संयोग-योग सबमें ब्रह्मातिरिक्त दृष्टि न हो, यह परमोदारा दृष्टि है।

● **संगति**

दृष्टि ज्ञानमयीं कृत्वा—लोग करनेमें व्यस्त हैं। करनेका स्वभाव ऐसा पड़ा है कि समझते हैं कि किये बिना कुछ होगा ही नहीं। लोग कहते हैं—'सामने रखा भोजन तो हाथसे उठाकर मुखमें डाले बिना मुखमें जाता नहीं। बिना चले एकसे दूसरे स्थानपर जा नहीं सकते। बिना बोले अपना भाव दूसरेको समझा नहीं सकते। किये बिना तो संसारमें कुछ होता ही नहीं।'

बात ठीक है। जो वस्तु यहाँ नहीं है, वहाँ है, उसे पानेको चलना पड़ेगा। जो मैं नहीं है, तू है, उसे पकड़ना पड़ेगा। जो आज नहीं है, कल है, उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; किन्तु जो अपना आपा ही है, परिपूर्ण है; जो अभी, यहीं, अपना स्वरूप ही है, उसे प्राप्त करनेके लिए करना क्या पड़ेगा? अतः ये करनेवाले वस्तुतः दुःखके ही पात्र हैं।

अष्टावक्रगीतामें कहा गया है—

अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि।

तुम्हारे जीवनमें सबसे बड़ा बन्धन यह है कि तुम समाधि लगाना चाहते हो। तुम स्वयं समाधिस्वरूप हो, यह बात समझते नहीं हो। सबके अधिष्ठान तुम हो। सबकी समाधि तुममें लगी है। अतः दृष्टि ज्ञानमयीं कृत्वा यह वर्णन साधककी दृष्टिका है। सिद्धकी दृष्टि क्या है यह बतला रहे हैं।

दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्त्तव्या न नासाग्रावलोकिनी॥ 117॥

ननु तथापि ब्रह्मणि वृत्तिप्रवृत्तिनिमित्तजात्याद्यभावादिन्द्रियादिप्रत्यक्ष-विषयस्य जगतो ब्रह्मरूपत्वेन दर्शनं कथं स्यादित्याशङ्क्य स्वारस्यात्पक्षान्तरेणाह-दृष्टीति। वाशब्दः पक्षान्तरे। दृष्टीत्यादि श्रोत्रादिसर्वत्रिपुटीनामुपलक्षणम्। यत्र यस्मिन् ब्रह्मस्वरूपे दृष्ट्यादिसर्वत्रिपुटीनां विरामो लयो भवेत्तत्र तस्मिन्नेव प्रपञ्चातीते दृष्टिरन्तःकरणवृत्तिः कर्त्तव्या, न नासिकाग्रावलोकिनीत्यर्थः॥ 117॥

दृष्टि, दर्शन और दृश्य, इन तीनोंका जहाँ विराम (बाध) हो जाता है, वहीं दृष्टि रखनी चाहिए। नासाग्रावलोकिनी दृष्टि नहीं॥ 117॥

नेत्रको घुमाने-फिरानेका नाम परमार्थ नहीं है। वाराणसीमें एक साधु रहते थे। मुझे उनके द्वारपरसे दिनमें एक-दो बार प्रायः निकलना पड़ता था। उनका चमत्कार बहुत प्रसिद्ध था। जिस वस्तुमें सुगन्ध नहीं है उसमें सुगन्ध उत्पन्न कर दें, जो गन्ध कहो वह गन्ध आने लगे। गुलाबके पुष्पको चम्पा और चम्पाको गुलाब बना देते थे। बड़े-बड़े लोग उनके समीप आते थे। मृत पक्षीको दृष्टि डालकर उन्होंने एक बार कुछ क्षणोंको जीवित भी कर दिया था, यद्यपि वह थोड़ा चल-फिरकर बादमें मर गया। उनके नेत्रोंके सामने नकली शालग्राम या नकली शिवलिंग लानेपर वह फट जाता था। यह सब प्रसिद्ध था। पालब्रिण्टन भी उनके पास गया था; किन्तु हम लोग तो 'आत्मब्रह्म'की चर्चा करनेवाले ठहरे! उनके कार्योंको हम जादू कहते थे, योगकी सिद्धि भी नहीं मानते थे। उनके समीप हम गये ही नहीं।

वेदान्तका तात्पर्य यह है कि नाम-रूपात्मक प्रपञ्चसे उदासीन होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय।

जहाँ द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इस त्रिपुटीका विराम है अर्थात् इसके आगे द्रष्टा-दर्शन-दृश्यकी त्रिपुटी नहीं है। एक बार मनमें प्रश्न आया-'हमें जाग्रत्में स्वप्नावस्था और सुषुप्तिका स्मरण होता है, यह अनुभवका ही तो स्मरण है। अनुभवका काल दूसरा था और स्मरणका काल दूसरा है। अतः काल सत्य हो गया। अनुभव बहिर्देशमें हुआ और स्मरण अन्तर्देशमें हो रहा है, अतः देश सच्चा हो गया। स्वप्नके पदार्थका जाग्रत्में स्मरण हो रहा है तो यह पदार्थान्तरका स्मरण है। इस प्रकार देश-काल-वस्तु तीनों सच्चे हो गये।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे जब यह प्रश्न किया तो सुनकर वे बोले—'यह जो त्रिपुटी भासती है कि मैं स्मरण कर रहा हूँ, यह स्मरण-वृत्ति है और कालन्तरमें अनुभवकी वस्तु या स्वप्न अथवा सुषुप्तिका स्मरण हो रहा है, इसमें स्मरण-वृत्ति, स्मरण-विषय और स्मरणकर्त्ता ये तीनों स्वप्नके समान मिथ्या हैं।'

स्वप्नमें त्रिपुटी भासती है। वहाँ भी लगता है कि यह घड़ी है, मैं घड़ी देखनेवाला हूँ और घड़ी देखनेकी क्रिया हो रही है। स्वप्नमें भी देशान्तर एवं

कालान्तरकी वस्तुओंका स्मरण होता है। जैसे स्वप्नका देश, काल, वस्तु, और उसमें स्मरण करनेवाला मैं, यह समूची त्रिपुटी बिना हुए भासती है, वैसे ही जाग्रत्‌की त्रिपुटी भी बिना हुए भास रही है।

सुषुप्तिका स्मरण नहीं होता। सुषुप्ति हुई थी ऐसा स्वप्न होता है। अपने स्वरूपमें स्वप्न हुआ था, उसका स्मरण नहीं होता। स्वप्न हुआ था ऐसा स्वप्न होता है। पदार्थान्तर, देशान्तर तथा कालान्तरका स्मरण नहीं होता, वे हुए हैं—ऐसा स्वप्न होता है।

यह त्रिपुटी कि मैं देखनेवाला, यह देखनेकी क्रिया, यह देखी जानेवाली वस्तु चाहे भूतकालसे सम्बन्ध रखती हो, भविष्यकालसे या वर्तमानकालसे; बाह्यदेशसे सम्बन्ध रखे या अन्तर्देशसे, परोक्षवस्तुसे सम्बद्ध हो या प्रत्यक्ष वस्तुसे, पर यह सम्पूर्ण त्रिपुटी स्वप्नवत् ही भास रही है। अपने स्वरूपमें ही इसका विराम है।

मैं बालक था तब स्वामी मंगलनाथजीके सत्सङ्गमें जाता था। अपने समयके अद्वैत-वेदान्तके वे उच्चकोटिके विद्वान् थे। वे कहते थे—'जिस वस्तुका, जिस अन्तःकरणमें, जिस समय स्मरण होता है, उस समय उसका अनुभव नहीं होता। जिस अन्तःकरणमें जिस वस्तुका, जिस समय अनुभव होता है, उस समय उसका स्मरण नहीं होता। एक ही वस्तुका एक ही कालमें एक अन्तःकरणमें अनुभव और स्मरण दोनों नहीं हो सकते।'

हम पहले देखी वस्तुका स्मरण करते हैं। देशान्तरमें देखी वस्तुका स्मरण करते हैं। उस रूपमें देखा, इस रूपमें स्मरण करते हैं। स्मरण परोक्ष वस्तुका होता है। कल्पना अनुभूत परोक्ष वस्तुकी होती है।

यह जो अनुभवस्वरूप आत्मा है, वह अभी, यहीं, यही है। इसका स्मरण नहीं होता। जो ब्रह्मका स्मरण करता है वह तो कालान्तरमें देखे, देशान्तरमें देखे, अपनेसे भिन्न किसी ब्रह्मका स्मरण करता है। तब क्या ब्रह्म आज नहीं है और यहीं नहीं है?

निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निर्धर्मक तत्त्वके निरूपणमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्यादिकी त्रिपुटी केवल स्वप्नवत् प्रतीयमान है।

ब्रह्मसूत्रमें आया है—आवृत्ति कौन करता है? जिसे सुदृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हुआ।

कर्त्तव्य-दुष्ट-मार्तण्ड-ज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमुखे सुखम्॥

'यह करना, यह करना' इस प्रकार कर्त्तव्यके प्रचण्ड मार्तण्डकी ज्वालामें जिसका अन्तःकरण जल रहा है उसे उपशमरूपी झरनेसे झरते अमृतका सुख कैसे मिल सकता है!

ज्ञान वह वस्तु है जिसमें कर्त्तव्यका भार-ताप नहीं है। इसमें न पीछेका स्मरण करना, न वर्तमानमें अवृत्ति करनी। भविष्यके लिए किसी कर्त्तव्यका निश्चय भी नहीं करना। ब्रह्मज्ञानके साथ चार बातें निश्चित रूपसे आनी ही चाहिए—1. जानना कुछ नहीं है, 2. करना कुछ नहीं है, 3. छोड़ना कुछ नहीं है, और 4. पाना कुछ नहीं है।

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जिजीविषा बुभुक्षा च बुभुक्षोः प्रशमं गता॥

संसार में ऐसा धन्य महात्मा कोई होता है जिसके जीवनमें जीने, जानने, पाने, छोड़नेकी इच्छा नहीं है अर्थात् जो स्वयं सच्चिदानन्द है।

जो सत्स्वरूप है उसे जीवनकी क्या इच्छा! वह तो कभी मरेगा ही नहीं। जो चित्स्वरूप है उसे जाननेकी इच्छा क्या? वही तो ज्ञान है। जो आनन्दस्वरूप है उसे भोगनेकी क्या इच्छा? सुख तो वह स्वयं है। जो अद्वय है उसे छोड़नेकी क्या इच्छा? उसके अतिरिक्त दूसरा तो कोई है ही नहीं।

द्रष्टा-दर्शन-दृश्यकी त्रिपुटीका विराम होना चाहिए अर्थात् अपने स्वरूपमें भासमान रहते ये बाधित हो जायँ—

भासमानत्वेपि ज्ञानबाध्यत्वम्।

न नासाग्रावलोकिनी—नाककी नोकपर त्राटक करनेसे परमार्थ नहीं मिलता। अपना आत्मा अनुभवस्वरूप है। इसमें अनुभव किया नहीं जाता। यदि स्मरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है तो आवरणभंग नहीं हुआ है।



प्राणायाम

● संगति

योगमें आसन, बन्द, शरीर सम तथा दृष्टि स्थिर करके प्राणायाम किया जाता है। हठयोगमें सैकड़ों प्रकारके प्राणायाम हैं। उनमें-से चार प्रकार मुख्य हैं—

1. भजन करते-करते शरीर और सिरमें गर्मी बढ़ जाय तो शीतलीकरण प्राणायाम किया जाता है। इसमें मुखको चोंचकी भाँति बनाकर सीटी-सी बजाते हुए वायुको भीतर खींचते हैं। इससे शरीरमें ठंढक पहुँचती है।

2. भस्त्रिका प्राणायाम फेफड़ोंको स्वच्छ करनेके लिए किया जाता है। इसमें वेगसे वायु छोड़ते-खींचते हैं।

3. एक उज्जायी प्राणायाम होता है।

सामान्य पूरक-कुम्भक-रेचकयुक्त प्राणायाम, जैसे सन्ध्याके समय करते हैं।

वायुको खींचने छोड़नेपर अधिक जोर न देकर क्रियाशक्तिका नियमन किया जाना चाहिए क्योंकि प्राणका अर्थ है शरीरमें रहनेवाली क्रियाशक्ति। अतः कोई उत्तेजना देहावयनको विवश न करे, यह प्राणायामका तात्पर्य है। कई लोग हाथ हिलाकर या जेबमें हाथ डालकर प्रवचन करते हैं। कई पीछेकी ओर एक हाथसे दूसरे हाथको व्याख्यान देते समय पकड़े रहते हैं। यह अभ्यास हो जाता है। यदि उन्हें ऐसा न करने दें तो वे व्याख्यान न दे सकेंगे। यह क्रियाशक्तिका अभ्यास है। कई लोग प्राणायाम न करके केवल मन्त्र-जप करते हैं। उसमें स्वतः प्राणायाम हो जाता है।

मनके एकाग्र होनेसे प्राण-नियन्त्रण स्वतः हो जाता है। शब्दोच्चारण, मन्त्र-जपकी नियमित गतिसे प्राणायाम हो जाता है। लययोगमें समष्टिवायुमें प्राणोंके लयका चिन्तन किया जाता है। वेदान्तका प्राणायाम क्या है, यह तीन श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। 

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते॥ 118॥

अथ प्राणायामं लक्षयति—चित्तादीति। मनोऽधीनत्वात्प्राणस्य मनोनिरोधेनैव प्राणनिरोधः, न तु प्राणनिरोधेनैव पातञ्जलाभिमतेन मनोनिरोधस्तदधीनत्वा-भावादिति फलितार्थः॥ 118॥

चित्तादि सब वृत्तियोंमें सब ब्रह्म ही है, इस भावनाके द्वारा सब वृत्तियोंका जो निरोध है वह प्राणायाम कहा जाता है॥ 118॥

श्वास-निरोधका नाम प्राणायाम नहीं है। समस्त वृत्तियोंका निरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है।

सब वृत्तियोंके रुकनेका क्या उपाय है?

हठयोगी कहता है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिके क्रमसे चलो तो समाधि चित्तवृत्तिका निरोध हो जायेगा।'

मन्त्रयोगी मन्त्रजपसे वृत्ति-निरोध मानते हैं। वेदान्त कहता है—'केवल बाह्यवृत्तियाँ ही नहीं रोकनी हैं, चित्तादि जितने भाव हैं उन सबको भी 'इदं ब्रह्म' के रूपमें देखना है।

मनो ब्रह्म इत्युपासीत। श्रुति कहती है ऐसी उपासना करे कि मन ब्रह्म है। उस मनमें जो कुछ आ रहा है, सब ब्रह्म है। **अन्नं ब्रह्म इत्युपासीत।** उपासना करे कि अन्न ब्रह्म है। अन्नसे बने सब देश, सब स्थावर-जंगम अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल जगत् ब्रह्म है। **नाम ब्रह्म इत्युपासीत।** उपासना करे कि नाम ब्रह्म है। घट-पट-मठादि सब आकृति ब्रह्म और घट-पट-मठादि सब नाम भी ब्रह्म।

संस्कृतमें श्री कल्काचार्यकृत एक पुस्तक है 'शब्दकारिका'। उनमें कहा गया है—'जितने दृश्य या भोग्य पदार्थ हैं वे भोक्ताके ही रूप हैं। जैसे स्वप्नका समूचा नाम और रूप स्वप्नद्रष्टाका ही स्वरूप है।'

भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।
तेन शब्दार्थचिन्तासु न स शब्दो न यः शिवः॥

सर्व देशमें, सर्व कालमें, सर्व रूपमें अपना आत्मा ही भोग्य रूपमें प्रतीत हो रहा है। अतः शब्दके अर्थका विचार करनेपर ऐसा कोई शब्द नहीं रह जाता जो शिवका, आत्माका वाचक न हो।

एक महात्माने मुझसे कहा—'अपने मनको ठीक करो।'

मैंने कहा—'इस शरीरमें रहनेवाले मनको ठीक करनेका दायित्व मुझपर है क्या? तब मक्खी-मच्छर, पशु-पक्षी आदिके शरीरोंमें रहनेवाले मनको ठीक करनेका दायित्व भी तो मुझपर होगा? आपके कहनेका अर्थ तो यही हुआ कि यह शरीर 'मेरा' और इस शरीरमें रहनेवाला मन 'मेरा'; किन्तु मैं तो समझता हूँ कि जैसे सब शरीर मेरे नहीं, वैसे यह शरीर भी मेरा नहीं।'

'सर्वभावेषु' का अर्थ है कि जो कुछ भाव बाहर दिखायी देते हैं और जो भाव कल्पनामें, मनमें आते हैं, उन सबमें ब्रह्मभाव करें। विक्षेप-समाधि, चर-अचर, परिच्छिन्न-अपरिच्छिन्न सबमें ब्रह्म। जो देखते, करते, सोचते हैं, सब ब्रह्म है।

अनिरोधः सर्ववृत्तीनां निरोधः।

यहाँ वृत्तिका अनिरोध ही सबसे बड़ा निरोध है। वृत्तियोंमें प्रिय-अप्रियका भेद ही न करें। मनका एक भाग हमारा मित्र और एक भाग हमारा शत्रु, ऐसा भेद करेंगे तो अपनेको ही दो भागोंमें विभक्त करेंगे! हम स्वयं कभी अपने मित्र तो कभी अपने शत्रु रहते हैं! जब हम स्वयं अपनेसे शत्रुता करते हैं तो शान्तिसे कैसे रह सकते हैं! मनमें शत्रु आये या मित्र, है वह हमारा मन ही। श्रीगौड़पादाचार्यजी कहते हैं—

अस्पर्शयोगो नामैष विस्पर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

योगी, साधक, सब आधा-आधा विभाग करते हैं कि यह ग्राह्य, यह त्याज्य, आधा गुण (खुदा) आधा दोष (शैतान)। ये अभयमें भय देखते हैं। तो सब उनका मन किन्तु उसे चोर-डाकू मानकर भागते हैं। संयोग-वियोग, जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि सब ब्रह्म है। इस भावमें वृत्तिका रहना प्राणायाम है।

● संगति

प्राणायामके तीन अंग होते हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। इनमें-से कुम्भक दो प्रकारका होता है—बाह्यकुम्भक और अन्तः-कुम्भक। यहाँ बाह्यकुम्भकका नहीं, अन्तःकुम्भकका ही वर्णन है।

योगमें वायुको बाहर करनेका नाम रेचक है। यहाँ प्रपञ्चनिषेधको रेचक कहा गया है। योगी वायुको भीतर भरनेको पूरक कहते हैं। यहाँ 'अहं

ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिको पूरक कहा गया है। योगी वायु भीतर रोकनेको कुम्भक कहते हैं, यहाँ इस वृत्तिकी निश्चलता कुम्भक कही गयी है।

हम किसी वस्तुको अपनी इन्द्रियों और मनसे काटकर ही पृथक् करते हैं, वस्तु स्वयं कटी या विभक्त नहीं होती। हम किसी वस्तुका रूप देखते हैं तो उसका नाम रख लेते हैं। वस्तुके सम्बन्धमें 'यह सब नाम-रूपोंसे पृथक् व्यष्टि है' यह हमारा निश्चय ही उसको अन्य वस्तुओंसे पृथक् करता है। हम दो घण्टे विद्यमान मिट्टी तथा आकाशको पृथक्-पृथक् देखते हैं किन्तु मिट्टी और आकाश तो एक ही है। हम तो नाम-रूप देखते हैं जो हमारी मन और इन्द्रियोंकी उपज हैं। यह नाम-रूप अखण्ड अविनाशी तत्त्वमें नहीं है। दृष्टि जैसे-जैसे जितनी विशाल होती जायगी, वैसे-वैसे राग-द्वेष, बन्धन या मृत्युका भय उतना कम होता जायगा।

मनकी दृष्टिसे सृष्टि व्यावहारिक और ठोस है। इसमें जन्म-मृत्यु, राग-द्वेष लाभ-हानि, संयोग-वियोगादि हैं।

बुद्धिकी दृष्टिसे, बौद्ध प्रत्ययसे यह सृष्टि इतनी शीघ्रतासे बदल रही है कि देश-काल-वस्तु केवल स्वप्नवत् प्रातिभासिक सत्ता हैं। ढूँढ़नेपर ये मिलते नहीं।

ऐन्द्रिय प्रत्ययसे सृष्टि व्यावहारिक सत्य है।

बौद्ध प्रत्ययसे सृष्टि प्रातिभासिक सत्य है।

ब्रह्मात्म प्रत्ययसे सृष्टि परमार्थ ही परमार्थ है। इसमें न कुछ प्रातिभासिक है, न व्यावहारिक। वेदान्त इसीका व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक सत्ताके रूपमें निरूपण करता है किन्तु यह निरूपण भी व्यावहारिक है। परमार्थमें त्रित्व नहीं है।

वस्तुकी विशेषतापर मन-इन्द्रिय तथा अपने राग-द्वेषके कारण परिच्छिन्न स्थितिमें बैठकर देखनेके कारण दृष्टि जाती है। भूताकाशसे तादात्म्य कर लें तो ब्रह्माण्ड तुच्छ हो जायगा और चित्ताकाशसे तादात्म्य कर लें तो जगत् स्वप्नवत् हो जायगा।

एक विद्यार्थीने परीक्षा देते हुए भूलसे लिख दिया—'जापानकी राजधानी मास्को है।' घर आनेपर रात्रिमें उसे अपनी भूलका स्मरण हुआ। अब वह प्रार्थना करने लगा—'हे भगवान्! जापानकी राजधानी मास्को बना

दो!' माताने पूछा तो उसने बतला दिया कि मैं यह प्रार्थना कर रहा हूँ। माताने समझाया—'सचको झूठ और झूठको सच बना देनेकी प्रार्थना काम नहीं देती क्योंकि बुद्धि जानती है कि वस्तु कैसी है। मनसे उसके विपरीत सोचते हो तो अपनी ही जानकारीके विपरीत मनको चलाते हो। ऐसी अवस्थामें मनका संकल्प साथ नहीं देता। बुद्धि सत्यका पक्षपात करती है।'

यदि बुद्धि कहती है कि जगत् परिच्छिन्न है तो ऐसी अवस्थामें केवल मनसे अहं ब्रह्मास्मि सोचना या वाणीसे शिवोऽहम् कहना काम नहीं देगा। घड़ीको हम शालग्राम कहने लगें तो बात नहीं बन सकती। हाँ, यह बात बन सकती है कि घड़ी और शालग्राम दोनों ब्रह्म हैं। दोनोंके नाम-रूपका विचार छोड़ दें तो दोनोंमें जो आकृतिरहित सत्ता है, वृत्तिरहित ज्ञान है, भोगरहित प्रियता है, द्वैतरहित अधिष्ठान है वह ब्रह्म है। अतः घड़ी और शालग्राम दोनोंका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। इस प्रकार जब बुद्धि दोनोंको ब्रह्म समझ जायगी तब मन ब्रह्मको बदलकर घड़ी या शालग्राम नहीं बना सकेगा।

नेत्रसे दिखायी दे स्त्री और मन उसे पुरुष सोचे तो मन क्या उसे पुरुष बना देगा? किसी वस्तुके यथार्थ रूपको बदलनेका सामर्थ्य मनमें नहीं है।

ब्रह्म काले-गोरेका नाम नहीं है। ब्रह्म न किसीसे पृथक् होता, न किसीमें समाता। ब्रह्म न वृत्तिमें आता, न वृत्ति ब्रह्ममें प्रवेश करती। ब्रह्मज्ञान होनेसे वृत्ति बाधित हो जाती है।

पता नहीं कितनी रातें हमने इन असम्भव कार्योंके लिए जागते हुए बितायीं कि वृत्तिरूपी दावातमें ब्रह्मरूप हाथी आ जाय। किन्तु ठसाठस परिपूर्ण ब्रह्ममें वृत्तिका प्रवेश नहीं होता। वेदान्त-संस्कारसे महावाक्य-श्रवणजन्य वृत्तिमें एक ब्रह्मविषयक कल्पना उदित होती है कि ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। ब्रह्म तो अद्वितीय है, अतः वृत्ति भी ब्रह्म ही है। ब्रह्मकी इस कल्पनासे वृत्ति बाधित हो जाती है।

ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं है। माया ब्रह्म ही है। स्थूलसूक्ष्म प्रपञ्चके रूपमें ब्रह्म ही भास रहा है। उपाधि-उपहित, अवच्छेदक-अवच्छिन्न, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, ईश्वर-जीव आदि सब रूपोंमें ब्रह्म ही भासमान है। ब्रह्म ही विराट् हिरण्यगर्भ-ईश्वररूपमें और विश्व-तैजस्-प्राज्ञरूपमें प्रतिभासित है।

यह सामान्य प्राणायाम है कि देह-इन्द्रियादिक, मन-प्राण-बुद्धि, जीव-

ईश्वर, प्रकृति-माया, परिच्छिन्नता आदि सब भावोंके रूपमें एक अद्वितीय ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है।

अब विशेष प्राणायामका वर्णन करना है। वैसे योगके प्राणायाममें बड़ी अवस्था अनुपयोगी होती है क्योंकि जब स्नायु कड़े पड़ जाते हैं तब नसें वायुका दबाव सहन नहीं कर पातीं। योगके लिए आयु भी ब्रह्मचारीकी होनी चाहिए और ब्रह्मचर्य भी दृढ़ होना चाहिए तभी प्राणायामकी क्षमता प्राप्त होती है। युवावस्थामें वीर्य यदि सुरक्षित हो तो प्राण-धारण करनेपर प्राण-निरोध हो जाता है। वीर्य सुरक्षित न होनेपर प्राण-धारण करें तो स्नायु-जालमें प्राण रोकनेकी शक्ति नहीं रहती।

बिना किसी अच्छे जानकारसे सीखे प्राणायाम नहीं करना चाहिए। श्वास खींचनेमें एकबार गायत्री मन्त्रका जप करे, चार बार मन्त्र-जप करते हुए श्वास रोके और दो बार मन्त्र-जप करते हुए धीरे-धीरे श्वास छोड़े, यह प्राणायामकी सामान्य विधि है।

मेरे एक मित्र थे। उन्होंने एक योगी ब्रह्मचारीसे दीक्षा ली। प्रातः चार बजे प्राणायाम करने बैठे। श्वास रोकी तो आँत नीचे उतरकर अण्डकोषमें चली गयी। उन्हें अस्पताल ले जाना पड़ा। वहाँ ऑपरेशन हुआ और ढाई महीनेमें वे स्वस्थ हो सके।

किसी भी वस्तुकी महिमा सुनकर उसे प्राप्त करनेको दौड़ जाना ठीक नहीं है। अपनी योग्यता या अधिकारोंको समझना चाहिए। स्वर्ण बहुत मूल्यवान् है किन्तु दो मन स्वर्ण सिरपर उठा लें तो क्या होगा?

योगाभ्यासमें प्राणायाम पूरक-कुम्भक-रेचक यह क्रम भी है और रेचक-कुम्भक-पूरक यह क्रम भी। वेदान्तमें भी रेचक-पूरक-कुम्भक यही क्रम है किन्तु इसका स्वरूप क्या है यह समझा रहे हैं।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः॥ 119॥

अमुं प्राणायामं स्वाभिमतेन रेचकादिविभागत्रयेण लक्षयति सार्द्धेन-निषेधनमिति। स्पष्टम्॥ 119॥

ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम्॥ 120॥

तत इति। अनात्मोपेक्षाऽत्मानुसन्धानतद्दार्ढ्यानि रेचकादिशब्दवाच्यानीति भावार्थः। नन्वयं त्रिविधोऽपि प्राणायामो न कुत्रापि श्रुत इत्यपेक्षायामत्राधि-कारिणमाहार्द्धेन-अयमिति। अयमुक्तलक्षणः प्राणायामः। चकाराद्वेदत्रययुक्त इत्यर्थः। प्रबुद्धानां प्रकर्षेणासम्भावनादिरहितत्वेन बुद्धानामात्मबोधयुक्तानाम्। निःसन्देहाऽपरोक्षज्ञानिनामित्यर्थः। योग्य इत्यध्याहारः। तर्ह्यज्ञानां कीदृश इत्यत आह—अज्ञानामिति॥ 120॥

प्रपञ्चका निषेध करना रेचक प्राणायाम है, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी वृत्ति पूरक प्राणायाम है और इस वृत्तिकी निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है। यह प्राणायाम प्रबुद्धजनोंके लिए है। मूर्खोंके लिए तो नाक दबाना ही प्राणायाम है॥ 119-120॥

निषेधनं प्रपञ्चस्य—वृत्तिमें जो प्रपञ्च प्रविष्ट हो गया है उसे 'नेति-नेति'के द्वारा निकाल देना रेचक है। मन-इन्द्रिय द्वारा जो शरीर एवं शरीरातिरिक्त प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है, यह अधिष्ठान-दृष्टिसे या समाधि-दृष्टिसे सिद्ध नहीं होता। यह केवल वैसे ही भासता है जैसे ठूँठमें भूत भासता है।

भयं तत्त्वावमर्शनात्।—भागवत

वास्तविकताके विचारसे भय नष्ट हो जाता है। जिस किसीसे भय लगता हो उसकी वास्तविकता तक जायँ, भागें नहीं, तो भय स्वयं भाग जायेगा। भयका उपादान हृदय है। भय चित्तमें उठा है, अतः भयकी वास्तविकता जाननेसे भय मिट जायेगा। मरने या नरक जानेका भय भ्रान्तिसे है। भ्रान्ति है अज्ञानसे। जिसके अज्ञानसे भय है उसके ज्ञानसे भय मिट जायगा।

प्रपञ्चका अर्थ है जादूका बखेड़ा। गंगातटपर श्रीअच्युतमुनिजी वेदान्तका उपदेश किया करते थे। वे आत्माको ब्रह्म और प्रपञ्चको मिथ्या बतलाते थे। वहीं अनूपशहरके समीप अवन्तीदेवीके स्थानपर एक योगिराज आगये। उन्होंने एक व्यक्तिके सिरका दर्द मिटा दिया। फलतः गाँवमें उनकी प्रसिद्धि हो गयी। सब वेदान्ती सत्सङ्गी उनके समीप पहुँचने लगे। वे योगिराज तो पीछे ठग निकले और अपना काम करके भाग गये; किन्तु उनके चमत्कारने एकबार लोगोंका वेदान्तका सत्सङ्ग छुड़ा ही दिया।

प्रपञ्चके निषेधका सामर्थ्य वैराग्ययुक्त अन्तःकरणमें होता है। सम्पूर्ण प्रपञ्चका निषेध होना चाहिए। यदि तुमसे ब्रह्माजी कहें—'हम तुम्हें सृष्टि

बनानेका सामर्थ्य देते हैं' तो उस समय यदि तुममें वैराग्य है तो कहोगे—'सृष्टि तो अपने आप बनी है। इसी सृष्टिमें लोग दुखी हैं। हम एक सृष्टि और बनाकर लोगोंका कौन-सा उपकार कर देंगे?'

यह प्रपञ्च पाँच भेदोंवाला है—1. वस्तुका वस्तुसे भेद, जैसे पुस्तक और घड़ीका भेद है, 2. जगत्का जीवसे भेद, 3. जीवका जीवसे भेद, 4. जीवका ईश्वरसे भेद और 5. जगत्का ईश्वरसे भेद। ये पाँचों भेद मायाजन्य हैं। इनका निषेध करना रेचक प्राणायाम है।

भेदको ही प्रपञ्च कहते हैं। भेदमें राग-द्वेष अवश्यम्भावी हैं। राग-द्वेष रहेंगे तो शान्ति रह नहीं सकती। तब न जन्म-मरणसे छुटकारा होगा, न परमानन्दकी प्राप्ति होगी। प्रपञ्चमें दृष्टि रहनेपर बन्धन बना ही रहेगा।

प्रपञ्चमें 'प्र' उपसर्ग है। यह 'प्र' उपसर्ग लगनेसे प्रपञ्च पञ्चसे भी छोटा हो गया। जैसे देशमें 'प्र' उपसर्ग लगता है तो प्रदेश देशसे छोटा हो जाता है। पञ्च-पञ्च-पञ्च जितने हैं, सब प्रपञ्चके अन्तर्गत हैं। पञ्च विषय, पञ्चभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, पञ्च तन्मात्रा, पञ्चविध-भेदयुक्त यह सब प्रपञ्च है।

एक सेठने एक महात्मासे प्रार्थना की—'मुझे ईश्वरका दर्शन करा दीजिये।'

महात्माने कहा—'हमारी तो जीवन भरकी यही पूँजी है। आओ, हम दोनों अपनी-अपनी पूँजी बदल लें।'

सेठ 'हें-हें' करने लगे तो महात्माने कहा—'तुम लौकिक धनके बराबर भी ईश्वर-दर्शन नहीं मानते और ईश्वरका दर्शन करना चाहते हो!'

अतः संसारसे छूटनेकी इच्छाका होना आवश्यक है। यदि वैराग्य और मुमुक्षाके बिना निषेध करने बैठे कि 'द्वैत कुछ भी नहीं है' तो निषेध तभी तक टिकेगा जबतक भोगेच्छा या क्रोधका उदय न हो। प्रपञ्चका निषेध केवल विवेकसे नहीं होता। इसमें वैराग्य भी आवश्यक है। एक ओर भेदबुद्धि पकड़े रहें और एक ओर निषेध करें तो यह 'अर्धजरतीन्याय' नहीं चल पायेगा। परमार्थके मार्गमें चलनेके लिए साधकको ईमानदार होना आवश्यक है।

परमब्रह्म-तन्त्रमें-से प्रपञ्चको निकाल देना रेचक है। जैसे श्वास बाहर

निकालना रेचक है, जुलाब लेकर मल बाहर निकाल देना रेचक है, वैसे ही शुद्ध तत्त्वोंमें-से प्रपञ्चरूप मलको निकाल देना रेचक है।

ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः—बच्चेको बतला दें कि 'तुम्हारा नाम मट्टू है' तो वह अपना नाम मट्टू स्मरण कर लेगा। कुछ समय पीछे बदल दें—'तुम्हारा नाम तो गट्टू है' तो इस दूसरे नामको स्मरण कर लेगा। वस्तुतः न वह मट्टू होता है न गट्टू क्योंकि इन शब्दोंका अर्थज्ञान उसे है ही नहीं। ऐसे ही आपने यदि अपना नाम ब्रह्म रख लिया है और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं तो इससे ब्रह्मज्ञान नहीं हो जायेगा। पहले ब्रह्म शब्दका अर्थ समझना चाहिए।

जिसमें निरतिशय बृहत्ता हो वह ब्रह्म। बड़प्पनका अर्थ सबसे ऊपर नहीं है। जिसके वस्त्र बड़े सुन्दर हों वह बड़ा नहीं है। देशकाल-वस्तुसे अपरिच्छिन्नता ही बड़प्पन है। ब्रह्मका अद्वितीयत्व ही उसका बड़प्पन है। ब्रह्म परिच्छेदसामान्यात्यन्ता-भावोपलक्षित है। यह ब्रह्म 'मैं'से अभिन्न है।

ब्रह्मैवास्मि न जीवः—'मैं ब्रह्म हूँ। मैं जीव नहीं हूँ।' **ब्रह्मैवास्मि न परिच्छिन्नः**—'मैं ब्रह्म हूँ। मैं परिच्छिन्न नहीं हूँ।' ऐसी वृत्ति पूरक प्राणायाम है। रेचकके द्वारा मनमें-से प्रपञ्चको निकालकर ब्रह्माकार वृत्ति कर लेना पूरक है।

ब्रह्मैवाहम्—'मैं ब्रह्म ही हूँ।' अब इस वृत्तिको न चलने दें। प्रपञ्चकी सत्ता नहीं है, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है, इस वृत्तिमें स्थिर हो जायँ तो यह कुम्भक प्राणायाम है।

यह प्राणायाम प्रबुद्ध लोगोंका, समझदारोंका है। जो जागते हैं, ज्ञानवान् हैं, उनका है। मूर्ख तो नाक दबानेको ही प्राणायाम मानते हैं।



प्रत्याहार

● संगति

प्राणायामके प्रश्चात् प्रत्याहार होता है। इस प्रसंगमें छह प्रकारकी ब्रह्ममयी दृष्टिका वर्णन हुआ है—1. प्राणायाममें, 2. प्रत्याहारमें 3. धारणामें, 4. ध्यानमें 5. निदिध्यासनमें और 6. साक्षात्कारमें। ये छह प्रकारकी ब्रह्ममयी दृष्टियाँ छह भूमिकाएँ हैं। इनमें उत्तरोत्तर गाढ़ताका तारतम्य है।

योगमें प्रत्याहार है, बाहरसे मन-इन्द्रियोंको भीतर लौटाना। वेदान्त कहता है-'लौटाओ मत। जहाँ मन गया, वहाँ भी ब्रह्म ही है। वहीं ब्रह्मका साक्षात्कार करो।'

जैसे दृष्टि पुष्पपर गयी। योग कहेगा-'दृष्टि लौटाओ।' वेदान्त कहता है-'विवेक करो कि पुष्पमें नाम-रूप मिथ्या है और उसमें जो अस्ति-भाति-प्रिय है वह ब्रह्म है।' अतः जो-जो दिखायी देता है वह ब्रह्म ही है।

प्रत्याहार है सब वस्तुमें ब्रह्मभाव और धारणा है सब देशमें ब्रह्मभाव। सब कालमें ब्रह्मभाव ध्यान है! निदिध्यासन यह है कि देश-काल-वस्तु बिना हुए ही भास रहे हैं। साक्षात्कार ब्रह्माकारवृत्ति है। जीवन्मुक्ति है—

सोवत जागत पड़े उताने, कहे कबीर हम वही ठिकाने।

इस प्रसंगमें तीन बातें ध्यानमें आनी चाहिए—1. प्रत्याहार, 2. धारणा, 3. ध्यान। विषयकी दृष्टिसे प्रत्याहार, देशकी दृष्टिसे धारणा, और कालकी दृष्टिसे ध्यान होता है। तीनोंकी दृष्टिसे समाधि होती है। तीनोंसे असंगताकी दृष्टिसे द्रष्टाका स्वरूपावस्थान होता है। दूसरा है ही नहीं तो असंगता किससे, इस दृष्टिसे ब्रह्मज्ञान होता है।

हमार मन और हमारी इन्द्रियाँ कुछ-न-कुछ आहार लेते रहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये उनके आहार हैं। **आह्रियत इति आहारः, व्याह्रियत इति व्यवहारः** अर्थात् बाहरसे खींचकर जो संस्कार हम भीतर लेते हैं वह आहार है।

जो भीतरका संस्कार हम बोलकर बाहर करते हैं वह व्यवहार है। व्यवहार आहारके विपरीत है। हम भोजन करते हैं तो अन्न बाहरसे भीतर जाता है। बोलते हैं तो शब्द भीतरसे बाहर आता है। प्रत्याहारका अर्थ है आहार-ग्रहणकी प्रक्रियासे उलटे उसकी बराबरीमें कोई आहार। बुद्धिमें कोई पक्ष है तो उसे प्रतिपक्ष भी चाहिए।

आहारमें जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आते हैं इन्हें विषय कहते हैं। **विशृण्वन्ति निबध्नन्ति इति विषयाः।** अर्थात् जो अपने साथ विशेषरूपसे बाँध लें वे विषय हैं। किसी सुन्दर रूपको देखा और नेत्र वहीं बँध गये, उसे छोड़ना नहीं चाहते अतः रूप विषय है। विषय और विष दोनोंमें विषय बड़े घातक हैं—

निहन्ति विषमात्तरं विषयः स्मरणादपि। अर्थात् विष तो खानेवालेको मारता है किन्तु विषय स्मरणमात्रसे ही मार देते हैं। अतः विषयोंसे मन-इन्द्रियोंको भीतर खींचना चाहिए। इसको योगशास्त्रमें प्रत्याहार कहा गया है।

प्रतिदिन अन्न खाते हैं किन्तु एकादशीको फलाहार करते हैं। प्रतिदिनके अभ्यासका यह त्याग भी प्रत्याहार ही है। जो बिना भीड़-भाड़के न रह सके उसके लिए एकान्तमें रहना प्रत्याहार है।

मनुष्यको जीवनमें प्रत्येक परिस्थितिमें रहनेका अभ्यास होना चाहिए। प्रतिदिन भोजन करते हैं तो कभी बिना खाये भी रह सकें। लोगोंमें रहते हैं तो अकेले भी रह सकें। ऐसा नहीं कर सकेंगे तो जीवन आधा सुखी रहेगा, आधा दुःखी। अपनी इन्द्रियोंका आहार-ग्रहणका स्वभाव छुड़ाकर रहना प्रत्याहार है।

कोई महिला डाक्टरसे दवा ले रही थी। डाक्टरने कहा—'आप यह दवा सप्ताहमें एक दिन न लिया करें अन्यथा दवा लेनेका स्वभाव बन जायेगा।'

महिला बोली—'आप क्या कहते हैं, मैं यही दवा बीस वर्षोंसे प्रतिदिन ले रही हूँ। अबतक स्वभाव नहीं बना तो अब क्या बनेगा?' वह स्वभावका अनुभव ही नहीं कर पाती।

प्रत्याहार क्रियांश होता है। जो करनेकी बात होती है उसे सीखना पड़ता है। मैं काशीमें पढ़ता था। रोटी स्वयं बनाकर खानेकी बारी आयी। पहले दिन

आटेमें पानी डाला तो वह गीला हो गया। एकने बतलाया—'एक साथ पानी मत डाला करो। थोड़ा-थोड़ा पानी डालते जाओ, आटा भिगाते जाओ।' हलवा बनाने लगा तो वह जल गया। क्रिया दूसरेसे सीखकर की जाय तभी उत्तम होती है।

मैं और दादा बद्रीनाथ जा रहे थे। साथमें दादाकी माँ और बुआ भी थीं। उन दोनोंमें लड़ाई हो गयी तो वे रूठकर बैठ गयीं। दादा खिचड़ी बनाने बैठे। पतीली ली गयी। उसमें चावल, दाल डाला तो वह अधिक पड़ गया। अब वह पककर जैसे-जैसे बढ़ने लगा वैसे-वैसे हम उसे निकालते चलें और पतीलीमें थोड़ा पानी डालते चलें।

तात्पर्य यह कि जैसे सब क्रियाएँ सीखनी पड़ती हैं, वैसे प्रत्याहारकी क्रिया भी सीखनी पड़ती है। योगमें प्रत्याहार यह है कि विषयोंका इन्द्रियोंसे संयोग न हो। जैसा शान्त चित्त होता है वैसी ही शान्त इन्द्रियाँ हों अर्थात् वे शान्त चित्तसे एक हो जायँ।

बाहर जो पञ्चमहाभूत हैं, उनके शब्दादि पाँच विषय हैं। हमारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिमें इन्हीं विषयोंकी सात्त्विक तन्मात्रा है। पञ्चमहाभूत पञ्चीकृत हैं। जैसे गुलाबके पुष्पमें पृथिवीकी गन्ध, जलका रस, अग्निका रूप, वायुका स्पर्श और अवकाश, ये पाँचों मिले हुए हैं। इन्द्रियोंमें एक-एक तन्मात्रा है, जैसे नेत्रमें केवल रूप है। इन्द्रियगोलकोंमें भले पञ्चमहाभूत होवें; किन्तु इन्द्रियोंमें शक्ति एक-एक महाभूतकी ही है।

इन्द्रियोंमें ज्ञान होता है, अतः इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं। विषयोंमें ज्ञान नहीं है, अतः विषय तामस हैं। गन्धरूप विषय नासिकामें पहुँचकर अपनी तन्मात्राको उत्तेजित कर देता है। जैसे जलमें पत्थर फेकें तो जल क्षुब्ध हो उठता है। मन अपञ्चीकृत पञ्चसात्त्विकतन्मात्रायुक्त है।

विषयोंमें तीन भेद हैं—1. मोहनीय, 2. रञ्जनीय और 3. प्रकाशनीय। जिन विषयोंसे हमारा ज्ञान घटता प्रतीत होता है वे मोहनीय विषय हैं, जैसे गाँजा, भाँग, शराब आदि। जिनके सेवनसे सुख मिलता है और उनमें राग होता है, वे विषय रञ्जनीय हैं। जो विषय केवल दिखायी देता है, जिसमें न मोह है, न रञ्जन, वह प्रकाशनीय है।

ये तीनों प्रकारके विषय जब इन्द्रिय-सम्पर्कमें आते हैं तब इन्द्रियाँ उनके

साथ तन्मय हो जाती हैं। यह बन्धन है। इससे विषयोंमें चित्तकी आसक्ति हो जाती है। अतः इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् कर देना चाहिए। ये इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् न प्रतीत हों अपितु चित्तसे एक हो जायँ।

विषयोंकी पृथक्ता और इन्द्रियोंकी स्फुरणा प्रतीत हुए बिना चित्तकी जो स्थिरता है उसे योगमें प्रत्याहार कहते हैं। इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदि प्रत्याहारके कई भेद बतलाये गये हैं।

अब वेदान्तमें प्रत्याहार क्या है, यह बतलाते हैं। ●

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥ 121 ॥

इदानीं प्रत्याहारं लक्षयति—विषयेष्विति। विषयेषु घटादिषु। यद्वा शब्दादिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मतां सत्तास्फुरताप्रियतामात्रतां दृष्ट्वानुसन्धाय मनसोऽन्तः-करणस्य चितिमज्जनं नामरूपक्रियानुसन्धानराहित्येन चित्स्वरूपतयावस्थानं स प्रत्याहारः। ततः किमत आह—अभ्यसनीय इति॥ 121 ॥

विषय आत्मस्वरूप ही हैं, यह देखकर मन वहीं चिदात्मामें डूब जाय, इसका नाम प्रत्याहार है। मुमुक्षुओंको इसका अभ्यास करना चाहिए ॥121 ॥

जिस विषयमें इन्द्रिय गयी उस विषयमें ब्रह्म है ही। जैसे रस्सीमें सर्प दिखायी देता है तो वहाँ रस्सी है ही। सर्पको इतने ध्यानसे देखें कि दृष्टि रस्सीतक पहुँच जाय, सर्प ही देखते न रह जायँ। इसी प्रकार जहाँ विषय दिखायी दें वहाँ विषय न देखें। जो-जो दिखायी पड़ता है वह सब ब्रह्म है। नेत्रसे दिखायी देनेवाला रूप, कर्णसे सुनाई देनेवाला शब्द, जिह्वापर आनेवाला रस, नासिकामें आनेवाला गन्ध, त्वचासे होनेवाला स्पर्श मनमें आनेवाला संकल्प, बुद्धिमें उठनेवाला विचार, ये सब ब्रह्म हैं। सोना-जागना सब ब्रह्म है। इस दृष्टिसे चैतन्यके अनादि-अनन्त समुद्रमें मनको डुबा दें। जैसे बरफका टुकड़ा जलमें डूबे-उतराये किन्तु वह स्वयं भी जल है, ऐसे ही मन ब्रह्ममें उन्मज्जित-निमज्जित होता रहे, यह मनःस्थिति प्रत्याहार है।

वेदान्तकी दृष्टिसे हृदयमें ब्रह्म हो और बाहर न हो, ऐसा तो है नहीं। भीतर-बाहर सर्वत्र ब्रह्म ही है। अतः मन जहाँ जाता है वहीं ब्रह्म है। वहाँसे मनको खींचना नहीं अपितु वहीं ब्रह्मदृष्टि करना आवश्यक है।

वस्तुतः न तो मन शरीरसे बाहर कहीं जाकर विषयका ग्रहण करता और

न इन्द्रियाँ बाहर जातीं। कैमरा किसी वस्तुसे सटकर नहीं वरन् अपने स्थानपर रहकर ही फोटो लेता है। इन्द्रियसंयुक्त मनमें विषयका जो आभास पड़ता है वह बाह्यत्वसहित और समयसहित पड़ता है।

कोई वस्तु एक मीटरकी है तो वह एक मीटर लम्बाई वस्तुमें है या आकाशमें? वह लम्बाई वस्तुमें है। उस वस्तुकी उपाधिसे हम आकाशमें एक मीटरका आरोप करते हैं। यह आकाशमें अध्यारोप हैं।

हमको जो संसारके विषय प्रतीत होते हैं, ये अधिष्ठानमें तो हैं नहीं। ये सत्तामें प्रतीत नहीं होते। स्वयंप्रकाश चेतनमें भी प्रतीत नहीं होते। ये अन्तःकरणकी उपाधिसे अपने माप-भार-आयुसहित हमारे अन्तर्देशमें ही भासते हैं। अर्थात् हमें विषयज्ञान तब होता हैं जब विषय अन्तर्देशमें प्रतिभासित अथवा प्रतिबिम्बित होता है। हम अपने अन्तःकरण-देशस्थ विषयको ही जानते हैं। जिस चेतनमें अन्तःकरण कल्पित है, उसी चेतनमें अन्तःकरणमें भासनेवाला विषय भी। स्वप्न अथवा मनोराज्यमें जो देश-काल-वस्तु प्राणी आदि दिखायी देते हैं, उनकी आयु आदि सब अन्तःकरणमें ही कल्पित होती हैं। यदि कोई कालकृत जन्म-मृत्यु, वस्तुकृत जड़ता और देशकृत परिच्छिन्नतासे बचना चाहता है तो अपने अन्तःकरणको उस चैतन्यमें डूब जाने दे, जो अधिष्ठान है। यह वेदान्तका सार है। मुमुक्षुके लिए यह अभ्यसनीय है। सत्संग, चिन्तन तथा कुछ न करना भी अभ्यास है। कोई अभ्यास न करना ब्रह्माभ्यास है। विषयमें मन गया तो विषय भी ब्रह्म है, यह भावाना हुई, अतः विषयसहित मन चेतनमें डूब गया। यह वेदान्तका प्रत्याहार हुआ।



धारणा

● **संगति**

अब देशकी प्रधानतासे धारणाका वर्णन करते हैं। जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ब्रह्म है, इसका मनके संकोच-विस्तारसे कोई सम्बन्ध नहीं है। योग-दर्शनमें धारणाका स्वरूप बतलाया गया है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

प्रत्याहारतक क्रियाकी प्रधानता है और धारणा-ध्यान भावना-प्रधान हैं।

अनन्त एक ऐसी वस्तु है, जो कहाँ नहीं है। भगवान् श्रीराम वनवासके लिए निकले तो महर्षि वाल्मीकिके यहाँ जाकर उनसे उन्होंने अपने निवासके योग्य स्थान पूछा। महर्षि बोले—

जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं बतावउँ ठाउँ।

परमब्रह्म परमात्मा कहाँ नहीं है। सर्व देशमें है। देश मिथ्या है और देशाधिष्ठान ब्रह्म सच्चा है।

आजकलके वैज्ञानिक कहते हैं—'मनको रोकना कुण्ठा उत्पन्न करता है!'

छोटा अनजान बच्चा घरसे निकलकर बार-बार सड़कपर जाता है तो माता दौड़कर उसे पकड़ती है। बच्चे छज्जेपर चढ़ते हैं, आग छूना चाहते हैं, उन्हें तो रोकना ही पड़ता है। किन्तु वेदान्त बच्चोंकी, अनजानोंकी वस्तु नहीं है। मन जाता है तो जाने दो। जिस देशमें मन गया वहीं ब्रह्म है।

योगमें मानते हैं कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठ देश, भ्रूमध्य या सहस्रार, कहीं भी एक देशमें मनको रोक लेना धारणा है।

भक्ति-शास्त्रमें भगवान्‌के श्रीविग्रहमें चित्त लगाना, भगवान्‌के किसी एक अंगमें नेत्र-मन रख देना धारणा है। श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्यमें लिखा है—'यदि भगवान् विष्णुका ध्यान करना है तो शालग्रामकी

आकृतिमें चित्त स्थिर करें। उसीमें भगवान् विष्णुके दर्शन होंगे।' इसी प्रकार प्रत्यक् चैतन्यको ढूँढ़नेके लिए हृदय अधिष्ठान है। ●

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता॥ 122॥

धारणां लक्षयति—यत्रेति। यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् पदार्थे मनो याति गच्छति तत्र तत्र ब्रह्मणः सत्तादिमात्रस्य नामाद्यपेक्षया दर्शनादनुसन्धानान्मनसो धारणं ब्रह्मण्येव स्थिरीकरणं धारणेत्यन्वयः। नन्वाधारादिषट्चक्रमध्ये एकत्र मनसो धारणं 'धारणा' इति प्रसिद्धमत आह—सेति। साऽत्रोक्तलक्षणा धारणा परोत्कृष्टा मता। तत्त्वबोधवतामिति शेषः। अन्या तु पातञ्जलाभिमता प्राणायामादिवदपरेति भावः। चएवेत्यव्ययद्वयं वेदान्तविद्वदनुभवप्रसिद्धिं द्योतयति॥112॥

जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ ब्रह्मदर्शन होनेसे उसीमें मनका धारण करना परा धारणा है॥122॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः॥

देहाभिमान नष्ट हो गया, परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। अब जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ अपना स्वरूप ही है, अतः वहीं समाधि है। यह सिद्ध दशा है। साधक इसका अभ्यास करता है तो उसे धारणा कहते हैं।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे मैंने पूछा—'ध्यान किसका?'

वे बोले—'चाहे किसका।'

मैं—'अपने शरीरका ध्यान करूँ।'

वे—'करो।'

मैं—'इससे शरीर दृश्य हो जायगा और तुम द्रष्टा हो, यह विवेक हो जायगा।'

मैंने पूछा—'कभी रामका कभी कृष्णका, कभी शिवका, इस प्रकार बदल-बदलकर ध्यान करूँ तो?'

बाबा हँसे और बोले—'यदि अज्ञान-ग्रन्थिका भेदन हो गया है तो मनको एकाग्र करनेकी आवश्यकता नहीं है। जब मन एकाग्र करनेकी आवश्यकता ही नहीं तो एक रूपका ध्यान करो या अनेक रूपोंका।'

हम भूख लगनेपर भोजन करते हैं तो क्या यह नियम करते हैं कि खीर

मिलेगी तभी भोजन करेंगे? क्षुधा-निवृत्तिके लिए जो वस्तु समय पर मिल गयी और खाद्य हुई तो उसीसे भूख मिटा लेते हैं। इसी प्रकार महात्मा लोग वैकुण्ठ जानेके लिए अथवा निर्विकल्प समाधि लगानेके लिए तो ध्यान करते नहीं। उनके ध्यानका कोई प्राप्तव्य नहीं है। किसी बाह्य कारणसे मनमें चञ्चलता प्रतीत हुई तो कोई भी ध्यान कर लिया। जैसे दृश्य क्षुधाकी निवृत्तिके लिए भोजन है वैसे ही महात्माके लिए तात्कालिक मनोविक्षेप दूर करनेके लिए ध्यान है। उसका ध्यान ईश्वर-प्राप्ति अथवा समाधिप्राप्तिके लिए नहीं है!

शीत-निवृत्तिके लिए कम्बल या रजाई जब जो मिल गया, ओढ़ लिया। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानमें धारणाका कोई एक स्थिर रूप नहीं है। जब जो मनमें आया उसीमें ब्रह्मभाव कर लिया।

एक महात्मा कहीं जा रहे थे। उस दिन कहीं भिक्षा नहीं मिली तो बोले- 'आज एकादशी-व्रत है।'

एक व्यक्तिने सुना तो बोला—'आज एकादशी नहीं, आज तो पञ्चमी है।'

महात्मा—'यहाँ आज एकादशी न सही, विश्वमें कहीं-न-कहीं तो आज एकादशी होगी ही। हम वहींकी एकादशी मनाये लेते हैं। हमारी एकादशी तो पूरे विश्वकी है।'

कई बार जब वाराणसीमें एकादशी होती है; बम्बईमें नहीं होती; क्योंकि दोनों स्थानोंके सूर्योदयमें आधे घण्टेका अन्तर है। इससे हिसाब ही बदल जाता है।

अत: जहाँ मन जाय वहीं ब्रह्म है, यह मनसे धारण कर लें तो यह परा धारणा है।



ध्यान

● **संगति**

ध्यान क्या वस्तु है ? ध्यान होता है मनको संयमित करनेके लिए। चाहे जैसे रहें और ध्यान भी हो जाय, यह नहीं हो सकता।

एक महात्मा बहुत प्रतापवान् थे। मैंने उनसे कहा—'ध्यान करा दीजिये।'

उन्होंने सामने बैठाया। उस समय ध्यान लग गया; किन्तु जबतक उनका संकल्प रहा, ध्यान बना रहा। फिर मनकी पूर्ववत् स्थिति हो गयी।

धर्ममें ध्यान ऐसा होता है कि यज्ञमें जिस देवताके लिए आहुति देनी है, उसका ध्यान करना पड़ता है—

यस्या एव देवतायाः हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्।

इन्द्रको आहुति देनी हो तो वज्रहस्त इन्द्रका और पूषा देवताओंको आहुति देनी हो तो पूषाका ध्यान किया जाता है।

ध्यानकी दो गतियाँ हैं—1. चित्तको संक्षिप्त करना, 2. चित्तका विस्तार करना।

योगमें ध्यान चित्तको संक्षिप्त करनेके लिए किया जाता है। योगी भगवान्का ध्यान करेगा तो चरणसे क्रमशः नेत्रतक आवेगा और फिर आकृतिको छोड़कर निराकारमें चित्त स्थिर करेगा।

भक्तिमें चित्तका विस्तार करना ध्यान है। भक्त भगवान्का ध्यान करने बैठा तो चित्तमें धाम प्रकट हुआ। उसमें वृक्ष, लतायें, कुञ्ज, गौ, गोपियाँ, ग्वालबाल दिखायी पड़े। इनके मध्यमें मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्रीकृष्णका ध्यान हुआ।

सम्पूर्ण संसार दिखायी पड़ता रहे पर कहीं राग-द्वेष न हो। जैसे चन्द्रमाको देखते हैं और उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा भी करते हैं किन्तु उसमें राग नहीं है। ऐसे ही कहीं भी राग न हो, यह सांख्यदर्शनका ध्यान है।

तत्रैकतानता ध्यानम्।-योगदर्शन

अपने लक्ष्यमें मनका एकाग्र होना ध्यान है।

स्वभावतः मनकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—1. क्षिप्त, 2. विक्षिप्त, 3. लय, 4. एकाग्र और 5. निरुद्ध। प्रत्यक्ष विषयोंमें मनका घूमना क्षिप्त अवस्था है। स्वर्गादि परोक्ष विषयोंकी कल्पना करना विक्षिप्तावस्था है। निद्रा लयावस्था है। एक ही विषयमें स्थिर रहना एकाग्रावस्था है। चित्तमें वृत्तिका न उठना निरुद्धावस्था है।

ध्यानं निर्विषयं मनः।

वेदान्तका ध्यान यह है कि मनमें कोई विषय न आवे। यह ध्यान समाधानरूप है और इसे बहिरङ्ग साधनमें रखा जाता है। वहाँ कहते हैं—

स्नानं मनोमलत्यागः ध्यानं निर्विषयं मनः।

मनके मलों, दोषोंका त्याग स्नान है और मनको विषयरहित करना ध्यान।

दूसरा ध्यान निदिध्यासन-कोटिका है। यह है विजातीयवृत्तितिरस्कार-पूर्वक सजातीयवृत्ति-प्रवाह। यह आत्मा जन्म-मरणवाला संसारी जीव नहीं है, यह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म ही है, इस साक्षात्कारकी आवृत्ति करना, यह ध्यान यहाँ अभिप्रेत है। ●

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥ 123॥

अथात्मध्यानं लक्षयति-ब्रह्मैवेति। सद्वृत्त्या सती प्रमाणान्तरबाधायोग्या वृत्तिस्तया वृत्त्या निरालम्बतया देहाद्यनुसन्धानराहित्येन स्थितिः, अवस्थानमित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्॥ 123॥

मैं ब्रह्म ही हूँ— इस सद्वृत्तिसे जो निरालम्ब स्थिति है वही ध्यान शब्दसे विख्यात है। यह परमानन्द देनेवाली है॥ 123॥

ब्रह्मैवास्मि—बिना प्रबल मननके यदि कोई ध्यान या निदिध्यासन करने जायगा तो इन्द्रियोंसे अथवा मनमें ब्रह्मका चिन्तन करना चाहेगा। बिना श्रवणके तो ब्रह्मविषयक प्रवृत्ति ही नहीं होती। अतः सुनकर मनन करे, समझें, तब ध्यान होगा। वेदान्तमें न रूपादि विषयकी ध्यानमें विशेषता है, न वृत्तिकी। इसमें वृत्तिके साक्षीकी विशेषता है।

जो द्रष्टा चेतन है वह देश-काल-वस्तुका साक्षी होनेसे देश-काल-विषय (वस्तु)से परिच्छिन्न नहीं है। इन देश-काल-वस्तुका साक्षी अधिष्ठान

अविनाशी, व्यापक और अद्वितीय है। यह अतिशय महान् है। यह ब्रह्मविषयक वेदान्तका ध्यान है।

ध्यानके चार प्रकार होते हैं—

1. शब्दालम्बन ध्यान। मनमें शब्द भी बोलते हैं **अहं ब्रह्मास्मि, अद्वितीयोऽहम्,** और ध्यान भी करते हैं। किसी-किसीको वस्तुका ध्यान नहीं होता, प्रारम्भमें केवल शब्द ही बोलता है तत्पश्चात् वस्तुका ध्यान होता है।

2. अर्थालम्बन ध्यान। इसमें मनमें भी कोई शब्दोच्चारण नहीं किया जाता। केवल अद्वितीय ब्रह्मका चिन्तन होता है।

3. उभयालम्बन ध्यान। मनमें शब्द भी बोलते जाते हैं और उस शब्दके अर्थका भी ध्यान करते हैं।

3. अनुभयालम्बन ध्यान। एक स्थिति ऐसी आती है जब शब्द और अर्थ दोनोंका चिन्तन नहीं होता। वृत्ति ब्रह्माकार हो जाती है।

ध्यानकी यह निरालम्बन स्थिति परमानन्ददायिनी है।

आस्थापरित्यागो हि मुक्तिः।

समस्त आस्थाओंको त्याग देना ही मुक्ति है। स्वरूपज्ञान हो जानेपर श्रद्धा अनावश्यक है; क्योंकि तब तो अनुभव हो चुका रहता है।

जीवत्वपर्यन्तका 'नेति-नेति' करके निषेध कर देनेके पश्चात् जो साक्षी आत्मा रहा वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीयविजातीय-स्वगत भेदसे शून्य ब्रह्म है। इस तथ्यमें शब्दके सहारे, अर्थके सहारे, दोनोंके सहारे अथवा दोनोंको छोड़कर स्थित हो जाना ध्यान है।

परमानन्ददायिनी—हमने लौकिक-पारलौकिक दृष्टिसे अपने साथ बहुत-से दुःख लगा रखे हैं। अपनेको शरीर माननेसे भूख-प्यास, रोग-बुढ़ापा, जन्म-मरण संयोग-वियोगके दुःख हमारे साथ लग गये हैं। अपनेको जीव माननेसे स्वर्ग-नरकके दुःख साथ लगे हैं। अपनेको अन्तःकरणवान् माननेसे सुख-दुःख, राग-द्वेष साथ लगे हैं। शरीर, जीव, अन्तःकरण, न हम, न ये हमारे। इस प्रकार सब दुःख निवृत्त हो गये और परमानन्द तो अपना स्वरूप ही है। यह संसार मानसिक दृष्टिसे ही भूखा-प्यासा, नंगा-रोगी कंगाल है। वस्तुतः तो यह परिपूर्ण परमानन्द परमब्रह्म ही है।



समाधि

● **संगति**

लोग कहते हैं—'हमारा धर्म या हमारा सम्प्रदाय मर जायगा।' किन्तु यदि उसमें एक कण भी सत्य है तो वह अमर है। यदि वह मिथ्यापर, कल्पनापर ही आधारित है तो उसे मर जाने देना ही ठीक है। सत्य कभी मरता नहीं। सत्यमें अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थितिका नाम ही समाधि है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।–योगदर्शन

योगका कहना है कि चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। यह योगकी समाधि है। अब वेदान्तमें समाधिका रूप बतलाया जा रहा है। ●

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः॥ 124॥

अथान्यत्समाधिरूपं पञ्चदशमङ्गं लक्षयति-निर्विकारतयेति। निर्विकारतया विषयानुसन्धानरहिततयान्तःकरणवृत्त्या, पुनरनन्तरमेव ब्रह्माकारतया यत् सम्यक्प्रपञ्चसंस्काररहितं ध्यातृध्येयाकारवृत्तिशून्यं वृत्तिविस्मरणं द्वैताननुसन्धानं स समाधिः। पञ्चदशमङ्गमित्यर्थः। ननु वृत्तविस्मरणस्याज्ञानरूपत्वात्कथं समाधित्वमित्याशङ्क्य ब्रह्मात्मैक्यबोधाभावे केवलवृत्तिविस्मरणस्य तथात्वेऽपि न ब्रह्मज्ञानसहितस्य तथात्वमित्याशयेन समाधिं विशिनष्टि-ज्ञानसंज्ञक इति। ज्ञानमिति संज्ञा यस्य स ज्ञानसंज्ञकः। ब्रह्माकारतया स्फुरणरूप इत्यर्थः। उक्तं च—'समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति' इति॥ 124॥

वृत्ति निर्विकार होकर ब्रह्माकार हो जाय, इससे वृत्तिका सर्वथा विस्मरण हो जाय तो यह समाधि ही ज्ञान कही जाती है।। 124॥

आत्मचैतन्यका प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव कभी नहीं होता अर्थात् आत्मचैतन्य अखण्ड है। घड़ी, चश्मा, पुस्तक, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष आये भी गये भी, किन्तु इनको देखनेवाले नेत्र वही रहे। इसी प्रकार संसारका द्रष्टा अपरिवर्तनीय, अविनाशी, अवचनसिद्ध है। इसे बोलकर बतलाना सम्भव नहीं है।

आत्मचैतन्य निर्विकार है और निर्विशेष भी; क्योंकि सब विशेषताएँ अनुभवका विषय होती हैं। आत्मा अनुभवका विषय नहीं है, अनुभवस्वरूप है। आत्मा परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षित ब्रह्म है।

जैसे चींटीके जन्म-मरण, रोग-शोक या विक्षेप-समाधिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही अव्यक्तमें कल्पित व्यक्तित्वसे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अपने रूपमें अवस्थिति ज्ञान-समाधि है।

सत्त्वावबोध एवायं वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥

योगवासिष्ठ

शरीर या मनकी चुप्पीका नाम समाधि नहीं है। अपनेको निर्विशेष अद्वय रूपसे जान लिया तो वासना और वासनाका आधारभूत अन्तःकरण, उस अन्तःकरणका अभिमानी, विषय समष्टि और जिस मायामें विषय कल्पित हैं वह माया एवं उस मायासे विशिष्ट—ये सब अपने स्वरूपमें कल्पित हो गये।

वृत्तिविस्मरणं सम्यक्-समाधिका अर्थ है दफना देना। भस्म भी अवशिष्ट नहीं रखना। वृत्तिका सर्वथा विस्मरण ज्ञान समाधि है।



प्रकरणका उपसंहार

● **संगति**

डाक्टर नगेन्द्र अपनी रूसयात्रामें जब मास्कोमें थे तो वहाँ लेनिनकी समाधि देखने गये। उन्होंने लिखा है—'वहाँ बड़ी शान्तिसे क्यू (पंक्ति)में हजारों लोग दर्शन करने जाते हैं। मैं क्यूमें खड़ा हुआ तो मुझे अपने तिरुपति बालाजीमें क्यूमें खड़े होनेकी याद आयी। मनमें विचार आया—एक मूर्तिमें परमात्माका भाव करके क्यूमें होनेवाले और एक देश (जो पृथ्वीका एक छोटा भाग है)के नेताके शवके दर्शनके लिए क्यूमें खड़े होनेवाले, इनमें उत्तम कौन है? श्रद्धा कौन-सी उत्तम है? धर्म और ईश्वरको छोड़कर अब यह शव-पूजा क्या आस्था नहीं है?'

मानव-अन्तःकरण आस्थाहीन नहीं होता। जब वह अपने परिपूर्ण अद्वितीय स्वरूपका अनुभव किये बिना आस्थाका त्याग करने चलता है तो भटक जाता है। अपने अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपका अनुभव हो जानेपर आस्थाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अतः निदिध्यासनके जो पन्द्रह अङ्ग कहे गये उनका अभ्यास कब तक करें और उसका फल क्या है यह बतलाते हैं। ●

इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत्।
वश्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रयुक्तः सन्भवेत्स्वयम्॥ 125॥

इदानीं यदर्थं साङ्गमिदं निदिध्यासनमुक्तं तदाह-इममिति। अकृत्रिमानन्दं स्वरूपभूतानन्दाभिव्यञ्जकं निदिध्यासनमित्यर्थः। चकाराद्यथाबुद्धि वेदान्त-विचारमपीति। स्पष्टमन्यत्॥125॥

ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्।
तत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम्॥ 126॥

एवमभ्यसतः फलमाह—तत इति। साधननिर्मुक्तः साधनाभ्यासरहित इत्यर्थः। एतस्य योगिनः तद्वेदान्तप्रसिद्धं स्वरूपं ब्रह्मैवेति भावः॥126॥

इस प्रकार अकृत्रिम आनन्दका तबतक भली प्रकार अभ्यास करें जबतक स्वस्वरूपाकार ब्रह्माकार वृत्तिका उदय न हो जाय। फिर साधन-विनिर्मुक्त वह योगिराट् सिद्ध हो जाता है। उसका वह स्वरूप वाणी और मनका विषय नहीं है॥125-126॥

यह अकृत्रिम आनन्द है। इसे तबतक जीवनमें लानेका प्रयत्न करना चाहिए जबतक इच्छानुसार इस स्थितिमें पहुँच जानेकी क्षमता न प्राप्त हो जाय। इसके बाद साधन छोड़ दे क्योंकि फिर तो साधक सिद्ध, योगिराज हो जाता है।

कोई स्वस्वरूपको जाननेसे पूर्व ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन छोड़ दे, ईश्वरके प्रति भक्ति छोड़ दे अथवा समाधिसे पूर्व योग छोड़ दे, अन्तःकरणशुद्धिसे पूर्व धर्म छोड़ दे तो यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई लाभ होनेसे पूर्व व्यापार बन्द कर दे। उसे तो हानि ही पल्ले पड़ी।

चाहे जब ब्रह्मदृष्टि बन जाय, यह बात अभ्याससे सिद्ध हो जाय तो फिर साधन आवश्यक नहीं रह जाता। फिर तो संसारके सब सम्प्रदाय, आचार-विचार एक जैसे हो जाते हैं। जबतक परमात्माको जाना नहीं तभी तक भेददृष्टि रहती है।

यह सिद्ध पुरुष किसीकी वाणीका विषय नहीं है। मुसलमान अपने कल्याणके लिए नमाज पढ़ते हैं और हिन्दू पूजा करते हैं। दोनोंका अपने-अपने साधनसे कल्याण होता है। 'इस साधनसे कल्याण होता है, इससे नहीं होता' ऐसा वर्णन कहीं है तो उसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि अपने साधनमें निष्ठा रखें, उसे छोड़ें नहीं।

नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता अपितु विधेय स्तोतुम्।

जिसकी निन्दा की जा रही है उसे निन्दित बतलानेके लिए निन्दाकी प्रवृत्ति नहीं है अपितु जिसका विधान किया जा रहा है उसकी स्तुतिके लिए यह प्रवृत्ति है।

जब वैष्णव शिव-निन्दा करते हैं तो उनका तात्पर्य शङ्करजीको छोटा या भगवान्‌से भिन्न सिद्ध करना नहीं होता। उनका तात्पर्य होता है कि हमारी वैष्णवी निष्ठा दृढ़ रहनी चाहिए। इसी प्रकार जब शैव विष्णुकी निन्दा करते हैं तो उनका अभिप्राय विष्णुको छोटा या शिवसे भिन्न सिद्ध करना नहीं होता। अभिप्राय शैवनिष्ठाको दृढ़ करना होता है।

धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मो विधर्म सः।
अविरोधी तु यो धर्मो स धर्मो मुनिसम्मतः॥

जो दूसरेके धर्मको बाधा पहुँचाता है वह तो धर्म नहीं है, वह कुधर्म है। जो किसीके धर्मानिष्ठानमें बाधा पहुँचाये बिना होता है वही मुनिसम्मत धर्म है।

सच्चा धर्म किसी भी धर्मका विरोधी नहीं होता। जहाँ एक धर्म दूसरे धर्मका विरोधी हो वहाँ वह धर्म सच्चा नहीं है। अतः जगत्‌के तत्त्वको जाननेवाले महात्मा किसीकी निन्दा नहीं करते। कोई उनकी, उनके धर्मकी निन्दा करे तो कहते हैं—'वाह! वाह!'

निन्दक नियरे राखियै आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी बिनु साबुनै निरमल करै सुभाय॥

वे कहते हैं—'निन्दा करनेवाला तो हमारे दोष बतलाकर हमारे स्वभावकी शुद्धि करता है।'

एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।—भागवत

जिनको परमार्थका दर्शन हो गया है उन्हें बोलनेकी आवश्यकता ही नहीं है। वे सद्‌बुद्धि महापुरुष तो शब्दसे ही विराग कर लेते हैं।

तेरे भावै जो करै भलो-बुरो संसार।
नारायण तू बैठिके अपनो भवन बुहार॥



साधनके विघ्न

● **संगति**

सिद्धावस्थाकी प्राप्तिसे पूर्व साधना नहीं छोड़नी चाहिए किन्तु साधन करने लगे तो बलपूर्वक उससे हटाने-गिरानेवाले बड़े-बड़े विघ्न सामने आते हैं।

समाधिके अभ्यासमें जो विघ्न आते हैं उनकी विस्तृत चर्चा योगदर्शनमें है। अभ्यास-कालमें ज्वर आ गया, जुकाम हो गया, इस प्रकार योगाभ्यास-कालमें शरीरमें जो रोग आते हैं वे रोग नहीं अपितु योगमें आनेवाले विघ्न हैं। अभ्यास करते रहनेपर ये विघ्न दूर हो जाते हैं। साधन छोड़ देनेपर तो वे विघ्न ही सफल हो जायँगे। इसीलिए तो वे आये थे।

एक सज्जन हनुमानजीका अनुष्ठान कर रहे थे। उनकी कुटियामें चोर आ गये तो उन्होंने अनुष्ठान छोड़कर वह स्थान बदल देना ठीक समझ लिया। एकको किसीने कह दिया—'तुम्हारा मन्त्र ठीक शुद्ध नहीं है।' दूसरे एक साधकको किसीने कह दिया—'तुम्हारा गुरु तो ढोंगी है।'

इस प्रकार जब मनुष्य साधन करने लगता है तो अनेक विघ्न आते हैं। ज्ञान-मार्गमें जो मुख्य विघ्न तत्त्वदृष्टि होनेमें आते हैं उनका वर्णन करते हैं। ●

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्ना आयान्ति वै बलात्।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम्॥ 127॥

लयस्तमश्च विक्षेपो रसास्वादश्च शून्यता।
एवं यद्विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविदा शनैः॥ 128॥

अखण्डैकरसब्रह्मस्वरूपत्वेनावस्थानलक्षणमोक्षफलदोऽयं समाधि-पर्यन्तो योगो गुर्वनुग्रहवतां सुकरोऽस्ति तथापि सुकर इत्यनादरो न कार्यः, विघ्नबाहुल्यसम्भवादित्याह द्वाभ्यां-समाथाविति। स्पष्टोऽर्थः॥127॥

लय इति। तत्र लयो निन्द्रा। तमः कार्याकार्याऽविवेकः विक्षेपो विषयस्फुरणम्। रसास्वादो धन्योऽहमित्याद्यानन्दाकारा वृत्तिः। च पुनः शून्यता चित्तदोषः, रागद्वेषादितीव्रवासनया चित्तस्य स्तब्धीभावः कषायः। क्षुब्धतेत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्॥128॥

समाधिका अभ्यास करते समय बलपूर्वक जो विघ्न आते हैं वे हैं— अनुसन्धान-राहित्य, आलस्य, भोगलालसा, लय, तम, विक्षेप, रसास्वाद, शून्यता आदि। ब्रह्मवेत्ताको चाहिए कि इन विघ्नोंकी बहुलताको धीरे-धीरे छोड़ दे॥ 127-128॥

अनुसन्धानराहित्यम्—ब्रह्म-चिन्तन करने बैठे किन्तु बुद्धि काम नहीं करती कि जगत् क्या है, जीव क्या है, ईश्वर क्या है और ब्रह्म क्या है? जाग रहे हैं और चिन्तन करना भी चाहते हैं किन्तु बुद्धि साथ नहीं दे रही है।

आलस्यम्—'आज ही चिन्तन करना क्या आवश्यक है, कल कर लेंगे।' ऐसा कल कभी नहीं आवेगा। आज करनेका काम कलपर टाल दिया तो कल भी टाल देनकी प्रवृत्ति होगी। यह तमोगुणका विलास है।

भोगलालसम्—ब्रह्म-चिन्तन करने बैठे और कुछ खाने, छूने, सूँघने या भोगनेकी लालसा उदित हो गयी। ब्रह्म-चिन्तनके स्थानपर भोग-चिन्तन होने लगा।

लयः—वृत्ति लीन हो गयी। चिन्तन तो वृत्तिके द्वारा होता है। वृत्ति ही लीन हो गयी तो चिन्तन कैसे सम्भव है?

तमश्च—चिन्तन करने बैठे और निन्द्रा आ गयी। तमोगुणकी प्रबलतासे निन्द्रा आ जाती है।

विक्षेपः—चित्तमें नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उठने लगे। चित्त चञ्चल हो गया।

रसास्वादश्च—चिन्तनमें लगे तो थोड़ी शान्ति आयी और चिन्तन छूट गया। कुछ नहीं तो शान्तिका सुख लेनेमें ही लग गये।

अनेक प्रकारके अभिमान भी बनते हैं और वे सब विघ्नरूप हैं। जैसे- 'हम तो धाममें रहते हैं। अब काशीमें आ गये तो भजन करनेकी क्या आवश्यकता है!' अरे भाई, काशीमें भजन करनेसे तो वह और अधिक चमकेगा।

'हमें इतने उत्तम गुरु मिल गये कि अब तो वे ही हमारा उद्धार कर देंगे।' चाहिए तो यह कि गुरु उत्तम मिले तो भजन अधिक करें जिससे उनके योग्य शिष्य कहे जा सकें।

'हमारे इष्टदेव इतने दयालु हैं कि हमें भजन करने की आवश्यकता ही नहीं।' यदि सचमुच लगता है कि इष्टदेव परमदयालु हैं तब तो मन सहज ही उसमें लग जाना चाहिए।

इस प्रकार कभी कोई अहंकार विघ्न बन जाता है तो कभी कोई। कभी कुछ सिद्धि मिल गई या किसी देवताका दर्शन हो गया, कोई प्रकाश ही चमक गया—बस, भजन-चिन्तन छूट गया।

शून्यता—कभी चिन्तन-ध्यान करने बैठे तो एक प्रकारकी शून्यता हो गयी। भ्रम हो गया कि समाधि लग गयी।

कभी भूख लगती है कभी प्यास, कभी कामका वेग आता है कभी क्रोधका, कभी प्रशंसा प्रमत्त कर देती है, कभी निन्दा क्षुब्ध, कभी चुप्पीका वेग आता है कभी बोलनेका। ये सब विघ्न ही हैं।

परिच्छिन्नका चिन्तन और परिच्छिन्न स्थितिमें सन्तुष्ट होना विघ्न है।



वृत्तिकी कारणता

● संगति

तब विघ्नोंसे कैसे बचा जाय? इसके लिए वृत्तिको संसाराकार नहीं होने देना चाहिए अपितु उसे ब्रह्माकार बनाना चाहिए, इस उपायका उपदेश दिया जाता है। ●

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत्॥ 129॥

वृत्तिरेव बन्धमोक्षकारणमित्याह—भावेति। भाववृत्त्या घटाद्याकारवृत्त्या भावत्वं तन्मयत्वम्। भवतीति शेषः। शून्यवृत्त्या अभाववृत्त्या। शून्यता जडतेत्यर्थः। हीति लोकप्रसिद्धौ। तथा ब्रह्माकारवृत्त्या पूर्णत्वम्। हीति विद्वत्प्रसिद्धौ। ततः किमत आह—पूर्णत्वमिति॥129॥

घट-पटादि भाव वृत्तिमें हों तो वृत्ति उनके आकारकी और शून्यवृत्ति हो तो शून्यत्वको प्राप्त होती है। ऐसे ही ब्रह्माकार वृत्ति ही पूर्णत्व है। अतः वृत्तिके द्वारा पूर्णत्वका अभ्यास करें॥129॥

अन्तःकरणमें जो वृत्तियाँ आती हैं वे पहलेसे नहीं रहतीं, आजाती हैं। वे अनित्य हैं उनका एक आश्रयमें उदय-विलय होता है। उन वृत्तियोंका घट-पट आदि कोई-न-कोई विषय होता है। घटवृत्ति पटवृत्ति नहीं है और पटवृत्ति घटवृत्ति नहीं है। इन वृत्तियोंका अन्योन्याभाव है।

अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा नित्य है। इसका न कोई आश्रय है, न विषय। ज्ञानमय आत्मामें अनेकता नहीं है। अतः श्रवण-मनन करके अपनी इस परिपूर्णतामें स्थित हो जाना चाहिए।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अपनी इस पूर्णताका सतत अभ्यास करना चाहिए।



ब्राह्मी वृत्तिकी अनुपेक्ष्यता

● **संगति**

मनुष्यने इस कर्मभूमि एवं कर्मयोनिमें इसीलिए जन्म पाया है कि वह कर्मद्वारा अपने स्वरूपको जानकर अक्षय सुख प्राप्त कर ले। जो ऐसा नहीं करते उनकी निन्दा करते हुए उनके जीवनकी व्यर्थता बतला रहे हैं। ●

ये हि वृत्तिं जहत्येनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम्।
ते तु वृथैव जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः॥ 130॥

इदानीं ब्रह्ममयीं वृत्तिं स्तोतुं तद्वृत्तित्यागपरान्निन्दति—ये हीति। ये एनां ब्रह्माख्यां वृत्तिं जहति त्यजन्ति ते तु वृथैव जीवन्तीत्यन्वयः। स्पष्टमन्यत्॥ 130॥

जो लोग इस श्रेष्ठ तथा पवित्रकर देनेवाली ब्रह्मवृत्तिको छोड़ देते हैं वे निश्चय ही पशुओंके समान हैं और उनका जीना व्यर्थ है॥ 130॥

सब कुछ जानते-समझते हुए भी अपने कर्मद्वारा शाश्वत सुख प्राप्त करनेकी बात छोड़कर हम कर क्या रहे हैं—

जेहि विषया सन्तन तजी मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन करि स्वान स्वाद सों खात॥

हम ठीक पशुओंकी भाँति खाते हैं, सोते हैं और विषयोंके पीछे दौड़ते-फिरते हैं, थक जाते हैं तो बैठकर भी उन्हींका चिन्तन है! अतः पाञ्चभौतिक शरीरसे भौतिकताका निर्वाह करते हुए आत्मासे परमात्म-चिन्तन करना ही **उचित है**।

यदि सहज सुलभ ब्रह्मवृत्तिसे मुँह मोड़ लिया, अपनेको ब्रह्मरूप न जान **पाये तो यह** बहुमूल्य मानव-जीवन सचमुच ही व्यर्थ गया।



ब्रह्माकार-वृत्ति पुरुषकी प्रशंसा

● संगति

ब्रह्माकार वृत्ति हो जानेसे जीवन कृतकृत्य हो जाता है, यह बात दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं। ●

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वापि वर्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये॥ 131॥

सम्प्रति तामेव वृत्तिं विवर्द्धयितुं ब्रह्मवृत्तिपरान्सत्पुरुषान् स्तौति—ये हीति। स्पष्टम्॥131॥

जो इस ब्रह्माकार वृत्तिको जानते हैं और जानकर उसे बढ़ाते हैं वे सत्पुरुष धन्य हैं। वे ही तीनों लोकोंमें वन्दनीय हैं॥ 131॥

ब्रह्माकार वृत्तिको न जाननेवालेके अन्त:करणमें भी घटाकार, पटाकार, मठाकारादि वृत्तियाँ तो बनती ही हैं। जब ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है तो दूसरी वृत्तियाँ रहते हुए भी बाधित हो जाती है।

तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे वृत्ति-व्याप्ति जो होती है किन्तु फल-व्याप्ति नहीं होती। अर्थात् 'मैंने ब्रह्मको जान लिया' ऐसी विषयता ब्रह्ममें नहीं आती। इसीलिए यह पावनी वृत्ति अज्ञानको निवृत्त करनेवाली है।

जिनके जीवनमें यह वृत्ति नहीं आती उनका जीवन कृतार्थ नहीं होता। वे तो सब प्राणियोंके समान खान-पान, राग-भोगमें आसक्त हैं। किन्तु जो इस ब्रह्माकार वृत्तिको पहचानते हैं और पहचानकर बढ़ाते हैं, वे सत्पुरुष धन्य हैं। त्रिलोकीमें वे वन्दनीय हैं।

येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः॥ 132॥

एवं ब्रह्मवृत्तिपरान्स्तुत्वाऽधुना तेषां ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलमाह—येषामिति। सुगमम्॥ 132॥

जिनकी वृत्ति भली प्रकार बढ़कर परिपक्व हो गयी वे ही सत्स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो गये। दूसरे जो केवल वेदके विद्वान् हैं उनको यह स्थिति नहीं मिलती॥ 132॥

जिनकी वृत्ति अभिवृद्ध हुई और बढ़ते-बढ़ते परिपक्व हो गयी वे तो ब्रह्मत्वको प्राप्त हो गये, जीवन्मुक्त हो गये; किन्तु जो राग-भोग एवं देहमें आसक्त हैं वे ब्रह्मवार्ता, वेदान्तचर्चामें चाहे जितने निपुण हों, एक बार ब्रह्माकार वृत्ति होनेके अनन्तर अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ तो वे मुक्त नहीं हैं।



शाब्दिक ज्ञानकी निन्दा

● संगति

नेतरे शब्दवादिनः कह दिया तो प्रश्न उठा कि फिर उन शब्द-वादियोंका क्या होता है? वही बतला रहे हैं। ●

कुशला ब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च॥ 133॥

तानेव शब्दवादिनो निन्दति—कुशला इति। स्पष्टम्॥133॥

जो ब्रह्मचर्चा करनेमें निपुण हैं किन्तु वृत्तिहीन और अत्यन्त आसक्त हैं वे अज्ञानी होनेके कारण निश्चय ही बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं॥113॥

वाचिक वेदान्तमात्रमें जो निपुण हैं; ब्रह्मचर्चा, ब्रह्म-निरूपण करनेमें पण्डित हैं; किन्तु जिनकी ब्रह्माकार वृत्ति हुई नहीं है, उनकी शरीरमें मैं-मेरापना होनेसे बहुत आसक्ति है। शरीरमें आसक्ति है, मैं-मेरापना है तो वे अज्ञानी ही हैं और अज्ञानी हैं तो निश्चय ही उनका जन्म-मरण भी है।



ब्रह्मनिष्ठकी वृत्ति

● **संगति**

जिनकी वृत्ति नहीं हुई है, उनकी अवस्था बतलाकर अब जिनकी वृत्ति हो गयी है, उनकी स्थितिका निरूपण करते हैं। ●

निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः॥ 134॥

यत एवं तस्माद् ब्रह्मनिष्ठैर्ब्रह्मवृत्त्यैव सर्वदा स्थातव्यमिति सूचयितुं ब्रह्मादीनामुदाहरणमाह—निमेषेति। यथा ब्रह्माद्यास्तथा सनकाद्याः, यथा सनकाद्यास्तथा शुकाद्या इति सम्प्रदायो दर्शितः। एतेन ब्रह्मादिसेव्यत्वादिति श्रेष्ठोऽयं समाधिपर्यन्तो राजयोगः सर्वदा मुमुक्षुभिः सेवनीय इति ध्वनितम्॥ 134॥

(जिनकी ब्रह्माकार वृत्ति हो गयी है) वे इस ब्रह्ममयी वृत्तिके बिना आधे क्षण भी नहीं रहते। जैसे ब्रह्मादि, सनकादि और शुकादि रहते हैं॥ 134॥

'आधे क्षण भी ब्रह्ममयी वृत्तिके बिना नहीं रहते' तो क्या रात-दिन उनकी समाधि ही लगी रहती है? इसका समाधान यह है कि सामान्यतः समाधि शब्दसे जो कुछ समझमें आता है अर्थात् न बोले तो समाधि, नेत्र बन्द रहें तो समाधि, कुछ न सोचें तो समाधि—ये सब योगकी समाधिसे सम्बन्धित धारणाएँ हैं। यहाँ जिस समाधिकी चर्चा की जा रही है, वह इन सबसे विलक्षण है।

यह ब्रह्ममयी वृत्ति ब्रह्माजीको सदा रहती है। उनका कारखाना कभी बन्द नहीं होता। 'जीव कैसा? इसका अन्तःकरण कैसा? इसके संस्कार कैसे? इसे किस योनिमें भेजें?' इस प्रकार जीव, उसके अन्तःकरण और अन्तःकरणके संस्कार देखते जाते हैं और तदनुरूप शरीर बनाकर देते जाते हैं।

भगवान् विष्णु आधे क्षण भी ब्रह्ममयी वृत्तिके बिना नहीं रहते। किन्तु साथ ही क्षीरसागरमें शेषशय्यापर लेटे-लेटे सबको दूध पहुँचाते रहते हैं। जगदम्बा लक्ष्मी उनके चरण दबाती रहती हैं। उनको कोई चिन्ता नहीं रहती।

सबको आत्मस्वरूप देखनेवाले तथा नित्य ब्रह्ममयी वृत्तिमें स्थित रुद्र सबका संहार कर रहे हैं। क्षण-क्षण, कण-कण नष्ट हो रहा, टूट रहा है; किन्तु उनकी दृष्टि है—'जन्म-मरण तो है ही नहीं। हम संहारकर्त्ता कहाँ हैं!'

एक राजाकी ब्रह्ममयी वृत्ति है। वह प्रजाका पालन करता है। उसकी सेना शत्रुसे युद्ध करती है। सृष्टिमें ये तो मिट्टीके शेर बने हैं जो मिट्टीके बने अन्य पशुओंपर आक्रमण कर रहे हैं। जिसने परमब्रह्म परमात्माको पहचान लिया उसकी कामवृत्ति या लोभवृत्ति भी ब्रह्मवृत्ति ही है।

शुकदेवजी समाधिमें रहते हैं या भागवत पढ़ते-सुनाते हैं। सनकादि कुमार नंगे रहते हैं। पाँच वर्षके बच्चोंकी आयुमें रहते हैं और बच्चोंके साथ खेलते हैं। उनका खेल भी ब्रह्मवृत्ति है।

एक ब्रह्माकार वृत्ति अविद्या-निवर्तक होती है और एक ब्रह्माकार वृत्ति अनादि-अनन्त अपनी स्वरूपभूत है। जिसने ब्रह्मको पहचान लिया उससे ब्रह्माकार वृत्ति अर्धनिमेषको भी छूटती नहीं।



सिद्धान्त-निरूपण

● संगति

यह ब्रह्ममयी वृत्ति बनी कैसे रहे? यह अज्ञान-निवर्तक वृत्ति उत्पन्न कैसे हो? इसके लिए अब संक्षिप्त रूपमें पाँच श्लोकोंमें सिद्धान्तका निरूपण करते हैं।

एक बात साधकको स्मरण रखनी चाहिए कि जो सत्संग-भजन छुड़ा दे वह अपना हितचिन्तक नहीं है। भगवान् कभी दर्शन दें भी तो वे दर्शन देकर चले जायँगे। पासमें तो केवल किया हुआ भजन ही रहनेवाला है। ●

कार्ये कारणतायाता कारणे नहि कार्यता।
कारणत्वं ततो गच्छेत्कार्याभावे विचारतः॥ 135॥

तदेवं स्वाभिमतं साङ्गं राजयोगमभिधाय पूर्वोपक्रान्तं साङ्ख्यापरपर्यायं वेदान्तविचारमुपसंहरति—कार्ये इत्यादिपञ्चभिः श्लोकैः। कार्ये घटपटादिरूपे विकारे कारणता मृत्तन्त्वादिरूपा सर्वविकाराधिष्ठानता आयाताऽनुगता, कारणे तु कार्यता न हीति प्रसिद्धम्। ततः कारणात्कार्याभावे कारणत्वं गच्छेत्। ननु कथं कारणे कार्याभाव इत्यत आह—विचारत इति। यथायं दृष्टान्तस्तथाकाशादिकार्ये कारणता। आकाशोऽस्तिभातीत्यादिव्यवहारहेतुभूता सत्यज्ञानादिरूपब्रह्मणः कारणता आयाता अनुगता, कारणे ब्रह्मणि तु आकाशादिकार्यता नहीति। अतः परमार्थतः आकाशाद्यभावे ब्रह्मणः कारणतापि नहीति दार्ष्टान्तिकोऽर्थः॥ 135॥

कार्यमें कारण है किन्तु कारणमें कार्य नहीं है। अतः विचारके द्वारा कार्यका अभाव समझकर कारणत्वको प्राप्त करे॥ 135॥

कार्ये हि कारणं पश्येत्—यह घड़ा कार्य है तो इसमें मिट्टी है ही किन्तु मिट्टीमें घड़ा नहीं है। मिट्टी तो अनेकरूप है। निष्कर्ष यह कि कार्यमें कारण अनुगत होता है, कारणमें कार्य अनुगत नहीं होता। घड़ेको पहचाननेसे मिट्टीकी पहचान नहीं होगी, किन्तु मिट्टीको पहचाननेसे घड़े-सकोरे आदि सबकी पहचान हो जायगी। कार्यके ज्ञानसे कारणका ज्ञान नहीं होता; किन्तु कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान हो जाता है।

संसारमें जो भी कार्य है उसमें उसका मूल कारण विद्यमान है। इस प्रकार सब कार्यमें जो कारण विद्यमान है उस कारणमें कार्यकी स्थिति नहीं है। अतः कार्य मिथ्या प्रतीति है।

सारी सृष्टि चेतनमें चेतनसे भास रही है, चेतन ही है। प्रकृति शब्दका अर्थ भी चेतन ही है। सोना, लोहा, मिट्टी आदिमें एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होनेका दृष्टान्त है। सब ब्रह्म ही है। चेतनमें भेद नहीं है। जब कार्यका बाध हो जाता है तब कारणके कारणत्वका भी बाध हो जाता है। जब कार्य-कारण दोनोंका बाध हो जाता है तब नित्य शुद्ध अद्वितीय आत्मतत्त्व ही रह जाता है।

वेदान्तमें माना जाता है कि यदि हम किसी देवतासे ज्ञानका वरदान माँगें और देवता ज्ञान देना चाहे तो पहले वह ज्ञानकी योग्यता देगा, षट्सम्पत्ति देकर अन्तःकरण शुद्ध करेगा, मुमुक्षा जाग्रत् करेगा, श्रवणादिका अवसर देगा, तब ब्रह्म-साक्षात्कार होगा। ईश्वर भी ज्ञान देना चाहे तो इसी प्रकार देगा।

काश्यां मरणान्मुक्तिः—यह शास्त्रवाक्य है। इसपर काशीके तत्त्वज्ञोंने ही विचार करके निर्णय किया है कि—'पहले भगवान् शंकर साधन-सम्पत्ति देंगे, मुमुक्षा देंगे और श्रवण करावेंगे, तब मुक्ति होगी।'

वस्तुसिद्धिर्विचारेण न क्वचित् कर्मकोटिभिः।

वस्तुकी सिद्धि तो विचारसे ही होती है। शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक करोड़ों कर्मों या उस कर्त्ताकी प्रयत्नजन्य स्थितिसे ज्ञान नहीं होता।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

जो वस्तु जाननी हो उसके विषयमें पहले यह जाना जाता है कि उसके लक्षण क्या हैं और उसको जाननेके लिए प्रमाण क्या हैं।

ब्रह्मको जानना है तो उसको जाननेके प्रमाण क्या हैं? इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि तो ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण हैं नहीं। वह श्रुत्यैकगम्य है।

विचारतः—'वि' का अर्थ है विपरीत और 'चार' का अर्थ है चलना। संसार जिस ओर चल रहा है उसके उलटे चलना विचार है। संसार अन्तःकरणसे इन्द्रियमें और इन्द्रियसे विषयोंमें आता है तो विचारवान्को विषयसे इन्द्रियमें, इन्द्रियसे, अन्तःकरणमें और अन्तःकरणसे उसके साक्षीमें आना चाहिए।

कोऽहं कथमिदं जातः।

'मैं कौन हूँ ? यह जो संसार दिखायी दे रहा है वह कैसे उत्पन्न हो गया ? यह क्या है ?' इस चिन्तनका नाम विचार है।

जहाँ-जहाँ कार्य है वहाँ-वहाँ कारण उसमें अनुगत है; किन्तु कार्यके निर्माणसे पूर्व कारणमें वह कार्य नहीं था। अतः कार्यकरण-सम्बन्ध केवल काल्पनिक है। कार्य केवल कारणमें कल्पित नाम-रूपमात्र है। वस्तुसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जब वस्तुमें कार्यभाव नहीं है तो उसमें कारणता भी नहीं है। वस्तुतथ्य कार्य-कारणभावसे सर्वथा असंस्पृष्ट है।

जब हम अपने 'मैं' को एक घेरेमें मान लेते हैं और उसकी दृष्टिसे अनन्तको देखते हैं तब कार्य-कारणभाव दिखायी पड़ता है; किन्तु जब हम अपनेको किसी घेरेमें माने बिना देखते हैं तब हम अनन्त परिपूर्ण एक होते हैं। वहाँ कार्य-कारणभाव नहीं होता। यदि हम अपनी परिच्छिन्नता छोड़ दें अर्थात् अपनेको ब्राह्मण, संन्यासी, हिन्दू, मनुष्य, जीव, लोक-लोकान्तरमें जानेवाला आदि न मानते हुए अपने स्वरूपको देखें तो न कुछ कार्य है, न कारण।

जब कार्य-कारण, मैं-मेरा आदिकी कल्पना छूट जायगी और 'मैं' पर किसी दृष्ट वस्तुका आरोप नहीं रहेगा तब जो अपना स्वरूप दिखायी देगा वह कैसा होगा ?

पञ्चदशीमें यह प्रश्न उठाया गया है कि 'तत्त्व कीदृश है ? प्रत्यक्ष है अथवा परोक्ष ?' अर्थात् जैसा हम इन्द्रियोंसे देखते हैं वैसा है या जैसा मनसे सोचते हैं वैसा ?

वह यह घट-सा है, न पट-सा। न ऐसा, न वैसा। न यहाँ, न वहाँ। न अब, न तब। जिसको अब-तब, यहाँ-वहाँ, ऐसा-वैसा ज्ञात हो रहा है, वह इन सबसे विनिर्मुक्त है।

अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम्।
द्रष्टव्यं मृद्घटेनैव दृष्टान्तेन पुनः पुनः॥ 136॥

ततः किमत आह—अथेति। अथानन्तरं कार्यकारणभावनिवृत्तौ यच्छुद्धं मनोवाचामगोचरं वस्तु तद्भवेत्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुति-प्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः। ननु बुद्धेः क्षणिकत्वेनैकदा तथा विचारितेऽपि पुनरन्यथैव भातीत्यत आह-द्रष्टव्यमिति॥ 136॥

वह शुद्ध वस्तु वाणीसे अगोचर है, अतः मिट्टी-घड़ेके दृष्टान्तसे ही बार-बार उसका निरूपण किया जाता है॥ 136॥

दृष्टान्तेन पुनः पुनः—बार-बार तत्त्वका विचार करना चाहिए और दृष्टान्तके द्वारा ही विचार किया जा सकता है। मिट्टीमें कार्यत्व केवल घटाकार देखकर आरोपित किया गया है। आकार ही मिट्टीमें कार्य है। घड़ेका आकार द्रव्यमें, मिट्टीमें कल्पित आकृति है। घड़ेका जितना पेट है उतना स्थान है। घड़ेकी पूर्वावस्था काल है। मिट्टीमें न घटदेश है, न घटकाल और न घटाकार। इस दृष्टान्तसे ब्रह्मको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार दृष्टान्तके द्वारा बार-बार विचार करनेसे क्या लाभ है, यह बतलाते हैं।

अनेनैव प्रकारेण वृत्तिर्ब्रह्मात्मिका भवेत्।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम्॥ 137॥

न केवलमयं विचारो ज्ञानसाधनमेवापि तु ध्यानसाधनमपीत्याह-अनेनेति। अनेनैव प्रकारेण शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानम् उदेति, ततः परं ब्रह्मात्मिका वृत्तिर्भवेदिति योजना। पदानामर्थस्तु स्फुट एव॥ 137॥

इसी प्रकार वृत्ति ब्रह्मात्मिका हो जाती है। इसके पश्चात् शुद्ध अन्तःकरणवाले जिज्ञासुकी तत्त्वज्ञानमयी वृत्ति हो जाती है॥ 137॥

इस प्रकार विचारके द्वारा कार्य-कारणभावका परिच्छेद त्याग देना चाहिए क्योंकि उत्तरावस्था और पूर्वावस्था दोनोंमें वही तत्त्व है। घटके भीतर भी मिट्टी और बाहर भी मिट्टी। घटाकारके रहनेपर भी मिट्टी रहती है, न रहनेपर भी मिट्टी ही है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड घट तथा उनकी बीजात्मिका अवस्था, उन ब्रह्माण्डोंका बीजरूपमें बनना, यह कार्य-कारणकी कल्पनासे विनिर्मुक्त, देशकालकी कल्पनासे विनिर्मुक्त, किसी भी दृष्ट आरोपसे विनिर्मुक्त जो वस्तुस्थिति है, वह ब्रह्म है। वही अपना आत्मा है।

उदेति शुद्धचित्तानाम्—यह बात तो तब आती है जब चित्त शुद्ध हो। चित्तके संस्कार-विकारोंमें संस्कार भी एक प्रकारके विकार ही हैं। सिरमें चाहे जितना उत्तम तेल, चाहे जितना सुगन्धित पाउडर लगावें, धोना पड़ता ही है, अन्यथा वह सब मैल बन जायेगा। ऐसे ही अपने स्वरूपमें दोषापनयन,

गुणाधान अथवा हीनांगपूर्तिरूप संस्कार इसीलिए किये जाते हैं कि हम अपनेको दृश्य वस्तुसे एक कर देते हैं।

मनसे काम-क्रोधादि दूर करना दोषापनयन है तथा सद्‌गुणोंका मनमें ले आना गुणाधान है।

एक व्यक्ति बाजार जा रहा था। मार्गमें एक अपंग, कोढ़ी व्यक्ति कराह रहा था। उसे देखकर दया आ गयी। यह दया गुण था। उसे उठाकर मोटरमें रखा और अस्पताल ले गया। वहाँ भर्ती नहीं हो सका तो उसे घर ले आया। अपने पलंगपर उसे सुला दिया और घरमें सबको उसकी सेवामें लगा दिया। यहाँ तक तो सब सद्‌गुण चला।

थोड़ी देरमें मनमें विचार आया कि 'कोई धनी भी ऐसा नहीं कर सकता। मेरे सामान दूसरा कौन है जो इस प्रकार कोढ़ी, दरिद्र, असहायपर कृपा करे।'

लीजिये, वह दयावृत्ति न जाने कहाँ गयी, अभिमान आ गया।

कुछ देर और हुई। बीमार तो बीमार ही ठहरा। उसके घावोंसे निकलकर पीव-खून गद्देपर लग गया। उसने कमरेमें थूक दिया। अब तो महोदय बिगड़े—'ये लोग ऐसे हैं कि इनकी सहायता करो तो उसका कोई विचार नहीं रखते। इसे हटाओ यहाँसे। यह तो सड़कपर ही रहने योग्य है।'

इस प्रकार घृणा, ग्लानि, क्रोध और तिरस्कार आ गये। उस रोगीको लाकर जो सेवा की, इससे तो अच्छा था कि उसे न लाते। यह अपमान तो उसका न होता। दया सात्त्विक गुण आया था। अभिमान राजस और घृणा तामस हो गयी। संसारके सद्‌गुण इसी प्रकार दुर्गुणमें बदल जाते हैं। यहाँ हवन करते हाथ जलता है।

तत्त्वका विचार करनेवाले महात्मा जानते हैं कि यह ब्रह्माण्ड कितनी ही बार बिगड़-बिगड़कर फिर बनता रहता है। जैसे झोपड़ीमें आग लगती है वैसे ही अनेक बार ब्रह्माण्ड अग्निमें भस्म हो जाते हैं। प्रतिक्षण लाख-लाख ब्रह्माण्ड भस्म हो रहे हैं और लाख-लाख नवीन ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो रहे हैं। लाखों ब्रह्माण्ड बने हैं, चल रहे हैं। ईश्वरकी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र शक्तियाँ अविराम अपना-अपना कार्य कर रही हैं।

क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्यात् दोषोऽपि विधिना गुणः।—भागवत

कभी गुण भी दोष बन जाते हैं और कभी दोष भी गुण हो जाते हैं। संसारमें गुण-दोषका कोई स्थिर नियम नहीं है। अतः गुण और दोष दोनों दृष्टिके दोष हैं। शुद्धचित्त होनेका अर्थ है संसारके गुण-दोषोंको धारण न करना। समाधि-विक्षेप, राग-द्वेष, सुख-दुःख, अच्छाई-बुराई, किसीको भी अपनेमें धारण न करना।

जब ऐसा शुद्ध चित्त हो जायगा तभी वृत्तिज्ञानका उदय होगा, तभी वृत्तिव्याप्ति होगी। वृत्तिव्याप्तिका अर्थ है किसी वस्तुको ठीक-ठीक समझ लेना। फलव्याप्तिका अर्थ है 'मैंने समझ लिया' ऐसा अभिमान होना। वेदान्तमें फलव्याप्ति नहीं होती।

ब्रह्मके विषयमें जो अज्ञान था, वह मिट गया। पहले संसार सत् हो रहा था और ब्रह्म असत्। ब्रह्मको सत् कह दिया तो संसार असत् हो गया किन्तु ब्रह्म संसारके समान सत् नहीं है। अतः उसकी सत्ता, चित्ता एवं आनन्दरूपता भी लौकिक दृष्टिसे आरोपित है, उसकी अद्वितीयता द्वैत भावनाकी दृष्टिसे आरोपित है। वस्तुतः परमब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द अद्वय पदका भी वाच्यार्थ नहीं है। इसका लक्ष्यार्थ है। ये शब्द भी उसका स्पर्श नहीं करते। लक्ष्यता भी उसमें व्यावहारिक दृष्टिसे कल्पित ही है।

वृत्तिज्ञान प्राग्भावका प्रतियोगी है अर्थात् जिस वस्तुका ज्ञान पहले न हो और अब उत्पन्न हो। घटज्ञानका उदय हुआ और लय हुआ, यह घटविषयक हुआ। घटज्ञान और पटज्ञान पृथक्-पृथक् है। संसारके वृत्तिज्ञानमें चार बातें होती हैं किन्तु ब्रह्मज्ञानमें तीन ही बातें होती हैं।

मनुष्यके अन्तःकरणमें तत्त्वका जैसा ज्ञान होना चाहिए, वैसा ज्ञान नहीं है। यह ज्ञानका प्रागभाव हुआ।

'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्योंके अर्थका विचार करनेसे उस ज्ञानका उदय हुआ। यह आत्मरूप आश्रयमें ब्रह्मरूप विषयका ज्ञान कुछ क्षणोंके लिए लिए है। यह ज्ञान नष्ट हो गया। इसे वृत्ति व्याप्ति कहते हैं।

सांसारिक वस्तुओंके ज्ञानके समान इसका अनेक बार उदय-विलय नहीं होता। यह तो नष्ट होते समय अपने साथ अन्धकार, अज्ञानको ले जाता है। अतः ब्रह्मज्ञानमें आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जबतक ज्ञान न हो तबतक दुहरानेकी आवश्यकता रहती है।

● संगति

अब विचारकी पद्धतिका निरूपण करते हैं।

कारणं व्यतिरेकेण पुमानादौ विलोकयेत्।
अन्वयेन पुनस्तद्धि कार्ये नित्यं प्रपश्यति॥ 138॥

तमेव विचारं विशदयति द्वाभ्याम्-कारणमिति। आदौ प्रथमं कारणं व्यतिरेकेण कार्यविरहेण विचारयेत्। पुनस्तत्कारणमन्वयेनानुवृत्त्या कार्येऽपि नित्यं प्रपश्यतीति॥ 138॥

पुरुष पहले व्यतिरेकके द्वारा कारणको देखे और फिर अन्वयसे वही कार्यरूपमें है, यह नित्य देखता है॥ 138॥

जिज्ञासुको चाहिए कि कार्यसे कारण विलक्षण है, इसका पहले ठीक-ठीक दर्शन करे, इसका विचार करे।

केवल सीप देखें तो फेंक दें और केवल मोती देखें तो रख लें। यह तो राग या द्वेष हुआ। देखना तो यह है कि सीप और मोती दोनों जलसे बने हैं। व्यवहारमें सीप कुंकुम रखनेके काम आती है और मोती आभूषणके उपयोगमें। दोनोंको पानी देखना तत्त्वज्ञान है।

पहले कार्यदृष्टि छोड़कर कार्यसे व्यतिरेकदृष्टि द्वारा कारण देखें। फिर देखें कि जो कारण है वही कार्य बना है। इस प्रकार विचार करते-करते यह समझमें आवेगा कि कार्यमें कारण रहता है, कारणमें कार्य नहीं रहता और जब कार्य ही नहीं रहता तो उसमें कारणत्व कहाँसे होगा। बस, केवल देखनेवाला शेष रह जायगा।

यह वस्तुतथ्यमें कारणत्वका अध्यारोप और अपवाद हुआ। व्यवहारमें कार्य उत्पन्न हुआ और कार्य नष्ट हो गया। जो शेष रहा वह अपना आपा है। अपना आपा नहीं है, यह तो कोई कह नहीं सकता। 'मैं नहीं हूँ' यह सोचना तो ऐसा है जैसे कोई यह कहे कि मेरे मुखमें जीभ नहीं है।

'मैं' के विषयमें जो यह भ्रान्त धारणा है कि 'मैं देह हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं बद्ध हूँ, मैं आने-जानेवाले हूँ' इन्हें मिटा देना चाहिए।

● संगति

सांसारिक लोग तो अनावश्यक कारणकी कल्पना करते हैं। कोई सामान्य व्यवहार भी करता है तो सोचते हैं—'इसने अमुक स्वार्थसे, द्वेषसे या

अमुक आसक्ति ऐसा किया होगा।' इस प्रकार कर्ममें राग-द्वेषमूलक हेतुकी जो कल्पना है वह कार्यकारण-दृष्टि नहीं है। कार्यमें उसके उपादानभूत कारणपर दृष्टि डालनी चाहिए।

कार्ये हि कारणं पश्येत्पश्चात्कार्यं विसर्जयेत्।
कारणत्वं ततो गच्छेदवशिष्टं भवेन्मुनिः॥ 139॥

अथवैवं विचारयेदित्याह-कार्येति। आदौ कार्ये कारणमेव विचारयेत् पश्चात्तकार्यं विसर्जयेत् नानुसन्दध्यात्। एवं कार्यवर्जने सति कारणत्वं स्वत एव गच्छेत्। एवं कार्यकारणवर्जनेऽवशिष्टं सच्चिन्मात्रं मुनिर्मननशीलः स्वयमेव भवेदिति॥ 139॥

पहले कार्यमें कारणको देखे और फिर कार्यको छोड़ दे। इस प्रकार कारणके भी कारणको ढूँढ़ते हुए जो अवशिष्ट-सबका मूल कारण अपना स्वरूप है उसे प्राप्त कर मुनि हो जाता है॥ 139॥

कोई कार्य अच्छे भावसे किया गया या बुरे भावसे, यह पता नहीं लगता। अपने मनमें जिसके प्रति सद्भाव है उसका किया सब काम अच्छा लगता है और जिसके प्रति दुर्भाव है उसका किया सब काम बुरा लगता है। मनुष्य अपने मनकी अच्छाई-बुराई कर्मपर आरोपित कर देता है।

संन्यासी होनेके पश्चात् मैं उत्तरप्रदेशके बलिया नगर गया। मेरे एक मित्र दण्डी स्वामी मेरे साथ थे। वहाँ एक सम्मलेन हो रहा था। हमें न उस सम्मेलनकी जानकारी थी, न उसका निमन्त्रण मिला था, किन्तु वहाँ अपने आप चले गये और कहनेपर व्याख्यान भी दे दिया। दूसरे दिन हम अपने आप नहीं गये। हमारे पास चार-पाँच सौ लोग आ गये। प्रश्नोत्तर चलने लगा। सत्संग प्रारम्भ हो गया। सम्मेलनके आयोजकको लगा कि इन्होंने हमारा सम्मेलन बिगाड़नेके लिए ऐसा किया है। अतः वे मुझपर बहुत अप्रसन्न हुए।

एक सज्जन जो मेरे प्रेमी थे, आकर बोले—'मेरा वहाँ जाना बहुत आवश्यक है। आप तो दो दिनमें चले जायँगे किन्तु मेरी उनकी शत्रुता हो जायगी।'

मैंने कहा—'चलो, हम भी चलते हैं।'

मेरे साथ जो वहाँ चार-पाँच सौ व्यक्ति थे, वे भी वहाँ पहुँच गये।

सम्मेलनके आयोजक महोदयने सभामें ही मुझे कहा—'तुमने मेरा सम्मेलन चौपट करनेके लिए ऐसा किया।'

तात्पर्य यह है कि कर्ममें कार्य-कारणभाव उसके उपादानमें नहीं होता। अपने मनमें आनेवाले सद्भाव या दुर्भाव उसके निमित्त होते हैं। ये सद्भाव-दुर्भाव कार्यमें अनुगत नहीं होते, उपादान करण कार्यमें अनुगत होता है। घटमें मिट्टी उपादानकारण है और कुम्हार, चाक, डंडा, थापी, सूत आदि निमित्त कारण है। सोनेके आभूषणमें स्वर्ण उपादान कारण है और स्वर्णकार, प्याली, अग्नि, सुहागा, साँचा आदि निमित्त कारण हैं।

संसारी पुरुष जो कारण ढूँढ़ते हैं वह तो लोगोंकी कल्पना होती है। वेदान्तमें उपादान-उपादेयका विचार होता है। जैसे उष्णता अग्नि ही है। बिन्दु जल ही है। घड़ा मिट्टी ही है। इसी प्रकार संसारकी सब वस्तुओंका मूल-स्वरूप ब्रह्म ही है। सब कार्योंमें वही उपादान कारण परिपूर्ण है। यह समझकर कार्यका कार्यत्व छोड़ दें तो कारणका कारणत्व भी नहीं रह जायगा। तब अपना आपा ही रह जायेगा। यह दिखायी पड़नेवाली सृष्टि वस्तुतः है नहीं, यह मात्र अपनी कल्पना है।

बारह वर्षकी अवस्थामें मैं काशी पढ़ने आया। सत्रह वर्षकी आयु तक पढ़नेका सम्बन्ध रहा। पीछे ऐसे ही आना-जाना बना रहा। मेरी माताजीको एक संन्यासिनी मिली। वे वृद्धा थीं, गौरवपूर्ण थीं, उनके केश श्वेत हो चुके थे। उन्होंने माताजीको एक मन्त्र बतलाया। उस मन्त्रका अर्थ है—'ईश्वरका भी नाम-रूप हटा दो और अपना भी नाम-रूप हटा दो तो निर्विशेष सन्मात्र है।'

बिना विशेषकी कल्पना किये सत् दो नहीं हो सकता। यदि सत् दो होंगे तो देशमें कोई छोटा होगा, कोई बड़ा अथवा कालमें किसकी आयु थोड़ी किसीकी अधिक होगी, अथवा उनमें नाम-रूप आदिकी कोई विशेषता होगी। दो सत् है तो उनमें एकसे दूसरेको पृथक् करनेवाली विशेषताका होना आवश्यक है।

जैसे सत् निर्विशेष है, चिन्मात्र भी निर्विशेष ही है। इसमें भी जीव-ईश्वरभेद बड़े-छोटेके भेदसे कल्पित होता है और नाम-रूप, छोटे-बड़ेका भेद बिना देश-कालके सम्भव नहीं है। जब नाम-रूप ही नहीं है तो सन्मात्र और

चिन्मात्रमें भेद भी नहीं है। वे एक ही हैं। इसमें 'मैं-तुम' आदि भेद भी नहीं है।

उन संन्यासिनीने माताजी को वह मन्त्र जपनेके लिए कह दिया। माताजी दो-तीन महीने जप करती रहीं। पीछे बतलाने लगीं कि जप-ध्यानमें बैठनेपर उन्हें कैसे अनुभव होते हैं। उन्हें दिखायी देता था कि 'गंगाजी प्रवाहित हो रही हैं। चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ है। बड़े-बड़े सन्त उन हिमशिखरोंपर ऊपर चढ़ते जा रहे हैं।'

कभी-कभी हम लोग चिढ़ा देते—'माताजी भजन करने बैठती हैं तो नेत्र बन्द करके सिनेमा देखती हैं।'

दो-तीन वर्षमें माताजीको यह सब दिखायी पड़ना बन्द हो गया। वस्तुत: हुआ यह था कि पहले जाग्रत्-अवस्था छूट जाती थी, तब ध्यानके समय स्वप्नावस्थाका प्रकाश हो जाता था।

एकदिन मैं भोजन करने बैठा। बातें हो रही थीं। उसमें मैंने वह मन्त्र बोल दिया जिसका जप माताजी करती थीं। वैसे पता नहीं था कि वे क्या जप करती हैं। माताजी बोलीं—'यह मन्त्र तुमको कैसे ज्ञात हुआ?'

वे न बोलतीं तो मुझे पता नहीं लगता कि वे इसी मन्त्रका जप करती हैं। उनके बोलनेसे पता लग गया। मैंने कह दिया—'मुझे जन्मसे ज्ञात है।'

उन्होंने कहा--'मुझे मेरे गुरुने यही बतलाया है। इसीमें तो मुझे यह समस्त सृष्टि दिखायी देने लगी है।'

परमार्थकी प्राप्तिके लिए कुछ करना आवश्यक नहीं है। हमने जो जीवमें अनावश्यक काम कर लिये हैं, मनमें जो संसार भर लिया है, उन्हें निकालनेके लिए ही कुछ करनेकी बात कही जाती है। वह सब निकाल दें तो हम स्वयं इतने मधुर, सुन्दर, आनन्द, प्रकाशमय, अविनाशी, अखण्ड, परिपूर्ण हैं कि उसमें कुछ करनेकी बात नहीं है।



ब्रह्मभावनासे ब्रह्मत्व

● **संगति**

मैंने रमण महर्षिसे पूछा—'ध्यान किसका करना चाहिए?'

वे बोले—'पूछनेवाला कौन है?'

मैं—'पूछनेवाला जिज्ञासु है।'

महर्षि—'जिज्ञासु वह है जिसको जाननेकी इच्छा है। यह इच्छा किसको है, वह तुम कौन हो, यह ध्यान करो।'

देश-काल-वस्तुका सारा विस्तार द्रष्टाकी दृष्टिमात्र ही है। जब देश-काल-वस्तु दृष्टि ही हैं, तब द्रष्टा देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न कैसे हो सकता है। अतः प्रपञ्चको ब्रह्मरूपमें ही देखना चाहिए यह बात दो श्लोकोंमें कह रहे हैं। ●

भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मना।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत्॥ 140॥

ननु विचारजन्यापरोक्षज्ञानेन मुनेर्ब्रह्मत्वं भवतु नाम, परन्तु परोक्षज्ञानिः कथं भवेदित्याशङ्क्य तीव्रभावनया परोक्षज्ञानिनोऽपि ब्रह्मत्वं भवेदिति सदृष्टान्तमाह—भावितमिति। अयं भावः—यद्यपि परोक्षज्ञानेन प्रमातृगतावरणनिवृतौ सत्यामपि प्रमेयगतमावरणं न निवर्त्तते तथापि निश्चयात्मना निश्चययुक्तबुद्धिमता पुरुषेण यद्वस्तु सच्चिदानन्दं ब्रह्म तीव्रवेगेनाऽहर्निशं ब्रह्माकारवृत्त्या भावितं चिन्तितं तद्वस्तु

ज्ञेयमपरोक्षेण ज्ञातुं योग्यं ब्रह्म शीघ्रमचिरेण पुमान् भवेत्। प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावनया पुरुषो ब्रह्मरूपो भवतीत्यर्थः। हीति विद्वत्प्रसिद्धौ। तत्र सर्वलोकप्रसिद्धं दृष्टान्त-माह—भ्रमरकीटवदिति। भ्रमरेण कुतश्चिदानीय जीवन्नेव रत्नकुट्यां प्रवेशितो यः कीटः स यथा भयात् भ्रमरध्यानेन भ्रमर एव भवति तद्वदिति।।140।।

निश्चयपूर्वक तीव्र वेगसे जिस वस्तुकी भावना जागी है, पुरुष वही शीघ्र हो जाता है। यह बात 'कीटभृङ्गन्याय'से समझनी चाहिए।। 40।।

ज्ञेयरूपेण यन्निश्चितम्—पहले श्रवण-मनन तथा विचारके द्वारा यह निश्चय कर ले कि वस्तुका स्वरूप क्या है, फिर तीव्र वेगसे साधना करे। यह साधना राजयोग है। उस ध्येयका ध्यान करते-करते साधक शीघ्र वही हो जायेगा। तुम्हें दिखायी देगा कि हम वही हैं। तदाकार ध्यानकी उपाधि अपनेको देखनेपर समझमें आवेगा कि ध्याता और ध्येयमें भेद नहीं है। ये तो ध्यानकी उपाधिसे ही भासता है।



प्रपञ्च भी ब्रह्मरूप

● **संगति**

केवल ध्याता ही ध्येयरूप हो जाय, ऐसी बात नहीं है। सम्पूर्ण दृश्यको चिदात्मक ब्रह्मरूप ही देखना है। ●

अदृश्यं भावरूपं च सर्वमेव चिदात्मकम्।
सावधानतया नित्यं स्वात्मानं भावयेद्बुधः॥ 141॥

यदि पूर्वश्लोकात्तदृष्टान्ते भावनाबलादेवान्यस्यान्यत्वं भवेत् तर्हि ब्रह्मविवर्तत्वेन ब्रह्मरूपस्य विश्वस्य ब्रह्मभावनया तद्रूपता भवेदिति किमु वक्तव्यमित्याशयेन सर्वात्मभावनामाह-अदृश्यमिति। अदृश्यं परोक्षं भावरूपं प्रत्यक्षं च सर्वं विश्वम्। यद्वा अदृश्यं द्रष्टृरूपम्, भावरूपं दृश्यम्। चकाराद्दर्शनम्। एतत्सर्वं त्रिपुट्यात्मकं जगद्भ्रान्त्याऽऽत्मभिन्नत्वेन भासमानपि चिदात्मकं निर्विशेषस्फुरण-मात्रस्वरूपं स्वात्मानमेव बुधः अद्वैतज्ञाननिष्ठः सावधानतया स्थिरवृत्त्या नित्यं भावयेत्, सकलमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वदा पश्येतिदत्यर्थः ॥141॥

बुद्धिमान पुरुष सावधान होकर सम्पूर्ण दृश्यको चिदात्मक अदृश्य आत्मस्वरूप भावना करे॥ 141॥

अदृश्य—जो कुछ दृश्य रूपमें दिखायी पड़ रहा है, यह अदृश्यको ही दिखलायी पड़ रहा है और जो कुछ दिखायी दे रहा है; सब भावात्मक है। इसमें जन्म-मृत्यु, आना-जाना, शत्रु-मित्र सब भावात्मक हैं। भाव चिदात्मक है। जैसे यह सृष्टि जाग्रत्-सृष्टि न हो, स्वप्न-सृष्टि हो। स्वप्न भावात्मक होता है। वह भाव द्रष्टाकी दृष्टि है।

यह चिदात्मा स्वप्नमें दिखायी पड़नेवाले देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। पहले इस बातको समझकर तब अज्ञान-निवृत्ति हो जानेपर भी अभ्यासके कारण जो विपर्यास रहता है, अपनेको शरीर समझनेकी नासमझी जो बार-बार आती है, उसे दूर करनेके लिए निदिध्यासन करता रहे।

यदि अपनेको पशु समझनेका पागलपन किसीको है तो उसे बार-बार समझना आवश्यक है कि 'तुम मनुष्य हो।' यह पागलपन न हो तो 'तुम मनुष्य हो' यह समझाना अनावश्यक है।

अहंविचारो वपुरात्मभावे साहाय्यकारी परमार्जनस्य।
बुद्धेऽपि तत्त्वे स पुनर्निरस्तो यथा नरत्वप्रमितिर्नरस्य॥

यदि देहात्मभाव हो तो उसके परिमार्जनके लिए 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ' इसका विचार करनेकी आवश्यकता है। यह विचार परमात्म-साक्षात्कारमें सहायक है। यदि वस्तुका बोध हो गया, उसमें संशय-विपर्यय नहीं है, प्रमाण-प्रमेयमें सन्देह नहीं है तो विचार करनेकी आवश्यकता भी नहीं है। जो अपनेको जानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ' उसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस स्मरणकी आवृत्ति करना आवश्यक नहीं है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज रामघाटमें गंगाजीके किनारे ऊँचे कगारपर भजन करने बैठे। मनमें बार-बार विचार आने लगा—'घर छोड़ा, परिवार छोड़ा, प्रदेश छोड़ा, सिद्धियाँ छोड़ दीं; किन्तु स्वरूपका साक्षात्कार हो नहीं रहा है, यह शरीर निकम्मा है। अब इस शरीरको बनाये रखकर क्या होगा।'

बार-बार गंगाजीमें कूद जानेकी बात मनमें आवे। फिर एक शिव-मन्दिरमें बैठ गये। शंकरजीसे प्रार्थना करने लगे, किन्तु भगवान् शिव कुछ नहीं बोले। शंकरजीपर बड़ा क्रोध आया। शिवलिंगपर आघात कि या। भगवान् आशुतोष प्रकट हो गये और बोले—

नेति नैतीति वाक्येन शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव॥

'नेति नेति' इस वाक्यसे निषेध करते जाओ। अन्तमें जो निषेध करनेवाला है वह शेष रह जायगा। उसका निषेध करना अशक्य है। वही परमपद है। 'वहाँ मैं हूँ' यह जानकर सुखी हो जाओ।

मैं एक बार रामघाट गया। गर्मीके दिन थे। धूल भरी लू चल रही थी। पुजारीके चले जानेपर ठंढे स्थानकी दृष्टिसे मैं मन्दिरमें चला गया और भीतरसे द्वार बन्द कर लिये। भगवान् शिवने स्वतः प्रकट होकर दर्शन दिया।

साधक स्थूल शरीरकी अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी स्थितिको सहन कर सकता है; किन्तु सूक्ष्म शरीर—अन्तःकरणकी किसी भी स्थितिको, जो साधनके प्रतिकूल हो, साधक नहीं सहन कर सकता। सूक्ष्म शरीरकी किसी भी स्थितिको केवल तत्त्वज्ञ ही सह सकता है; क्योंकि सूक्ष्म शरीरकी अध्यस्तता या मिथ्यात्वको समझ लेना साधकके वशकी बात नहीं है। अतः समझदारको सावधान होकर विचार करना चाहिए—

एतत्सर्वं दृश्यं न भवति अदृश्यमेव।

यह सब दृश्य है नहीं, भावरूप होनेसे यह अदृश्य ही है। जाग्रत् अवस्थामें दृश्यपदार्थ सब-के-सब दृश्यभावके अधिष्ठानमें ही भास रहे हैं।

भावरूपं च स्वप्नवत्।

ये स्वप्नके समान भावरूप हैं। इनका रूप केवल कल्पना है। वस्तुतः यह सब चिदात्मक है।

● **संगति**

अतएव—

दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत्।
विद्वान्नित्यसुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया॥ 142॥

एतदेव विवृणोति—दृश्यमिति। दृश्यं घटादिकमदृश्यतामधिष्ठानचिद्रूपतां नीत्वा। हीति विद्वत्प्रसिद्धौ। ब्रह्माकारेण कल्पितस्य परिच्छन्नस्य नामरूपादेर्निवृत्ति-पूर्वकं बृहदाकारेण परिच्छिन्नरूपेण चिन्तयेदित्यर्थः। ततः किमत आह—विद्वानिति। चिद्रसपूर्णया चिदेव रसश्चिद्रसश्चिदानन्दस्तेन पूर्णया दिया नित्यसुखे अविनाशिसुखे विद्वांस्तिष्ठेदिति॥ 142॥

दृश्य प्रपञ्चको अदृश्य समझकर उसे ब्रह्मरूप ही चिन्तन करे। इस प्रकार विद्वान् चिद्रसपूर्ण बुद्धिसे नित्य सुखमें स्थित रहे॥ 143॥

दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा—दृश्यसे अदृश्यमें आओ। फिर दृश्य-अदृश्य दोनोंको भावरूप कर दो। भावरूपको चिदात्मक कर दो। अब तुम्हारी आत्माके अतिरिक्त अन्य वस्तु नहीं है।

निरस्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥

देशमें न बोलते हैं, न चलते हैं, न सुनते हैं। सङ्कल्प तो है ही नहीं। न ही सङ्कल्पका कोई विषय है। जब अर्थ नहीं है तो सङ्कल्प तो स्वप्नवद् भासता है। समस्त सृष्टिके दिखायी देनेपर भी यह शिलावत् ठोस परिपूर्ण ब्रह्ममें ही प्रतिभासरूप दिखायी दे रही है। इसमें न जाग्रत् है, न स्वप्न, न सुषुप्ति है, न समाधि, सब परमात्मा ही है। यह परा स्थिति है। इसे जान लो तो बुद्धि चिद्रससे पूर्ण हो गयी— चैतन्य आनन्दमें डूब गयी। तत्त्वज्ञकी नित्य शुद्ध सत्तामें यह अवस्थित हो गयी।



उपसंहार

●संगति

अब प्रसङ्गको समाप्त कर रहे हैं—

एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः॥ 143॥

इदानीमुक्तं स्वाभिमतयोगमुपसंहरति—एभिरिति। किञ्चित्स्वल्पं पक्वाः दग्धाः कषाया रागादयो येषां तेषां हठयोगेन पातञ्जलोक्तेन प्रसिद्धेनाष्टाङ्गयोगेन संयुतोऽयं वेदान्तोक्तो योग इति। शेषं स्पष्टम्॥ 143॥

इन अङ्गोंसे युक्त यह राजयोग कहा गया है। किञ्चित् मलका परिपाक जिनका शेष है उनके लिए हठयोग संयुक्त यह राजयोग करणीय है॥ 143॥

यह वर्णन तो किया गया है राजयोगका; किन्तु यदि अन्तःकरणमें राग-द्वेष हों, देहासक्ति हो तो अपने आपपर—विचारपर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए अपितु थोड़ा साधन-भजन हठपूर्वक भी करना चाहिए।



राजयोगके अधिकारी

● संगति

जब किञ्चित् पक्वकषाय लोगोंको यह राजयोग हठयोग-संयुत करना चाहिए, तब इसके शुद्ध अधिकारी कौन हैं? ●

परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः।
गुरुदैवभक्तानां सर्वषां सुलभो जवात्॥ 144॥

अयं राजयोग एव केषां योग्य इत्याकाङ्क्षायां सर्वग्रन्थार्थमुपसंहरन्नाह—परिपक्वमिति। येषां मनः परिपक्वम्, रागादिमलरहितमिति यावत्। तेषामित्यध्याहारः। तेषां जितारिषड्वर्गाणां पुरुषधुरन्धराणां केवलः पातञ्जलाभिमतयोग-निरपेक्षः अयं वेदान्ताभिहितो योगः सिद्धिदः प्रत्यगभिन्नब्रह्मापरोक्षज्ञानद्वारा स्वस्वरूपावस्थान-लक्षणमुक्तिप्रदः। चकारोऽवधारणे। नान्येषामपरिपक्वमनसामित्यर्थः। ननु परिपक्वमनस्त्वमतिदुर्लभमित्याकाङ्क्षायामस्यापि साधनत्वादतोऽप्यन्तरङ्गसाधन-माह—गुरुदैवतभक्तानामिति। जवादतिशीघ्रमित्यर्थः। सर्वेषामिति वर्णाश्रमादि-निरपेक्षं मनुष्यमात्रं ग्रहीतव्यम्, अत एव गुरुदैवतभक्तेरन्तरङ्गत्वम्। तथाच श्रुतिः—'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' इति। स्मृतयश्च—'तद्विद्धि प्रणिपातेन'। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' इत्याद्याः। अयं भावः—परिपक्वमनसामपि दुःसाध्यानि साधनानि गुरुदैवतभक्तानां सुसाध्यानि भवन्तीति हेतोर्गुरुदैवतभजनमेव स्वधर्माविरोधेन सर्वैः कार्यमिति परमं मङ्गलम्॥ 144॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीविद्यारण्यमुनिविरचि अनुभूतिदीपिका समाप्तिमगमत्॥

जिनका मन परिपक्क हो गया है उनको केवल यही सिद्धि देनेवाला है और गुरु तथा इष्टदेवके जो भक्त हैं उन सबके लिए यह सुलभ है तथा शीघ्र सफलता देनेवाला है ॥ 144 ॥

किसीके मनमें कषायका परिपाक हो गया है तो वह इस राज-योगका अधिकारी है।

जिनके मनका स्वाद शीघ्र बिगड़ता है, उसका मन पक्का नहीं है। मनमें असङ्गता, त्याग एवं सहनशीलता होनी चाहिए। आमका फल कच्चा होता है तो खट्टा होता है। पक जाता है तो मीठा हो जाता है। मन स्त्री-पुत्र-परिवार तथा दूसरोंसे खट्टा रहे तो समझना चाहिए कि अभी कच्चा है। सबके प्रति, यहाँतक कि शत्रुके प्रति भी मधुर-ही-मधुर रहे, तो पक गया।

सर्वत्र शीतल दृष्टि जीवन्मुक्तकी होती है। मन यदि परिपक्क हो गया है तो हठयोग अनावश्यक है। यह राजयोग-साधना ही उसे सिद्धावस्था दे देती है।

राजयोग-साधना सिद्ध हो, इसका उपाय क्या? जो मार्ग जानता है उससे पूछकर चलेंगे तो भटकेंगे नहीं। सीधे पहुँचेंगे। जो जिस विज्ञानको जानता है उससे सीखकर करें तो अल्प समय एवं अल्प श्रममें सफल होंगे। स्वतन्त्र खोज करेंगे तो श्रम तथा समय बहुत लगेगा। अतः परमार्थ प्राप्त करना है तो उसे जिन्होंने प्राप्त किया है उन महापुरुषोंसे सीखना चाहिए।

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्

श्रुति कहती है—जिसकी इष्टदेवमें पराभक्ति है और जैसी पराभक्ति इष्टदेवमें है, वैसी ही गुरुदेवमें है, उसीको महात्मा लोग यह श्रुति-प्रतिपादित तत्त्वका प्रकाश प्रदान करते हैं।

इस श्रुतिके आधारपर ही यह श्लोक है।

जब कोई करोड़पति व्यक्ति सम्मानित या सुखी दिखायी देता है तो दूसरोंके मनमें भी धनी होनेकी इच्छा होती है। इसी प्रकार परमात्मसाक्षात्कार करके जो सुखी, शान्त, सच्चे अनुभवी हैं, उनपर यदि आस्था-श्रद्धा हो, उनपर

विश्वास हो तो हम भी उसी मार्गसे वहाँतक पहुँचनेका प्रयत्न करेंगे। यदि उनमें आस्था-श्रद्धा न हो तो जहाँ है, वहीं करेंगे।

'दैवतभक्त' का अर्थ है ईश्वर-भक्त। कई लोग इतनेमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि—'मैं द्रष्टा, चेतन, साक्षी हूँ।' किन्तु इसमें परिच्छिन्नताका भ्रम मिटा नहीं है प्रत्येक हृदयमें द्रष्टा पृथक्-पृथक् है। इस प्रकार प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र है।

ईश्वरपर दृष्टि दें तो ईश्वर वह है जो सर्वकालमें रहता हुआ कालातीत है, सर्वदेशमें रहता हुआ देशातीत है, सब वस्तुओंमें रहता हुआ वस्त्वातीत है। कार्य-कारणातीत उस अनन्तपर दृष्टि हो—उस अनन्तसे अपने आत्माके एक होनेका ज्ञान हो तो वह द्वैतकी सत्ता नहीं रहने देता।

यह अपरोक्षतत्त्वकी अनुभूति है।

अपरोक्षस्य ब्रह्मणः अनुभूतिः अपरोक्षस्यात्मनः अनुभूतिः अपरोक्षं यथा स्यात् तथानुभूतिः अपरोक्षानुभूतिः।

यह अपरोक्ष ब्रह्मकी अनुभूति है। अपरोक्ष आत्माकी अनुभूति है। जैसे अपरोक्ष हो वैसी अनुभूति है, इसलिए इसका नाम अपरोक्षानुभूति है।

॥ अपरोक्षानुभूति समाप्त ॥



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त

मुण्डक सुधा	200.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	150.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	120.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	120.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	120.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	35.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	90.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00
गम्भीर चिन्तन	200.00
निगम चिन्तन	100.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अ.-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्याराजगुह्ययोग (गी. अ.-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अध्याय-13)	250.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गी. अ.-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योग: कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं व्रज	45.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेव: सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	650.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00

श्रीकृष्णलीला रहस्य	80.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	100.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00
उद्धवगीत	25.00
कपिलोपदेश	80.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	180.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	45.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	60.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
भागवत विचार दोहन	90.00
भिक्षुगीत	35.00
मैं ही मैं (चतु:श्लोकी भागवत)	30.00
सुदामा चरित	20.00
रामायण	
श्रीरामचरितमानस (तीन भागोंमें)	1000.00
अध्यात्म रामायण	250.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	30.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	400.00
भक्ति एवं साधना	
विष्णु पुराण	.00
भक्ति एवं लीला	10.00
नाम महिमा	25.00
भगवन्नाम	10.00
शरण	10.00
प्रार्थना	10.00
नारद भक्ति दर्शन	100.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	35.00
अवतार रहस्य	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	30.00
शिव संकल्प सूक्त	50.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	10.00
मोहनकी मोहनी	20.00
ध्यानके समय	20.00
हनुमत्स्तोत्र	30.00
सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	40.00
साधन विचार	50.00
मंत्र विज्ञान	30.00
योगदर्शन	100.00
भगवान्‌के पाँच अवतार	50.00
विष्णु सहस्रनाम	65.00
भक्त-चरित	15.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

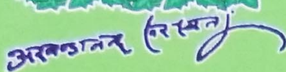
'विपुल' 28/16 बी.जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055 (समय 11 से 6 बजे तक) मो. : 09619858361

शाखा कार्यालय : श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील

वृन्दावन-281121, फोन : (0565) 3205722, मो. : 09837219460

अपरोक्षानुभूति



ग्रन्थ हाथमें आते ही पाठकको स्वाभाविक रूपसे यह जिज्ञासा होती है कि यह ग्रन्थ किसके लिए लिखा गया है, इसमें क्या विषय है, इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषयसे क्या सम्बन्ध है और यह क्यों लिखा गया? यही अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन अनुबन्ध-चतुष्टय कहे जाते हैं।

विद्वानोंके अनुभव-द्वारा प्रमाणित यह 'अपरोक्षानुभूति' मोक्षकी सिद्धिके लिए कही जा रही है। सज्जनोंके द्वारा यह प्रयत्नपूर्वक बार-बार देखने-पढ़ने योग्य है।



आनन्दकानन प्रेस